

अहा ! कैसे थे वे उत्तम मुनिवर ! पाठक, यह वर्णन पढ़कर उन निर्गन्ध मुनिवरो की भव्यता, महानता और उनके परमेष्ठि पद की सार्थकता का दर्शन कर सकेंगे । और एक वार तो अपने वर्त्तमान को भूल कर भूतकाल के भव्य धर्म-राम में विचरण करने लगेंगे । किन्तु ज्यों ही उनका ध्यान वर्त्तमान दशा की ओर जायगा—वे निराश होंगे । उनके मन में भी भूत को वर्त्तमान में देखने की भावना होगी । जिस समाज के महामानवों ने पुनरुद्धार के वाद, गत शताब्दि तक अनगार धर्म की विशेषता एवं महत्व को कायम रक्खा, वह गत ३०।४० वर्षों में कितना बदल गया ? यह उववाइय सूत्र और उसका अनगार वर्णन, हमारे सामने सरलतम कसौटी है । इस पर खूब मनन होना चाहिए । यह वह शब्द चित्र है जो हमें अपने आराध्य गुरुवर्ग की महानता समझाने के लिए तत्पर है ।

उपपात वर्णन के बाद सिद्ध होनेवाली महान् आत्माओं की, सिद्ध होने के समय की विशुद्धिकारक प्रक्रिया और अंत में २२ गाथाओं द्वारा सिद्ध स्वरूप बताया गया है ।

इस सूत्र में भ० महावीर की देशना में श्रावकधर्म, श्रमणधर्म और उसकी आराधना के फल का सरल और स्पष्ट वर्णन है । देश साधना और सर्व साधना से लगाकर, सिद्ध होने तक का तथा सिद्ध स्वरूप का निदर्शन किया गया है । इस प्रकार इस सूत्र की वस्तु भव्य एवं मनोरम है ।

यों तो यह सूत्र स्व. आगमोद्धारक आचार्य पूज्यश्री अमोलकऋषिजी म. अनुवादित आगम-बत्तीसी में सानुवाद प्रकाशित हुआ है और अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से भी प्रकाशित हुआ है, किन्तु समाज के उपासक-वर्ग में इसके स्वाध्याय की प्रवृत्ति नहीं के बराबर है । अतएव समाज में स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए सघ ने यह प्रकाशन किया है ।

इसका अनुवाद आत्मार्थी पं. मुनि श्री उमेशचद्रजी म. 'अणु' ने किया है । मुनिश्री की आगमरुचि अभिनन्दनीय है । इस अनुवाद में आपने टीका का आधार लिया है और पाठकों की सरलता के लिए स्थान स्थान पर टिप्पणियाँ दी हैं । इसमें पाठभेद भी बहुत है, जिससे लिखते समय कई प्रकार की उलझने खड़ी होती है । मुनिश्री ने उन उलझनों को पार करते हुए इस अनुवाद को पूर्ण किया है । आजतक की आवृत्तियों में यह आवृत्ति विशेष उपयोगी सिद्ध होगी—ऐसा हमारा दृढ विश्वास है । इसके पूर्व मुनिश्री ने सूयगडाग सूत्र का अनुवाद किया था, जो सघ द्वारा प्रकाशित हुआ था । आज वह अनु-पलब्ध है और उसकी माँग बनी हुई है । यथासमय उसकी सशोधित द्वितीयावृत्ति भी प्रकाशित करने का विचार है ।

मुनिराज श्री ने इस अनुवाद को वि. स. २०१६ भाद्र-पद कृ ५ को पूर्ण किया था । यह अनुवाद सैलाना चातुर्मास

की स्मृतिरूप है। हमारी कठिनाइयों के कारण इसका प्रकाशन अब हुआ है। इस अनुवाद को प. श्री घेवरचदजी सा. वांठिया वीरपुत्र (वर्तमान श्री वीरपुत्रजी महाराज सा.) ने, स्थानकवासी जैन समाज के आदर्श सयमी सत बहुश्रुत प मुनिराज श्रीसमर्थ-मलजी म. सा. को सुनाया और सशोधन किया। इस प्रकार यह प्रकाशन प्रामाणिक बन गया है। इसके प्रूफ सशोधन में सावधानी रखते हुए भी दृष्टिदोष से अशुद्धियां रह गई हैं। कुछ अशुद्धियां प्रेस मशीन पर पहुँचने के बाद हुई हैं, जिनका शुद्धि पत्र दिया गया है। इनके सिवाय भी अशुद्धियां रह गई हों, तो पाठक सुधारलेंगे और हमें सूचित करने की कृपा करेंगे।

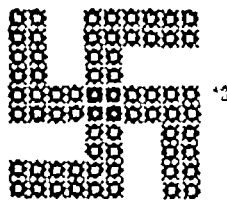
इसके प्रकाशन खर्च में सघ को, श्रीमान् सेठ तेजराजजी साहव बोरुदिया, जसनगर (केरिद) मारवाड़ (व्यावसायिक निवास स्थान बागबाहरा (म. प्र.) से रुपये ११११) और एक खीचन निवामी महानुभाव की ओर से भी आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। अतएव सघ आपका पूर्ण आभारी है। सघ का प्रकाशन ज्ञान प्रचार के लिए होता है। इसका मूल्य लागत के अनुसार होता है और प्राप्त मूल्य का पुन साहित्य प्रकाशन में उपयोग होता है। सघ के द्वारा प्रकाशित साहित्य का समाज में अच्छा उपयोग हुआ है और मांग बनी ही रहती है। अब सघ, भगवतीसूत्र जैसे विशाल आगम का प्रकाशन करने जा रहा है। धर्मशील धर्मबन्धुओं के उदार सहयोग से यह

बड़ा कार्य भी सरलता पूर्वक सफल होगा—यह हमारा विश्वास है ।

समाज के जिन उदार धर्म-प्रेमी महानुभावो ने संघ द्वारा आगम ज्ञान के प्रचार में सहयोग प्रदान किया है, उनके हम आभारी है । आशा है कि अन्य महानुभाव भी इस शुभकार्य में पूर्ण सहयोग प्रदान करेगे ।

ज्येष्ठ कृ. ३ स २०२०
वीर स २४८६
११-५-६३

मानकलाल पोरवाड़ एडवोकेट—अध्यक्ष	
शरवतचद भडारी	—उपाध्यक्ष
सपतराज घाड़ीवाल	”
रतनलाल डोशी	—प्रधानमन्त्री
बाबूलाल सराफ	—मन्त्री
जशवतलाल शाह	”



अस्वाध्याय

निम्न लिखित चौंतीस कारण टालकर स्वाध्याय करना चाहिये ।

आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय कालमर्यादा

- | | |
|-----------------------------------|-----------------|
| १ बड़ा तारा टूटे तो | एक प्रहर |
| २ उदय अस्त के समय लाल दिशा | जबतक रहे |
| ३ अकाल में मेघगर्जना हो तो | दो प्रहर |
| ४ " विजली चमके तो | एक प्रहर |
| ५ " विजली कड़के तो | दो प्रहर |
| ६ शुक्ल पक्ष की १-२-३ की रात | प्रहर रात्रि तक |
| ७ आकाश में यक्ष का चिन्ह हो | जबतक दिखाई दे । |
| ८-९ काली और सफेद धूंअर | जबतक रहे |
| १० आकाश मण्डल धूलि से आच्छादित हो | " |

आँदारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

११-१३ हड्डी, रक्त और मांस, ये तिर्यञ्च के ६० हाथ

के भीतर हो । मनुष्य के हों तो १०० हाथ के भीतर हो । मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो तो १२ वर्ष तक ।

१४ अशुचि की दुर्गन्ध आवे या दिखाई दे तब तक

१५ श्मशान भूमि— सौ हाथ से कम दूर हो तो

१६ चन्द्रग्रहण—खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण होतो १२ प्रहर

१७ सूर्य ग्रहण " १२ " १६ "

१८ राजा का अवसान होने पर, जबतक नया राजा घोषित न हो ।

१९ युद्ध स्थान के निकट जब तक युद्ध चले ।

२० उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो, जब तक पड़ा रहे ।

२१-२५ आषाढ़, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा दिन रात

२६-३० इन पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा "

३१-३४ प्रातः, मध्याह्न, संध्या और अर्द्ध रात्रि १-१ मुहूर्त ।

उपरोक्त अस्वाध्याय को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए । खुले मुँह नहीं बोलना तथा दीपक के उजाले में नहीं वांचना चाहिए ।

नोट—मेघ गर्जनादि में अकाल, आर्द्रा नक्षत्र से पूर्व और स्वाति के बाद का माना गया है ।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१३	द्रव्यों	द्रव्यों की
२८	६	दुब्बल	दुब्बल
४८	८	बु	बुद्ध
५३	७	पहनाकर	पहनकर
६०	५	मल	कमल
६३	७	-राग	जिन-राग
६५	५	इहमागेच्छा	इहमागच्छेज्जा
६५	१२	कुघाताओं	कुघातुओं
११६	११	वाले	वाले
१३२	१६	अणच्चासणा	अणच्चासायणा
१४५	१३	व्यथ	व्यर्थ
१५२	२४	शन्य	शुन्य
१५८	६	मीम	भीम
१६३	२	ढग	ढग

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६८	१३	म	में
१७१	१६	समए णं	समए णं समणस्स
१९७	१२	लिय	लिये
२०४	५	अञ्जगिरि	अञ्जनगिरि
२२०	२	सिला	सिलाये
२२१	१	पडिच्छियमेयं	पडिच्छियमेयं
"	"	"	"
२२६	१	ह	है
२५३	११	सवाह	संवाह
२६१	६	कुलघरक्खियाओ	कुलघररक्खियाओ
३१३	४	जसे	जैसे
३२४	१८	त	तं
३३०	१८	मणुस्णे	मणुस्से
३३१	२०	हव्वमागच्छेज्जा	हव्वमागच्छेज्जा
३६२	६	ह,	है,



विषयानुक्रमिका-

सूत्र	विषय	पृष्ठ
१	नगरी वर्णन	१
२	चैत्य वर्णन	१०
३	वनखण्ड	१६
४	अशोकवृक्ष	२२
५	शिलापट्ट	२४
६	राजा वर्णन	२६
७	रानी वर्णन	३०
८	कूणिक की भगवद्भक्ति	३२
९	भ० महावीर का वर्णन	३४
१०	भगवान् का शरीर वर्णन	३७
११	शीख-नल्ल वर्णन	३९
१२	वर्म सन्देशवाहक	५२
१३	कूणिक का परोक्ष वन्दन	५६
१४	भगवान् का आगमन	६६
१५	भगवान् के अन्तेवासी	६७

सूत्र	विषय	पृष्ठ
१५	निर्ग्रन्थो की ऋद्धि	७०
„	निर्ग्रन्थो का तप	७४
१६	स्थविरो का बाह्य-आभ्यन्तर तप	८४
१७	अनगारो के गुण	९२
„	निर्ग्रन्थो की उपमाएँ	९४
„	अनगारो का अप्रतिबन्ध विहार	९९
१८	अनगारो की तपश्चर्या	१०३
१९	बाह्य तप	१०५
२०	आभ्यन्तर तप	१२६
२१	अनगारो की सक्रियता	१५३
„	ससार सागर में तैरना	१५५
२२	देवो का आगमन	१६१
„	देवो का शरीर और शृंगार	„
२३	भवनपति देवो का वर्णन	१६६
२४	व्यतर „ „	१६७
२५	ज्योतिषी „ „	१७०
२६	वैमानिक „ „	१७१
२७	चम्पा नगरी में लोक वार्त्ता	१७३
„	भगवान् के पास जन समूह का गमन	१७७
२८	कूणिक को भगवद्चर्या का निवेदन	१८२
२९	कूणिक राजा का आदेश	१८४

सूत्र	विषय	पृष्ठ
३०	अभिवदना की तैयारी	१८६
३१	कूणिक का स्नान मर्दनादि	१९६
„	अभिवन्दना के लिए प्रस्थान	२०४
३२	कूणिक का जनता द्वारा स्वागत	२१३
„	भगवान् की पर्युषामना	२१८
३३	नुभद्रा महारानी का प्रस्थान	२२१
३४	भगवान् महावीर की धर्म-देशना	२२५
३५	सभा विमर्जन	२४०
३६	कूणिक का गमन	२४३
३७	रानियो का गमन	२४४
३८	श्रीपपातिक पृच्छा	२४५
„	कर्म बन्धन	२४८
„	असयत एकान्त सुप्त का उपपात	२५२
„	बन्दी आदि का उपपात	२५५
„	भद्र प्रकृतिवाले आदि का उपपात	२५६
„	द्वि-द्रव्यभोजी आदि का उपपात	२६२
„	वानप्रस्थ तापसी का उपपात	२६५
„	प्रव्रजित कान्दपिक आदि „	२६७
„	परिव्राजको का „	२६६
३९	अम्बड परिव्राजक के ७०० शिष्य	२७८
४०	अम्बड परिव्राजक	२८६

सूत्र	विषय	पृष्ठ
४०	अम्बड के भविष्य के भव	२९७
४१	प्रत्यनीक का उपपात	३०६
„	सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्चो का उपपात	३११
„	आजीवक	३१२
„	अत्तुक्कोसिय	३१४
„	निन्हव	३१५
„	प्रतिविरत अप्रतिविरत	३१७
„	अनारभी का	३२४
„	सर्वकाम विरत	३२८
४२	केवल समुद्घात के पुद्गल	३२६
„	केवल समुद्घात का कारण	३३३
„	केवल समुद्घात का स्वरूप	३३४
„	समुद्घात के बाद की योग प्रवृत्ति	३३८
४३	योग निरोध और सिद्धि	३४१
„	तत्रस्थित सिद्ध का स्वरूप	३४६
„	सिद्धयमान के सहननादि	३४८
„	सिद्धो का निवासस्थान	३५१
„	सिद्ध स्तवना	३५७
	परिशेष	३७०



स्वाध्याय करिये

प्रत्येक धर्म बन्धु और बहिन को नित्य स्वाध्याय करना चाहिये । स्वाध्याय से आत्मा पवित्र होती है । ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा होकर आत्माकी ज्ञान पर्याय खुलती है । श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ. २६ में कहा कि—

“सज्भाएणं भंते जीवे किं जणयइ ? सज्भाएणं नाणा-
वरणिज्जं कम्मं खवेइ” ॥१८॥

पूर्वाचार्य फरमाते है कि—

“न वि अत्थि न वि अ हो ही सज्भायसमं तवोकम्मं”

अर्थात्—स्वाध्याय के समान दूसरा कोई तप नहीं होता ।

अतएव आत्मा की पवित्रता और समाज में सम्यग्ज्ञान का विकाश करने के लिए स्वाध्याय अवश्य करे । नित्य करे ।



卐 नमो जिणाणं जियभयाणं 卐

उववाइय सुत्तं

नगरी वर्णन

१— तेणं कालेणं तेणं समएणं चम्पा नाम नयरी
होत्था । रिद्ध-त्थिमिय-समिद्धा, * पमुइय-जण-जाणवया
आइण्ण-जण-मणुस्सा हल-सयसहस्स-संकिट्ठ-विकिट्ठ-लट्ठ-
पण्णत्त-सेउसीमा कुक्कुड-संडेय-गाम-पउरा + उच्छु-जव-
सालि-कलिया गो-महिस-गवेलग-प्पभूया;

उस काल और उस समय में 'चम्पा' नामकी नगरी
थी । वह ऋद्धिवाली (= भवनादि से बढ़ती हुई कलावाली),

* पाठान्तरे—'पमुइय-जणुज्जाण-जणवया' ।

+ पाठान्तरे—...'सालिमालिणीया' ।

स्थिर (=भय से रहित होने के कारण, जनता की निवाम सम्बन्धी चञ्चलता से रहित) और समृद्ध (=व्यापारादि आजीविका के साधनों की सुलभता, प्रचुरता और व्यापकता के कारण धनधान्यादि से युक्त) थी। वहाँ नगरी-निवासी और देशवासी प्रसन्न रहते थे, अतः (वह नगरी) जन-मनुष्यों से भरपूर थी। उसके आसपास लम्बी दूर तक सैंकड़ो-हजारों अथवा लाखों (=१००×१०००=लाखों) हलो के द्वारा जोतने और बोनने से सुन्दर और योग्य बनी हुई एक मार्ग रूप सीमा से युक्त भूमि थी। (उस नगरी में) मुर्गों और तरुण साण्डों के बहुत-से समूह थे। ईख जौ और शालि से (लहलहाती हुई वहाँ की भूमि) भली लगती थी। गायों, भैंसों और भेड़ों की अधिकता थी।

टिप्पण-१ उववाइय (=आँपपातिक) में उपपात-वैक्रिय शरीर (नारक और देव) में जन्म और सिद्धि-गमन के विषय में प्रश्नोत्तर हुए हैं। यह उपाग है। आचाराग सूत्र के सत्यपरिणाम (शस्त्र-परिज्ञा) नामक पहले अध्यायन के पहले उद्देशक के 'एवमेर्गेसि नो नायं भवइ, अत्यि मे आया उववाइए ..' इत्यादि सूत्र में आत्मा के जिस उपपात भाव का निर्देश किया गया है, उसका इस अध्यायन में विस्तार किया गया है। अतः इस आशय की समीपता के कारण, यह आचाराग का उपाग कहा जाता है। (-टीकाकार)

ऐसी धारणा प्रचलित है कि अग के किसी एक विषय को लेकर, जिसमें विस्तार से उसका व्याख्यान किया गया हो, उसे उपांग कहते हैं। विभिन्न उपांगों का सम्बन्ध अगों के साथ जोड़ा जाता है। इस बात की

पुष्टि टीकाकार के उपर्युक्त कथन से भी होती है ।

२ 'उस काल. .उस समय ..' वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थ विभाग लक्षणवाले सामान्यकाल को 'उस काल' और जिसमें वह नगरी, राजा और परम तारक वर्धमान स्वामी विद्यमान थे, उस विशेष काल को 'उस समय' कहा गया है । (-टीकाकार)

३ '...नगरी थी'-जिस समय इस सूत्र का निर्माण हुआ था, उस समय में भी चम्पा नगरी विद्यमान थी; फिर भी '.. .नगरी थी'-ऐसा भूतकालिक प्रयोग क्यों किया गया ?-कारण, अवसर्पिणीकाल (= ह्रसकाल) की अपेक्षा से । क्योंकि जिस काल की कहानी कही जा रही है-उस काल की विभूति के समान, जिस समय में कहानी कही जा रही है-उस समय में विभूति नहीं थी । (-टीका०)

टीकाकार के कथन से यह सूचित होता है कि कालद्रव्य के निमित्त से द्रव्यों की अवस्था में सदा परिवर्तन होता रहता है । वस्तु क्षण मात्र भी एक-सी अवस्था में नहीं रह सकती । कुछ क्षणों के पहले ही घटित प्रसंगों के लिये भूतकालिक क्रिया का प्रयोग ही इस बात को सिद्ध कर रहा है । अतः द्रव्य की यह परिभाषा विलकुल सही है कि 'जो अपने सनातन गुणों में स्थित रहते हुए, नई-नई अवस्थाओं को धारण करे या पर्यायों में गमन करे' ।

४ 'सैकड़ों-हजारों हलो ...' इस सूत्रांश में नगरी की लोक-बहुलता और क्षेत्र-बहुलता बतलाई गई है । (-टीकाकार)

टीकाकार ने इस सूत्रांश के दो अर्थ-विकल्प और दिये हैं-

'लाखों हलो के द्वारा खेडी हुई...नहरों के द्वारा सिञ्चित क्षेत्रभूमि जिसकी सीमा में हो ऐसी' अथवा '.....खेड़ने से दूर तक मनोज्ञ बनी हुई कही गई है सेतुसीमा जिसकी ऐसी' ।

५ 'मुर्गों और.....' इस सूत्रांश से मनुष्यों का प्रमोद व्यक्त किया गया है। क्योंकि प्रमुदित लोक ही क्रीडा के लिये कुक्कुटों का पोषण करते हैं और साण्डों का (सांड रूप में) पालन करते हैं। (-टी०)

६ 'ईख.....' इस सूत्रांश से जनता के प्रमोद का कारण बताया गया है। क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं के अभाव में जन-प्रमोद ही नहीं सकता।

आयारवन्त-चेइय-जुवइ-विविह-सण्णविट्ठ-बहुला*
उक्कोडिय-गाय-गंठि- भेय- भड-तक्कर-खण्डरक्ख-रहिया^x
खेमा गिरुवद्वा;

आकारवान् (= सुन्दर शिल्प कलामय) चैत्यो (= स्मारक मन्दिरों) का और युवतियों के विविध सन्निवेशों का बाहुल्य था। श्रोतकटिको (= रिश्वतखोरो), ग्रन्थिभेदको (= गिरहकटो), भटो (= उठाईगीरो-उचक्को), तस्करो (= चोर डाकुओं) और खण्डरक्षो (= शुल्कपालो, दाणियों) के उपद्रव से रहित, क्षेम से युक्त और शासकों के अत्याचार से रहित (वह नगरी) थी।

टिप्पण-७ 'आकारवान् चैत्य' 'चैत्य' शब्द का प्रयोग शास्त्रों में अनेक अर्थों में हुआ है। जैसे कि-कहीं ज्ञान अर्थ में, कहीं जिनेश्वर देवों को जिन वृक्षों के नीचे ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उन वृक्षों के विशे-

* पाठान्तरे- 'अरिहतचेइय-जणवय-विसण्णविट्ठ बहुला' पुन पाठान्तरे- 'सुयाग-चित्त-चेइय-जूय चिइ सण्णविट्ठवहुला'।

x पाठान्तरे - 'उक्कोडिय गाह गंठिभेय . '।

षण रूप में, कहीं चौतरे सहित वृक्ष के अर्थ में, कहीं पूर्व पुरुषो के स्मारक चिन्ह के अर्थ में, कहीं इष्ट देवता की प्रतिमा के अर्थ में, कहीं उद्यान के अर्थ में और कहीं चिता पर बने हुए चरण-चिन्हो, खाम्बियों और छतरियों के अर्थ में । यहाँ पर टीकाकार ने इस शब्द का अर्थ 'देवतायतन' (= देवकुल) किया है और पाठान्तरों की व्याख्या में 'अर्हञ्चैत्य' । वस्तुतः यहाँ यह शब्द वीर या विशिष्ट पुरुषों के स्मारक-मन्दिरों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि 'युवतियों के सन्निवेश' के साथ इस पद का उल्लेख है । अत वे ऐसे स्थान होने चाहिए कि जो पूर्व पुरुषों की स्मृति में बने हुए होने पर भी, जहा विविध सासारिक प्रवृत्तियां चलती हों, कला आदि का प्रदर्शन होता रहता हो और जीवन के कड़वे-मीठे प्रसंग उपस्थित होते रहते हों, जिनका जन-संस्कार के बनाव-बिगाड में बड़ा हाथ रहता है ।

'युवतियों के सन्निवेश' का अर्थ, टीकाकार ने 'पण्य तरणियों के पाठक' किया है । 'जुवइ' और 'सण्णिविट्ठ' शब्द 'वेश्याओ के मोहल्ले'— यह अर्थ करने से पूर्व कुछ विचारणा के लिये प्रेरित करते हैं । 'पण्यतरणी' शब्द का अर्थ यह भी हो सकता है कि—'जन-साधारण के सहवास में आनेवाली ऐसी स्त्रियाँ, जो कण्ठ, रूप और कला का प्रददर्शन करती हो, इन विषयों से सम्बन्धित शिक्षण देकर, अपनी आजीविका चलाती हों— यौन सम्बन्धी शिक्षण भी देती हों और राज्यनीति में भी दखल रखती हो, या राज-शासन में कोई कार्य साधने में जिनका उपयोग होता हो ।' उनमें कई वर्ग होने की सम्भावना है । उनमें कुछ ऐसी भी हो सकती हैं, जो आजीवन पुरुष देह का भोगेच्छा से स्पर्श भी न करती हों । कुछ तरणियों को गृहवास में प्रविष्ट होने की समाज से स्वीकृति और राजाज्ञा भी प्राप्त होती थी । कइयो के जीवन में राजाज्ञा से कितने ही पुरुषों का आगमन होता था और कई विलासिनियाँ भी होंगी । उन्हे राज्य—

संरक्षण प्राप्त था। ऐसा अर्थ करने में प्राचीन चरित्रों, इतिहास और लोक कथाओं का आधार है।

८ 'रिश्वतखोर' इस सूत्रांश से उपद्रवकारियों का अभाव सूचित किया गया है। (-टीका०) राज्य का सुप्रबन्ध और जनता में बुरे सस्कारों के अभाव के साथ ही, आत्मरक्षण, आत्म-गौरव एवं सम्पन्नता युक्त तुष्टि का भी सूचन होता है।

सुभिक्षा वीसत्थ-सुहावासा अणोग-कोडि-कुटुम्बिया-
इण्ण-णिन्वुय-सुहा, नड-नट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्टिय-वेलंबय-कहग-
पवग-लासग-आडक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंब-वीणिय-अणोग-
तालायराणुचरिया; आरामुज्जाण-अगड तलाग-दीहिय-
वप्पिणि-गुणो-ववेया [नंदणवण-सन्निभ-प्पगासा +];

वहाँ भिक्षुओं के योग्य उचित भिक्षा मिलती थी; क्योंकि (विभिन्न मतावलम्बी) विश्वस्त (= निर्भय) मनुष्यों का (वहा) मुखपूर्वक निवास था और अनेक कुटुम्बियों से घनी बस्ती होने पर भी (आपस में) अगान्ति-जनक व्यवहार का अभाव होने से-सतोष होने से सभी सुख से रहते थे। (वह नगरी) नट (= नाटक करनेवाले), नत्तंकर (= नाचनेवाले, नृत्यकला-विशारद), जल्ल (= रस्सी पर चढ़कर, कला दिखलाने-

+ श्वचित् पठ्यते अर्थात् टीकाकार के कथनानुसार यह पाठ सर्व प्रतियों से अनुमोदित नहीं है। [] ऐसे कोष्ठक गत पाठों के लिये यही अभिप्राय समझना चाहिए।



वाले†), मल्ल (= कुश्ती करने वाले) मौष्टिक (= मुष्टि-प्रहार की कला में दक्ष), विडम्बक (= विदूषक), कथक (= कथावाचक), प्लवक (= उछलने वाले अथवा नदी आदि को तिरने वाले), लासक (= वीर रसोत्पादक गायार्ँ-रासक गानेवाले), आख्यायक (= शुभ-अशुभ का कथन करनेवाले), लख (= बाँस के अग्र भाग पर खेलनेवाले), मख (= चित्रपट दिखाकर आजीविका करनेवाले), तूणइल्ल (= 'तूण' नामक वाद्य को बजानेवाले), तुम्बवीणिक (= वीणावादक) और तालाचर (= ताल बजाकर भाँकी दिखलाने वाले) (इन व्यक्तियों) के द्वारा पुन पुन सेवित थी। वहाँ कई गृहवाटिकाएँ (= आराम, जिसके लताकुञ्जों में दम्पती आदि क्रीडा करते हो, ऐसे बगीचे), सार्वजनिक बगीचे (= उद्यान, उत्सव आदि में बहुजन भोग्य विपुल फूलो-वाले वृक्ष आदि से घिरे हुए भूमिखण्ड), कुएँ, तालाब, लम्बी बावडियाँ (= दीर्घिका) और जलक्यारियाँ थी। [नदन वन के समान सुगोभित थी]

उन्विद्ध-विउल्ल-गंभीर-खाय-फलिहा चक्क-गय-मुसुंढि-ओरोह-सयगिध-जमल-कवाड-घण-दुप्पवेमा धणु-कुडिल-वंक-पागार-परिकिखत्ता कविसीसय-वट्ट-रइय-संठिय-विरायमाणा,

† जल्ल शब्द का अन्यकृत अर्थ—राजा की प्रशंसा के गीत स्तोत्र पढ़ने वाले।

अट्टालय-चरिय-दार-गोपुर-तोरण-उण्णय-सुविभक्त-रायमग्गा छेयायरिय-रइय-दढ-फलिह-इंदकीला;

वह नगरी ऊँची, विस्तीर्ण, गहरी और ऊपर से चौड़ी लवाई से युक्त थी। (जिसमें) चक्र, गदा, मुमुण्ठ (= वटुक जैसा शस्त्र विशेष), अवरोध (= अन्तर प्राकार-टी० या नगर द्वार के सामने शत्रु-सेना के हाथियों आदि को रोकने के लिए बने हुए मजबूत साधन), शतघ्नी (= ऐसी महायण्टि या महाशिला, जिसके गिराये जाने पर सैकड़ों मनुष्य मर जाते हैं) और दरवाजे के निश्छिद्र कपाट-युगल के कारण, (शत्रुओं का) प्रवेश करना कठिन था। घनुष के समान टेढे नगर कोट (= प्राकार) से (वह नगरी) घिरी हुई थी। (उस कोट में) विशिष्ट आकार के बनाये हुए गोल 'कविसीसग' (= भीतर से शत्रुसेना को देखने के लिये या अन्य कार्य के लिये बन्दर के शिर के आकार के बने हुए छेद) शोभित हो रहे थे और (वह कोट) अट्टालक (= प्राकार के ऊपर बने हुए आश्रयस्थान), चरिक (= कोट के बीच में बना हुआ आठ हाथ चौड़ा मार्ग), द्वार (= परकोटे में बने हुए छोटे द्वार-विडकियाँ), गोपुर (= नगर द्वार) और तोरणद्वार से उन्नत था, जिससे राजमार्ग सुन्दर ढंग से विभक्त हो जाते थे। (उन द्वारों की) अर्गलाएँ और इन्द्रकील (नगर द्वार के अवयव) कुशल शिल्पाचार्य के द्वारा निर्मित हुए थे।

विवणि-वणिच्छेत्त^x-सिप्पियाइएण-निव्वुय-सुहा सिंघा-डग-
तिग-चउक्क-चच्चर-पणियावण-विविह-वत्थु-परिमंडिया
सुरम्मा,* नरवइ-पविइएण-महिइ-पहा अणेग-वर-तुरग-
मत्त-कुंजर-रह-पहकर-सीय-संदमाणीया-इएण-जाण-जुग्गा,
विमउल-णव-णल्लिणि-सोभिय-जला, पंडुर-वर-भवण-सरिण-
महिया उताण-णयण-पेच्छणिज्जा,पासादीया दरिसणिज्जा
अभिरूवा पडिरूवा । ॥१॥

हाटमार्ग, व्यापार के केन्द्र और शिल्पियो (= कुभ-
कार आदि कलाविगारद—जिनके द्वारा जनप्रयोजन की सिद्धि
होती है ऐसे कुशल कलाविदो) की विपुलता से (वहाँ) सभी
तरह से अमन-चैन था । त्रिकोण स्थान, तिराहे, चौक और
चार से अधिक मार्गों के सगमस्थान, वर्तनों की दुकानों और
विविध मकानों से सुशोभित थे—अति रमणीय थे । राजा के
गमनागमन से (दर्शनोत्सुक मनुष्यों और सवारी में चलनेवाले
मनुष्यादि के कारण) राजमार्ग में भीड़ लगी रहती थी ।
(मार्ग में) श्रेष्ठ घोड़े, मस्त हाथी, ढँकी हुई पालखियाँ
(= शिविका), पुरुष प्रमाण पालखिया (स्यदमानिका), रथों
के समूह, गाड़िया आदि यान और डोलियाँ आती-जाती

x वाचनान्तरे छेत्त शब्दस्य स्थाने छेय शब्दोऽधीयते ।

* पुस्तकान्तरेऽधीयते—‘सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-
महापहेसु पणियावण-विविह-वेस-परि-मंडिया’ ।

रहती थी—इनका जमघट लगा रहता था। विकमित कमल और नव कुमुदनियो से शोभित जलाशय (मार्ग में पडते) थे। (मार्ग के दोनो किनारो पर) (सफेदी से) धवल (बने हुए) श्रेष्ठ भवनो (की पक्तरियाँ) भव्य (लगते थे)। नगर को देखते समय आँखें ऊँची उठी हुई रह जाती थी—पलके गिरती ही नहीं थी। नगरी का देखाव चित्त को प्रसन्न करनेवाला, आँखो को लुभानेवाला, अपने में मन को रमा लेनेवाला और हृदय में बस जानेवाला था।

टिप्पण—६ 'नरवइ. पहा' इस सूत्राश के टीकाकार कृत दो और अर्थ-विकल्प—'जिसके राजा के द्वारा अन्य राजाओ की प्रभा निरन्त हो गई हो, ऐसी नगरी' अथवा 'अन्य राजाओ के द्वारा जिसके राजा की प्रभा विशेष रूप से फली हो, ऐसी नगरी'।

चैत्य वर्णन

२= तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तर-पुरत्थिमे दिसि-भाए पुण्णभदे णामं चेइए होत्था। चिराईए पुच्च-पुरिस-पणत्ते पोरारणे, सदिए वित्तिए^x णाए, सच्छत्ते सज्झए सवंटे सपडागाइपडाग-मंडिए; ● सलोम-हत्थे कय-वेयदिए, लाउल्लोइय-महिए गोसीस-सगस-रत्त-चंदण-दहर-

x 'कित्तिए' त्ति पाठान्तर।

● वाचनान्तरे—'सपडाए पडगाइपडाग-मंडिए'।

दिग्गण-पंचगुलितले, उवचिय-चंदण-कलसे चंदण-वड-सुकय-
तोरण पडिदुवार-देस-भाए, आसत्तोसत्त-विउल-वट्ट-वग्घारिय
मल्ल-दाम-कलावे;

उस चम्पा नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा के भाग में 'पूर्णभद्र' नामका चैत्य (= व्यतरायतन) था। वह बहुत काल पहले का बना हुआ था। गये काल में हुए मनुष्य भी उसकी प्राचीनता के बखान किया करते थे। उसकी प्रशंसा के गीत बह चुके थे। उस चैत्य की (चढावे आदि में आई हुई) सम्पत्ति थी। (योग्य निर्णायकता के कारण वह) न्याय-शील था। वह छत्र, ध्वज, घण्टा, पताका और अतिपताका (= छोटी पताका से ऊपर उठी हुई बड़ी पताका) से मण्डित था। वहाँ रोममय पीछियाँ थी, वेदिका बनी हुई थी, भूमि गोबर आदि से लीपी हुई थी और भीतें खडो-चूने आदि से भव्य बनी हुई थी। (भीतों पर) गोरौचन और सरस रक्त चदन के पाँचों अगुली और हथेली सहित (हाथ की) छापें लगाई गई थी। चन्दनकलश (= मंगलघट) रखे हुए थे। प्रत्येक द्वार के देशभाग चदनघट और तोरणों से युक्त थे वहाँ भूमि और छत को छूती हुई विस्तृत गोल और लम्बी फूलमालाओं का समूह (अलङ्करण) था।

टिप्पण-१ 'सद्वि' पदका दीर्घाकार-कृत अर्थ-अच्छ अर्थात् प्रसिद्धि, जिसकी प्रसिद्धि होगई ही उसे 'शब्दित' कहते हैं।
२ 'वित्ति' और 'णाए' पदों के अर्थ-विकल्प-...

वृत्तिद = आश्रित लोगो को जो वृत्ति (= आजीविका) देता है ।
 ज्ञात = अनुभव में आई हुई उसकी प्रसन्नता से लोगों के द्वारा
 जिसकी सामर्थ्य जानी गई हो । (-टी०)

३ 'लाउल्लोइय-महिए' पद का निम्न आशय का अर्थ भी संभव है—
 'लाइय' = भूमि और भीतो के योग्य उपलेपन से और 'उल्लोइय' =
 चदोवे आदि छत की सजावट से, 'महिए' = वह चैत्य भव्य लगता था ।

पंच-वण-सरस-सुगहि-मुक्क-पुप्फ-पुंजोवयार-कल्लिए कालागुरु-
 पवर-कुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-मघ-मघंत-गंधुद्धुयाभिरामे सुगंध-वर
 -गंध गंधिए गंधवट्टिभूए, नड-नट्टग-जल्ल-मल्ल-मुट्टिय-वेलंवय
 -पवग-कहग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंव-वीणिय
 -भुयग-मागह-परिगए, बहुजण-जाणवयस्स विस्सुय-कित्तिए,
 बहुजणस्म * आहुस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे
 वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे,
 कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे
 दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सणिणहिय-पाडिहेरे जाग-सहस्स-भाग
 -पडिच्छए * बहुजणो अच्चेइ आगम्म पुण्णभदं चेइयं
 पुण्णभदं चेइयं ।

वह चैत्य पचरगी सरस सुगन्धित, ढेर के ढेर डाले
 गये फूलों की पूजा से कलित (= शोभित) था । काले अगर,

* क्वचिदिदं न दृश्यते-टी० ।

x वाचनान्तरे-‘यागभागदाय सहस्स पडिच्छए’ ।

श्रेष्ठ कुदुसक और तुरुसक के घूप की महक से युक्त गध के द्वारा (वातावरण) अभिराम (= मनोरम) बना रहता था। सुगध से सुवासित रहता था। महक को लपटे उठा करती थी—सुगधित घुएँ की इतनी प्रचुरता थी कि जिससे (गध की) गोल गुटिकाएँ (= छल्ले) बन रही थी। वह चैत्य नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मोष्टिक, विदूषक (= हास्यकला-मर्मज्ञ), प्लवक (= तैराक या वानरचेष्टा करनेवाले) कथावाचक (= कथक), रासको के आलपक, भविष्य भाखनेवाले, बाँस के अग्रभाग पर खेलनेवाले, देवता-वीर आदि से सम्बन्धित चित्रपट दिखलानेवाले, तुनतुनी वजानेवाले, वीणा-वादक, भुजग-भोगि या भोजक-पुजारी (= भूयग) और मागध (= भाट, यशोगान के गायको) से पूरा भरा रहता था। बहुत से पुर-निवासियो और देश-निवासियो में उसकी कीर्ति कर्ण-परम्परा से फैली हुई थी। बहुत से नागरिको-आहोता (= दानियो-पूजको) के लिये (वह) आह्वान करने योग्य, विशिष्ट रीतियो से आह्वान करने योग्य, चन्दन आदि सुगधित द्रव्यो से अर्चना करने योग्य, स्तुतियो से वदना करने योग्य, अगो को भुक्काकर नमस्कार करने योग्य, फूलो से पूजने योग्य, वस्त्रो से सत्कार करने योग्य, मन से आदर देने योग्य, कल्याण-मगल-देव और इष्टदेव रूप (में मानकर) विनय सहित पर्युपासना करने योग्य, दिव्य सत्य, (वाँछित) उपायो को सत्य बनाने वाला, सेवा को निष्फल नहीं जाने देनेवाला, दिव्य प्रातिहार्य



(= अतिशय, अतीन्द्रिय कार्य) में यवन और हजारों प्रकार की पूजा को चाहनेवाला था। बहुजन पूर्णभद्र चैत्य पर आ-आकर के अर्चना करते थे।

टिप्पण-४ 'पुण्णभद् चेइय पुण्णभद् चेइय । इति अत्र द्विवचनं भक्ति-सम्भ्रम-विवक्षयेति । अर्थात् 'पुण्णभद् चेइय' इस पद की पुनरावृत्ति जनता की भक्ति के आवेश को दर्शाती है।

५ इस सूत्र में चैत्य की स्थिति, उसका होनेवाला उपयोग और उसके प्रति जनसमाज की भावना का वर्णन किया गया है। प्रायः उस व्यतरायतन में, विविध कारणों से लोगों की बहुत ही आस्था थी। उनकी दृष्टि के अनुसार उनके लिये वह पूजनीय-घञ्चनीय और सत्य आदि था। अतः यह सूत्र 'बहुजन' की दृष्टि की और नयेतमात्र कह रहा है—सूत्रकार की दृष्टि का इसके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस बात की पुष्टि 'बहुजणजाणवयस्स' 'बहुजणस्स आहुस्स' सूत्रांशों से भी होती है।

शका-सूत्रकार जब उस दृष्टि से सहमत नहीं हैं, तब फिर उमका इतना लम्बा, अलकृत भाषा में आँखों के सामने बँसा ही वृक्ष खटा करने की क्या आवश्यकता थी?—'जँमा हो बँसा' वर्णन करना, सूत्रकार को इष्ट हो सकता है। किन्तु ऐसे वर्णनों को किस ध्यान—किस भावना के अन्तर्गत गिनें? क्योंकि वीतराग-मार्ग वही स्वाध्याय-ध्यान उत्तम और फलदायी है, जो वीतरागता का पोषक हो। क्या यह विक्रिया-सन्मार्ग से विचलित करनेवाला कथन—नहीं है?

समाधान-पहली बात, इस स्थान का वर्णन इसलिए हुआ है कि भगवान् महावीर देव का वहाँ पदार्पण होगा। शासन-नायक के ध्यान रूप गुप्त पतले तागे में ये सूत्ररूप मणि पिरोये गये हैं। अतः वर्णन में तटस्थवृत्ति का निर्माण हो रहा है। रसमय वर्णन करते हुए भी सूत्रकार

की उदासीन—मध्यस्थ दृष्टि, अक्रुश का कार्य करती हुई स्पष्ट झलक रही है। दूसरी बात, अलकृत भाषा में हूबहू वर्णन करने का यह आशय स्पष्ट होता है, कि भगवान् महावीर देव अपने निवास के लिये कैसे स्थान चुनते थे और उसमें कौन-सा ध्येय गर्भित होता था—यह स्पष्ट हो जाय। तीसरी बात, विषय—वर्णन मात्र से ध्यान और सद्भावना का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु विषय—वर्णन के लक्ष्य, ढलाव और विचारक—ध्याता की वृत्ति से विशेष सम्बन्ध है। ध्यान और अनुप्रेक्षा के, नरक और स्वर्ग, शृंगार और वैराग्य, नृशस और करुण, कठोर और कोमल, दूषण और भूषण, ससार और अपवर्ग—आदि सभी विषय और प्रसंग आधार हो सकते हैं—कायम रहना चाहिए, जिन-आज्ञा का भान और उदासीन तटस्थ वृत्ति। ऐसा हो, तभी आत्म-समाधि, आवेश-रहित दशा स्थिर रह सकती है और तभी वे विचार शान्तरस के स्थायी भाव बन सकते हैं। रसवृत्ति जागृत होते ही उदासीन वृत्ति—आत्मभान गायब हो जाता है और जिन-आज्ञा का विस्मरण। आकुलता बढ़ती है। अतः वे विचार, उत्पन्न होने वाले विकारी भावों के अनुसार, शृंगारादि रसों का नाम धारण करते हैं और विकथा बन जाते हैं, आर्त्त-रौद्र ध्यान की गिनती में चले जाते हैं। इस सूत्र में लोगो की भूलभूलैया में फँसी भावना के प्रति सूत्रकार की करुणा का दर्शन हो रहा है और 'बहुजन के लिये' 'पुजारियों के लिये' आदि पदों से और जनता के आवेश के वर्णन से, जनभावना और जिन-आज्ञा का विलगाव किया गया है, अतः विकथा नहीं। कीचड से निकलने के लिये होने वाला कीचड का मर्दन, पक-जोडा नहीं, किन्तु पक-तरण है।



वनखण्ड वर्णन

३— से णं पुण्णभदे चेइए एककेणं महया वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते । से एां वणसंडे किएहे किएहोभासे, नीले नीलोभासे, हरिए हरिओभासे, सीए सीओभासे, णिद्धे णिद्धोभासे, तिब्बे तिब्बोभासे; किएहे किएहच्छाए, नीले नीलच्छाए, हरिए हरियच्छाए, सीए सीयच्छाए, णिद्धे णिद्धच्छाए, तिब्बे तिब्बच्छाए, घण-कडिअ-कडिच्छाए; रम्मे महामेह णिकुरंयभूए ।

वह पूर्णभद्र चैत्य (=व्यतरायतन) एक बहुत बड़े वनखण्ड से, दिशा-विदिशा में चारो ओर से घिरा हुआ था । उस वनखण्ड का अवभास (=ज्ञाकी) और छाया (=काति, दीप्ति) काली, नीली, हरी, शीतल, स्निग्ध (=चमकीली), और तीव्र (=इन्द्रियोत्तेजक) थी । वह स्वयं भी इन गुणो से युक्त था । वह शाखाओ के परस्पर चटाई के समान गुंथ जाने के कारण, घनी छाँह से युक्त था । उसका (दृश्य) महामेघ की घिरी हुई घटा के समान रम्य था ।

टिप्पण—१ दृश्य के वर्णन में 'कृष्ण' आदि शब्द दुबारा आये हैं । किन्तु इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है । क्योंकि वे शब्द पहली बार 'अवभास' के और दूसरी बार छाया के विशेषण के रूप में आये हैं (-टी) और उन विशेषण युक्त पदों के पहले आये हुए 'कृष्ण' आदि वनखण्ड के विशेषण कार्य-कारण भाव के सूचक हैं ।

२ 'अवभास' और 'छाया' के छह विशेषण हैं। जिनके तीन, दो और एक के तीन वर्ग बन जाते हैं। पहला वर्ग चाक्षुष्-अनुभूति, दूसरा वर्ग अचाक्षुष्-अनुभूति और तीसरा एक विशेषण मिश्रअनुभूति के विषय में है।

वृक्ष-जाति की विविधता और पत्तों की वय-विभिन्नता के अनु-सार, दूर से प्रदेशान्तर में दिखाई देनेवाले तिरगें दृश्य का वर्णन करके, बाद में उसकी होनेवाली असर का उल्लेख किया गया है। वह असर दृश्य-दर्शन के पश्चात् मनोवेग-जनित या दृश्य की प्रभा और दीप्ति के पुद्गलो और स्पर्शनेन्द्रिय के सम्बन्ध से जनित होना संभव है।

३ 'हरितस्तु शुकपुच्छवत्, हरितालाभ इति वृद्धा.' 'शीतः स्पशपिक्षया, बल्याद्याक्रान्तत्वात् इति वृद्धा.' इन पदों की व्याख्या में, टीकाकार ने वृद्ध और निज की व्याख्या में यह अन्तर बताया है।

'छाया' की व्याख्या टीका० ने 'छाया चादित्यावरणजन्यो वस्तुविशेषः' की है।

ते णं पायवा मूलमंतो कंदमन्तो खंधमंतो तयामंतो
सालमंतो पत्रालमंतो पत्तमंतो पुष्पमंतो फलमंतो वीयमंतो •
अणुपुन्व-सुजाय-रुडल-वट्टभाव-परिणया, [एककखंधा अरोग-
साला] अरोग-साह-प्पसाह-विडिमा अरोग-नर-त्राम-सुप्प-
सारिअ-अगेज्झ-घण-विउल-वद्ध-खंधा +, अच्छिदपत्ता

● 'हरियमन्ते' त्ति क्वचिद् दृश्यते ।

+ वाचनान्तरेऽत्र स्थानेऽधिकपदान्येवं दृश्यन्ते—'पाईणपडिणायय-साला उदीणदाहिणविच्छिण्णा ओणय-नय पणय विप्पहाइय ओलम्ब पलम्ब साहप्पसाह-विडिमा अवाईणपत्ता अणुईणपत्ता' ।

अविरलपत्ता अवाईणपत्ता अणईअपत्ता णिद्धूय-जरठ-पंडु-
पत्ता, णव-हरिय-भिसंत-पत्त-भारंधकार-गंभीर-दरिसणिज्जा,
उवणिग्गय-णव-तरुण-पत्त-पल्लव-कोमल-उज्जल-चजंत-किस-
लय-सुकुमाल-पवाल-सोहिय-वरंकुरग्ग-सिहरा;

उस वन के वृक्ष मूल, कद (= जड़ों का ऊपरी हिस्सा, जहाँ फूटकर जड़ें फैलती हैं—थड़ के नीचे का भाग), स्कव, छाल, शाखा, प्रवाल (= पत्तों की अकुरित अवस्था), पत्र पुष्प, फल और बीज से सम्पन्न थे। वे क्रमशः उत्तम ढग से बढ़े हुए थे, सुन्दर थे और गोलाई में परिणत होगये थे [एक थड और अनेक शाखाएँ थी]। अनेक शाखा-प्रशाखाओं के द्वारा मध्य भागवाले या विस्तृत बने हुए थे। अनेक व्यक्तियों की पसारी हुई भुजाओं से भी न पकड़े जा सके ऐसे (उनके) सघन और मोटे बने हुए थड थे। उनके पत्ते छिद्र रहित, घने (= एक-दूसरे पर छाये हुए), अधोमुख और ईति (= स्वजातीय या विजातीय तत्त्वों से होनेवाली हानि और चूहे, टिड्डी आदि क्षुद्र जंतुओं के उपद्रव) से रहित थे। उनके पुराने-जर्जर पीले पत्ते खिरा दिये जाते थे। हरे चमकते हुए नये पत्तों के भार से, वहाँ अघेरा छाया रहता था और गभीरता दिखाई देती थी। वे वृक्ष ताजे-ताजे नये पुष्ट पत्तों, कोमल, उज्ज्वल और हिलते हुए किशलयों (= अपक्व पत्तों) और प्रवाल (= ताम्बे के-से रगवाले निकलते हुए कोमल पत्तों) से शोभित श्रेष्ठ अकुर रूप शिखर को धारण किये हुए थे।

टिप्पण-४ अर्थ-विकल्प-अर्वाहणपत्ता (= अर्वातीनपत्रा) = हवा के प्रबल झोकों को सहन करने में समर्थ-मजबूत डंठल से युक्त पत्ते वाले (-टी०) ।

शिचंचं कुसुमिया शिचंचं माइया शिचंचं लवइया शिचंचं थवइया
शिचंचं गुलइया शिचंचं गोच्छिया शिचंचं जमलिया शिचंचं
जुवलिया शिचंचं विणमिया शिचंचं पणमिया, शिचंचं कुसुमिय
-माइय-लवइय-थवइय-गुलइय-गोच्छिय-जमलिय-जुवलिय
-विणमिय-पणमिय -सुविभत्त-पिंड-मंजरि-वडिसयधरा;

उनमें कई वृक्ष बारहो मास फूलते थे, कई सदा मंजरियो से लदे रहते थे, कई नित्य पत्रभार से झूमते थे, कई हमेशा फूलों के गुच्छों से लदे रहते थे, कई पत्तों के गुच्छों से नित्य शोभित होते थे, कई गुल्मवाले थे, कई समश्रेणि रूप से सदा स्थित थे, कई नित्य युगल रूप से स्थित थे, कई फल-फूलादि के भार से सदा झुके रहते थे, कई सदा झुकने प्रारम्भ हुए हो ऐसे स्थित रहते थे और कई इन सभी गुणों से युक्त थे । वे समस्त गुणों के धारक वृक्ष, सुन्दर रूप से बने हुए लम्बों और मजरियो के सेहरे (= अवतंसक = कलंगियाँ) की सदा धारण किये रहते थे ।

सुय - बरहिण - मयण - साल - कोइल - कोहंगक - भिंगारक -
कोडलक - जीवंजीवक - गंदीमुह - कपिल - पिंगलकख - कारंड - चक -
वाय - कलहंस - सारस - अणोग - सउणगण - मिहुण - विरइय - सहुण -

इय-महुर-सर-णाइए सुरम्मे, संपिंडिय-दरिय-भमर-महुकरि-
 पहकर-परिलिन्त -मत्त-छप्पय-कुसुमासव-लोल-महुर - गुम-
 गुमंत-गुंजंत-देसभागे,अठभंतर-पुप्फ-फले-वाहिर-पत्तोच्छरणो,
 पत्तेहि य पुप्फेहि य उच्छरण-पडिवलिच्छरणो [साउफले^६
 निरोयए अकंटए णाणाविह^x-गुच्छ-गुम्म-मंडवग-रम्म-
 सोहिए] रम्मे⁺, विचित्त-सुह-केउभूए^३ वावी-पुक्खरिणी-
 दीहियासु य सुनिवेशिय-रम्म-जालहरए ।

वह वनखण्ड शुक, मोर, मयणसाल (=मैना या कावर), कोयल, कोहगक, भिगारक, कोडलक, जीवजोवक (=चकोर), नदीमुख, कपिल, पिंगलाक्ष, कारड (=वत्तख), चक्रवाक, कलहस और सारस आदि अनेक पक्षियों के जोड़े के द्वारा विरचित शब्दों की उन्नति, और मधुर स्वरों के आलाप से प्रतिध्वनित रहता था । जिससे उसकी रम्यता बढ़ जाती थी । उन्मत्त भौरे और मधुमक्खियों (=महुकरि) के समूह एकत्रित होकर, वही लीन हो जाते थे और पुष्प-रस के लोभ से, मत्त षट्पद (=सभी जाति के भौरे) गून-गून करते हुए, इधर-उधर गुजन करते रहते थे ।

वृक्ष भीतर से फल-फूल से युक्त और बाहर से पत्तों से

६ एतानि त्रीण्यपि क्वचित् वृक्षाणा विशेषणानि दृश्यन्ते-साउ-
 फले... x क्वचित् । + क्वचिन्न दृश्यते । ३ 'वित्त सुह-सेउ-केउ
 वहुले' ति पाठान्तरम् ।

ढंके हुए थे—पत्तो और फूलो से पूरे लदे हुए थे [उनके फल मीठे थे और वे रोग-रहित निष्कटक थे । वह वनखण्ड विविध गुच्छ, गुल्म (=लताकुज), लतामण्डप आदि के द्वारा रम्य लगता था—शोभा पा रहा था] । वहाँ चौकोण बावडियो, गोलबावडियो और लम्बी बावडियो में, रग-बिरगी शुभ ध्वजाओ से युक्त, सुन्दर ढग से बने हुए रम्य जालगृह (=जालीवाले घर) थे ।

पिंडिम-णीहारिम-सुगंधि-सुह-सुरभि-मणहरं च महया गंध-
द्वृणिं मुयंता णाणाविह-गुच्छ-गुम्म-मंडवक-घरक-सुह-सेउ-
केउ-बहुला अणोग-रह-जाण-जुग-सिविय-पविमोयणा सुरम्मा
पासादीया + दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ।

वह वृक्ष समूह, दूर तक पहुँचनेवाली सुगन्धि के सञ्चित परमाणुओ की शुभ महक के द्वारा मन को हर लेता था । क्योंकि वह विपुल तृप्तिकारक सुगंधि को छोड़ता—रहता था । वहाँ विविध गुच्छ, गुल्म, मण्डप, घर, सुखप्रद मार्ग या क्यारियो की पालियाँ और ध्वजा की बहुलता थी । उसमें रथ, यान, डोलियाँ और पालखियाँ के प्रविमोचन (= ठहराने के स्थान) थे । इस प्रकार वे वृक्ष चित्त के लिये आह्लादक, नयनाभिराम, मनोरम और हृदयाकर्षक थे ।

+ 'सुरम्मा .' ति एतान्येव वृक्षविशेषणानि वनखण्ड-विशेषण-
तया वाचनान्तरेऽधीतानि ।

अशोकवृक्ष

ॐ—तस्स एं वणसंडस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एक्के असोगवरपायवे पणत्ते । कुस^० विकुस-विसुद्ध-रुक्ख-मूले मूलमंते कंदमंते जाव पविमोयणे सुरम्मे पासादीए दरिसण्णिजे अभिरूवे पडिरूवे ।

उस दनखण्ड के लगभग मध्यभाग में एक विशाल अशोकवृक्ष था । वह सुन्दर था । उसवृक्ष का मूल कुश (= दर्भ) और विकुश (= घास) आदि से रहित विशुद्ध था । उसके मूल आदि दसो अग श्रेष्ठ थे । वह सभी गुणो (यावत् प्रविमोचन तक के वनखण्ड के वृक्षो) के विषय में कथित विशेषताओ) से युक्त सुरम्य, चित्त आह्लादक . था ।

‘से णं असोग-वर-पायवे-अणोहिं बहूहिं तिलएहिं लउएहिं छत्तोवेहिं सिरीसेहिं सत्तवण्णेहिं दहिवण्णेहिं लोद्धेहिं धवेहिं चंदणेहिं अज्जुणेहिं णीवेहिं कुडएहिं कलंवेहिं सव्वेहिं फणसेहिं दाडिमेहिं सालेहिं तालेहिं तमालेहिं पियएहिं पियंगूहिं पुरोवगेहिं रायरुक्खेहिं णंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता

● अशोक-पादपवर्णके क्वचिदिदमधिकमधीयते—‘दूरोवगय कंदमूल वट्ट-लट्ट सठिय सिलिद्ध घण मसिण णिद्ध सुजाय निरुवह उव्विद्ध पवर खंधी अणगेनर पवर भुया-गेज्झो कुसुम भर समो नमंत पत्तल विसाल सालो महुकरि भमर गण गुमगुमाइय निर्लित उड्डित-सस्तिरीए णाणा सउण गण मिट्टण सुमट्टर कण्णसुह पलत्त सद महुरे’ ।

संपरिक्खित्ते । ते णं तिलया लवङ्गया जाव णंदीरुक्खा कुस-
विकुस-विसुद्ध-रुक्खमूला मूलमंतो कंदमंतो एएसिं वणञ्चओ
भाणियव्वो जाव सिविय-पविमोयणा सुरम्मा पासादीया
दरिसण्णिञ्जा अभिरूवा पडिरूवा ।

वह अशोकवृक्ष तिलक, लकुच, छत्रोप, शिरीष, सप्त-
पर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, घव, चदन, अर्जुन, नीप, कुटज, कदम्ब,
सव्य, पनस, दाडिम, शाल, ताल, तमाल, प्रियक, प्रियगु,
पुरोपग, राजवृक्ष और नदिवृक्ष—इन वृक्षों से चारों ओर से
घिरा हुआ था । वे वृक्ष भी कुश-विकुश से रहित—विशुद्ध
मूलवाले, स्वस्थ मूलवाले, कदवाले (इन वृक्षों का वर्णन
'सिविय-पविमोयणा' तक कहना चाहिए) सुरम्य, चित्त को
प्रसन्न करनेवाले दर्शनीय .. थे ।

ते णं तिलया जाव णंदिरुक्खा अण्णेहिं बहूहिं पउमलयाहिं
णागलयाहिं असोअलयाहिं चंपगलयाहिं चूयलयाहिं वण-
लयाहिं वासंतियलयाहिं अइमुत्तयलयाहिं कुंदलयाहिं साम-
लयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता । ताओ णं पउम-
लयाओ णिच्चं कुसुमियाओ जाव वडिसयधरीओ पासा-
दीयाओ दरिसण्णिञ्जाओ अभिरूवाओ पडिरूवाओ ।

वे तिलक (से लगाकर) नदि (तक के) वृक्ष अन्य
बहुत-सी पद्मलताओ, नागलताओ, अशोकलताओ (= कङ्कली),
चम्पकलताओ, सहकारलताओ वनलताओ (पीलुक), वासंती-



लताओ, अतिमुक्तकलताओ, कुदलताओ और श्यामलताओ
 (= प्रियगु) मे चारो तरफ घिरे हुए थे । वे लताएँ हमेशा
 फूलनेवाली (से लगाकर) श्रेष्ठ अकुरो के मेहरों (तरु की
 विशेषताओ) मे परिमडित चित्त-प्रसन्नकारक ... थी ।

शिलापट्टक वर्णन

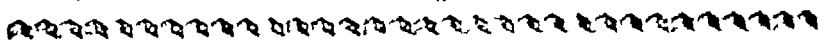
५-- तस्म णं असोगवर पायवस्स हेडा ईसि खंघ-
 समल्लीणे एत्थ णं महं एकके पुढवि-सिलापट्टए पएणत्ते ।
 विखंभायाम-उस्सेह-सुप्पमाणे, किण्हे अंजण * -घण-किवाण-
 कुवलय-हलधर-कोसेज्जागास-केस-कज्जलंगी -खंजण -सिंगभेद-
 रिड्डय - जंबूफल -असणक -सणबंधण-णीलुप्पल -पत्त -निकर-
 अयसि-कुसुम-प्पगासे मरगय-मसार-कलित्त-णयण-कीय-
 रासिवण्णे, णिद्धघणे अट्टसिरे आयंसय-तलोवमे सुरम्मे;
 ईहामिय-उसभ-तुरग-नर -मगर -विहग -वालग - किएणर-रु-
 सरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउम-लय-भत्तिचित्ते, आईणग-रूय-

* वाचनान्तरे पुन शिलापट्टक वर्णक किञ्चिदन्यथा वृश्यते-
 'अंजणगघण कुवलयहलधरकोसेज्जागास केस कज्जल कक्केयणिदणील-
 अयसि-कुसुमप्पगासे भिगंजण सिंगभेय-रिड्डग-णीलगुलिय-गवल-अइरेग-
 भमर-निकुरंबभूए जम्बूफल-असण-कुसुम-बंधण-नीलुप्पल-पत्त-निकर-मर-
 गय-आसासग-नयणकीय-रासिवण्णे णिद्धे रूवगपडिरुव-दरिसणिज्जे मुत्ता-
 जाल-खइयंतकम्मे' ।

बूरणवणीय-तूल-फरिसे सीहासण-संठिए, पासादीए दरि-
सणीजे अभिरूवे पडिरूवे ।

वहा उस श्रेष्ठ अशोक वृक्ष के नीचे, उसके थड़ के कुछ समीप पृथ्वी का एक बडा शिलापट्टक था । उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई उत्तम प्रमाण से युक्त थी । वह काला था । अञ्जन, मेघ, कृपाण, नीलकमल, बलदेव के वस्त्र, आकाश, केश, काजल के घर, काजली, सीग के भीतरी हिस्से, रिष्टक रत्न, जाम्बूफल, बीयक नामकी वनस्पति, सन के फूल के डठल, नीलकमल के पत्तों के समूह और अलसी के फूल के समान उसकी प्रभा थी और मरकत, इन्द्रनील मणि, कटिञ्च (=एक प्रकार के चमड़े या कमर पर बाधने के एक जात के चमड़े के कवच) और आंखों की तारा क्री राशि के समान वर्ण था । वह अति स्निग्ध, अष्टकोण, दर्पण के तले के समान (चमकीला) और सुरम्य था । ईहामृग, वृषभ, अश्व, मनुष्य, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, रुरु, सरभ (=अष्टापद), चमर, हाथी, वनलता और पद्मलता के भित्तिचित्रों से युक्त था । उसका स्पर्श आजीनक (=मृगचर्म या सुकोमल चर्मवस्त्र), रूई, बूर, मक्खन और आक की रूई के समान मृदु-कोमल था । सिंहासन के समान आकार था । चित्त प्रसन्नकारक, दर्शनीय, सुन्दर और मन से भुलाया न जा सके वैसा वह था ।





राजा वर्णन

द्वि-तत्थ णं चंपाए णयरीए कूणिए णामं गया
परिवसइ । महया- हिमवंत-महंत-मलय-मंदर-महिंद-सारे,
अच्चंत-विसुद्ध-दीह-रायकुल-वंम-सुप्पसूए णिरंतरं राय-
लक्खण-विराडअंगमंगे (* बहुज्जण-बहुमाण पूइए सच्चगुण
समिद्धे खत्तिए) मुइए मुद्धाहिसित्ते माउ-पिउ-सुजाए,

उस चम्पा नगरी में 'कूणिक' नाम का राजा रहता था । वह महाहिमवान् पर्वत के समान महान् और मलय, मेरु और महेन्द्र पर्वत के समान प्रधान था । अत्यन्त विशुद्ध, त्रिरकाल से राजकुल के रूप में प्रख्यात वंश में (उमका) खुशहाल में जन्म हुआ था । उसके अग निरन्तर राजलक्षणों में सुशो-भित थे । बहुत-से मनुष्य उसका बहुमान करते थे-पूजा करते थे । क्योंकि वह सभी गुणों से समृद्ध था-आक्रमण से जनता को वचाता (= क्षत्रिय) था । और प्रसन्न रहता था । वैधानिक रूप से राजा स्वीकार किया जा चुका था । अपने माता-पिता का योग्य पुत्र था-विनीत था ।

दयपत्ते सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे, मणुस्सिमदे
जणवयपिया जणवयपाले जणवय-पुरोहिए, सेउकरे केउकरे,
णरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसवग्घे पुरिसासीविसे-पुरिस-

* (बहुज्जण . . खत्तिए) एतानि पदानि टीकाया न दृश्यन्ते ।

पुंडरीए पुरिसवर-गंधहत्थी, अड्डे दित्ते वित्ते, विच्छिण्ण-विउल
 भवण-मयणासण-जाण-वाहणाइण्णे बहुधण-बहुजाय-रूव-
 रयते आओग-पओग-संपउत्ते, विच्छड्ढिअ-पउर-भत्तपाणे बहु-
 दासी-दास-गो-महिस-गवेलग-प्पभूए पडिपुण्ण जंत-कोस-
 कोट्टागाराउथागारे;

उसमें करुणा प्रमुख कोमल गुणों का विकास हुआ था। वह मर्यादा का कर्त्ता, की हुई मर्यादा का पालक, उपद्रव रहित अवस्था का बनानेवाला और प्राप्त हुई निरुपद्रव दशा का योग्य साधनो से स्थिर कर्त्ता था। (परम ऐश्वर्य के कारण) मनुष्यों में इन्द्र के समान था, (जनता के हित का इच्छुक होने के कारण) देश का पिता, (रक्षक होने के कारण) देश का पालक, (शान्ति करने के कारण) देश का पुरोहित, मार्ग-दर्शक, (अद्भूत कार्य करके) आदर्श स्थापित करनेवाला और अति श्रेष्ठ नर रूप निधि का मालिक या अत्यन्त श्रेष्ठ मनुष्यों का आश्रयदाता था। पुरुषों में श्रेष्ठ = प्रधान, पुरुषों में सिंह (= आतङ्क जमाने वाला)। पुरुषों में व्याघ्र (= रौद्ररूप, उग्र), पुरुषों में आशीविष-सर्प (= कोप को सफल करने की शक्तिवाला), पुरुषों में सफेद कमल (= सुखार्थियों से सेवित) और पुरुषों में गधहस्ति के समान (= विरोधी राजा रूप हाथियों का भञ्जक) था। अतः वह समृद्ध, दर्पवान् और प्रसिद्ध था। (उसके यहाँ) अनेको विशाल भवन, सोने-वैठने के आसन, यान (= रथ आदि) और वाहन (= अश्व आदि)

की अधिकता थी। बहुत सारा धन, सोना और रूपा था। वह अर्थलाभ के अनेक उपायों का प्रयोग करता रहता था। उसके यहाँ से (बहुत-से व्यक्तियों के भोजन-दान के बाद बचा हुआ या जूठन रूप) प्रचुर भोजन-पान फेंका जाता था अथवा विविध प्रकार का प्रचुर भात-पानी होता था। उसके अनेक दासी-दास थे और गायें, भैंसें और भेड़ों की बहुलता थी। सब तरह के यन्त्र, कोश (= खजाना), कोठार और शस्त्रागार भरपूर थे।

बलवं दुब्वल-पच्चामित्ते, ओह्यकंटयं निहयकंटयं मल्लिअ-
कंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं, ओह्यसत्तुं निहयसत्तुं मल्लियसत्तुं
उद्धिअसत्तुं निज्जियसत्तुं पराइअसत्तुं, ववगय-दुब्भिक्खं मारि-
भय-विप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं+ पसंत-डिंन-डमरं रज्जं
●पसासेमाणे विहरइ ।

उसके पास प्रबल सेना थी। उसने अपने राज्य के सीमान्त-प्रदेश के राजाओं या अपने पड़ोसी राजाओं को दुर्बल बना दिये थे। उसने अपने गोत्र में उत्पन्न विरोधियों समान आकाक्षियों का विनाश कर दिया था, उनकी समृद्धि का अपहरण कर लिया था, उनके मान को भग कर दिया था और उन्हें अपने देश से निकालकर, बाहर कर दिया था। अत

+ 'पसताहियडमरं' इति क्वचित्पाठः ।

● 'पसाहेमाणे' ति क्वचित्पाठः ।

उसका कोई भी गोत्रज विरोधी शेष नहीं रहा था। इसी तरह शत्रुओं का (=भिन्न गोत्रोत्पन्न विरोधियों का) भी विनाश कर दिया था, वैभव-धन छीन लिया था, मान भग कर दिया था, उन्हे देश से बाहर निकाल दिया था, अपने प्रभाव से जीत लिया था और पुन शिर न उठा सके ऐसी हालत में पहुँचा दिया था। अतः वह दुर्भिक्ष, मारि और भय से मुक्त, क्षेम (=निरुपद्रव) कल्याणमय, सुभिक्षयुक्त और विघ्न (=राजकुमारादि कृत अराजकता) से रहित राज्य का शासन करता हुआ रहता था।

टिप्पण-१ 'मुद्गए' का अर्थ-विकल्प-

निर्दोष मातृपक्ष, जैसा कि कहा है-‘मुद्गओ जो होइ जोणिसुद्धो’
अर्थात् वह ‘मुद्गय’ है जिसकी योनि (=उत्पत्ति-स्थान) शुद्ध हो।

२ धनं-गणिम-घरिम-मेय-परिच्छेद्य-भेदाच्चतुर्धा-

‘गणिमं जाईफल-फोफलाइ, घरिम तु कुंकुम-गुडाइ।

मेज्जं चोपड-लोणाइं, रयण-वत्थाइ परिच्छेज्ज ॥’

-(धर्मसंग्रह)

अर्थात् धन के गणिम, घरिम, मेय और परिच्छेद्य-ये चार प्रकार होते हैं-

(१) गणिम (= गिने जाने योग्य)-जायफल, सुपारी आदि,

(२) घरिम (= तोले जाने योग्य)-कुंकुम, गुड आदि,

(३) मेय (= मापे जाने योग्य)-तैल-घी, नमक आदि और

(४) परिच्छेद्य (= परीक्षा किये जाने योग्य) रत्न-वस्त्र आदि।



रागी वर्णन

७--तस्मिं णं क्रोणियस्म गणो धारिणी नामं
 देवी होत्था । सुकुमाल-पाणि-पाया अहीण-पडिपुण्ण-पंचि-
 दिय-सरीरा लक्खण-वंजण-गुणोव्वेत्था माणुम्माण-प्पमाण-
 पडिपुण्ण-सुजाय-सच्चंग-सुंदरंगी ससि-सोमाकार-कंत-पिय-
 दंसणा सुखा,

उम कूणिक राजा की धारिणी नाम की रानी थी ।
 उसके हाथ-पैर सुकोमल थे । पाँचो इन्द्रियाँ और शरीर (लक्षण
 की अपेक्षा से) खामियो से रहित और (स्वरूप की अपेक्षा
 से) परिपूर्ण या पवित्र था । वह (न्वन्तिक आदि) लक्षण,
 (तिल, मप आदि) व्यजन और गुणों से युक्त थी । माप,
 भार और आकार-विस्तार से परिपूर्ण और सुन्दर बने हुए
 समस्त अगोवाला उसका शरीर था । उसका आकार चंद्र के
 समान सौम्य और दर्शन कान्त और प्रिय था । इस प्रकार
 उसका रूप बहुत सुन्दर था ।

टिप्पण-१

मान-‘मनुष्य-प्रमाण, पूरे जल से भरे हुए कुण्ड में मनुष्य को
 बिठाने पर, उसमें से यदि द्रोण-प्रमाण जल बहकर निकल जाय तो उस
 मनुष्य का उचित मान’ माना जाता है । (-टी०)

चार प्रस्थ = एक आठक । चार आठक = एक द्रोण ।

एक प्रस्थ लगभग एक सेर के बराबर माना जाता है ।

उन्मान-आधे भार के बराबर जिसका बोझ हो, उसका उचित उन्मान माना जाता है । (-टी०)

प्रमाण-जिसकी ऊँचाई अपने अंगुल से एक सौ आठ अंगुल के बराबर हो, उसकी ऊँचाई योग्य मानी जाती है । -टी०

करयल-परिमिअ-पसत्थ-तिवलय-वलय-मज्झा कुंडलुल्लिहिअ
गंडलेहा * कोमुइ-रयणियर-विमल-पडिपुएण-सोम-वयणा
सिंगारागार-चारुवेसा-संगय-गय-हसिअ-भणिअ-विहिअ-
विलास-सललिअ-संलाव-णिउण-जुत्तोवयार-कुसला× पासा-
दीआदरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा-
कोणिएणं रण्णा भंभसार-पुत्तेणं सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इडे
सद्-फरिस-रस-रूव-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणु-
वभवमाणी विहरइ ।

उसकी कमर करतल-परिमित (=पतली) थी और (मध्यभाग) प्रशस्त त्रिवली (=पेट पर पडने वाली मुडी हुई तीन रेखाओं) से युक्त थी । कुण्डलो के द्वारा जिसके कपोलो-गालो की रेखा सतेज कर दी गई थी । मुख शरदपूनम के चाँद के समान विमल, परिपूर्ण और सौम्य था । शृंगार रस के आगार (=घर) के समान मुन्दर वेश था । उसकी चाल, हँसी, बोली,

* 'कुण्डलोल्लिखित पीनगडलेखे' ति पाठान्तरम् ।

× क्वचिद्विदमन्यथा वृश्यते-'सुन्दर थणजघणवयणकरचरण नयण-लावण विलास कलिया' ।

अंगचेष्टा और आंगों की चेष्टा संगत (= उचित) थीं। वह प्रमत्तता से युक्त वार्तालाप करने में निपुण थी और योग्य लोक-व्यवहार में दक्ष थी। अतः वह चित्त के लिये आकर्षक, नयनाभिराम और सौन्दर्य की प्रतिमा थी—मन में उसकी सोम्य मूर्ति-अच्छिन्त हो जाती थी। वह भभनार के पुत्र कूणिक राजा के साथ बहुत ही प्रीति रखती थी—राजा के द्वारा अप्रिय प्रसंग घाने पर भी विरक्त नहीं होती थी और इष्ट शब्द (= संगीत आदि) रूप (= नाटक आदि), गद्य (= फूल, इत्र, धूप आदि), रस (= खाद्य पदार्थ) और स्पर्श (= वस्त्रानूपण, मकान-शय्या, मर्दन, शीत-उष्णता की अनुकूलता आदि) ये पाँच तरह के मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों को बारबार भोगती हुई रहती थी।

कूणिक की भगवद्भक्ति

तस्स णं कोणिअस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउल्ल-
कय-वित्तिं भगवओ पवित्तिवाउए, भगवओ तद्देवसिअं
पवित्तिं णिवेएइ । तस्स एं पुरिसस्स बहवे अएणे पुरिसा
दिण्ण-भत्ति-भत्त-वेअणा भगवओ पवित्तिवाउआ भगवओ
तद्देवसिअं पवित्तिं निवेदेति ।

उस कूणिक राजा ने, भगवान् की (विहारादि) प्रवृत्ति को जानने के लिये, एक पुरुष को विपुल वृत्ति (= आजीविका)

देकर, नियुक्त किया था, जो भगवान् की उस दिन-सम्बन्धी (= प्रत्येक दिन की) प्रवृत्ति का, उससे निवेदन करता था । उस पुरुष के भी-बहुत-से अन्य पुरुष भगवान् की प्रवृत्ति के निवेदक थे, जिन्हें दैनिक आजीविका और भोजन रूप वेतन देकर रोक रखे थे । वे उसे भगवान् की दैवसिक प्रवृत्ति के समाचार देते थे ।

टिप्पण—'वृत्तिप्रमाणं च इदम्—अर्द्धत्रयोदश-रजत सहस्राणि, यदाह-मंडलियाणं सहस्रा पीइदानं सयसहस्रा'—अर्थात् वृत्तिका प्रमाण साढे बारह हजार रजतमुद्राएँ हैं । क्योंकि कहा है—'माण्डलिकों की ओर से (वृत्ति) हजारों की (संख्या में) और प्रीतिदान सौ-हजारों (= लाखों) की (संख्या में दिया जाता है) ।

है—तेणं कालेणं तेणं समएणं कोणिए राया भंभ-
सार-पुत्ते बाहिरियाए उवट्टाणसालाए अखेग-गणनायग-
दंडनायग-राईसर-तलवर-माडंविअ-कोडंविअ-मंति-महामंति-
गणग-दोवारिअ-अमच्च-चेड-पीढमद्-नगर-निगम-सेट्टि-सेणा-
वइ-सत्थवाह-दूय-संधिवाल-सद्धिं संपरिवुडे विहरई ।

उस काल और उस समय में भभसार का पुत्र कूणिक राजा, बाहरी सभा भवन में अनेक गणनायकों, दण्डना-यक्तो (= तत्र के रक्षको), राजाओ, युवराजाओं, तलवरों (= राजा के द्वारा सम्मान सहित दिये गये रत्नपट्टक के धारक घनिको), माडम्बिको (= दूर-दूर पर फैली हुई और बीच की

भूमि में आसपास वस्ती से रहित वस्तियों के स्वामियों), कुटुम्बों के आगेवानों, मन्त्रियों, महामन्त्रियों, गणको (=ज्योतिषियों), दौवारिकों (=प्रतिहारों या दरवानों), अमात्यों (=राज्य के अधिष्ठायकों), चेटों (=सेवकों), परिपार्ष्वकों या हजूरियों, नागरिकों, कर्मचारियों या व्यापारियों, श्रेष्ठियों (=शिर पर 'श्री' देवता के चिन्हाङ्कित स्वर्णपट्ट के धारक घनिकों), सेनापतियों, सार्थवाहों (=व्यापारियों के समूह को साथ में लेकर, व्यापारार्थ देश-विदेश में भ्रमण करनेवालों), दूतों और सन्धिपालों (=राज्य-सीमा के रक्षकों) से घिरा हुआ बैठा था।

टिप्पण—टीकागत व्याख्या और वृद्धव्याख्या में कुछ भेद—

(१) महामन्त्री—१ मन्त्रिमण्डल का प्रधान (—टी०)

२ हस्ति साधनादिक के ऊपरी (उपरिक)। (—वृ०)

(२) गणक—१ ज्योतिषी (—टी०)

२ भाण्डागारिक = भंडारी, खजाची (—वृ०)।

भगवान् महावीर का वर्णन

१०--तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं
महावीरे, आङ्गरे तित्थगरे सहसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे पुरिप्रसीहे
पुरिसवर-पुंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी, अभयदए चक्खुदए
मग्गदए सरणदए जीवदए, दीवो ताएणं सरणं गई पइड्ढा,

धम्म-वर-चाउरंत-चक्क-वड्डी अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धरे
विअड्ढच्छउमे जिणे जाणए* तिण्णे तारए मुत्ते मोयए
बुद्धे बोहए, सव्वण्णू सव्वदरिसी सिव-मयल-मरुअ-मयांत-
मक्खय-मव्वावाह-मपुणरावत्तिअं सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं
संगाविउत्तामे [अरहा जिणे केवली] ।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् (चम्पा के समीप पधारे)। वे घोर तपस्या करने से 'श्रमण' नाम से प्रसिद्ध थे। समस्त ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण 'भगवान्' कहे जाते थे। देव आदि के द्वारा उपद्रव किये जाने पर भी अपने मार्ग पर वीरता से डटे रहे, अतः देवों ने उन्हें 'महावीर' नाम से प्रतिष्ठित किये थे। (केवल ज्ञान होने पर पहले पहल श्रुतधर्म के करने वाले होने से) वे आदिकर्त्ता थे और (साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध सघ के स्थापक

* 'जिणे जाणए...' इत्यादि विशेषणानि क्वचिन्न दृश्यन्ते, दृश्यन्ते पुनरिमानि—'अरहा जिणे केवली सव्वण्णू'—अर्थात् 'जिणे' से लगाकर 'बोहए' तक के किन्हीं प्रतियों में दिखाई नहीं पड़ते और उनके स्थान पर 'अरहा जिणे केवली' ये तीन विशेष दिखाई देते हैं। (टी०) जिनका अर्थ यह है—वे अर्हन्त थे अर्थात् वे अशोकादि अष्टमहाप्रातिहार्य रूप पूजा के योग्य थे तथा उनसे कोई बात छिपी हुई नहीं थी। वे जिन थे अर्थात् राग द्वेष के विजेता थे। वे केवली थे अर्थात् शुद्ध अनन्त ज्ञानादि के धारक थे, अतएव वे सर्वज्ञ थे। 'जाणए' के स्थान पर 'जावए' आवश्यक में है।

होने के कारण) तीर्थङ्कर थे । स्वयमेव—किसी की सहायता या निमित्त के बिना ही—उन्होंने बोध प्राप्त किया था । वे पुरुषों में उत्तम थे, क्योंकि उनमें सिंह के समान शौर्य का उत्कृष्ट विकास हुआ था, पुरुषों में रहते हुए भी श्रेष्ठ सफेद कमल के समान सभी प्रकार की अशुभताएँ—मलिनताएँ, उनसे दूर रहती थी और श्रेष्ठ गृधहस्ती के समान, किसी क्षेत्र में उनके प्रविष्ट होते ही सामान्य हाथियों के समान परचक्र, दुर्भिक्ष, महामारी आदि दुरितों का विनाश हो जाता था । वे प्राणों को हरण करने में रसिक और उपद्रवों के करनेवालों को भी भयभीत नहीं करते थे अथवा सभी प्राणियों के भय को हरण करने वाली दया के धारक थे—निर्भयता के दाता थे । चक्षु के समान श्रुतज्ञान के देनेवाले थे । सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग के प्रदाता थे । उपद्रव से रहित स्थान के दायक थे और जीवन (= अमरता रूप भावप्राण के) दानी थे । वे दीपक के समान समस्त वस्तुओं के प्रकाशक अथवा द्वीप के समान ससार सागर में नाना प्रकार के दुखों की लहरों के थपेड़ों से पीड़ित व्यक्तियों के लिये आश्वासन-धैर्य के कारण रूप, अनर्थों के नाशक होने से त्राणरूप, उद्देश्य की प्राप्ति में कारण होने से शरणरूप, खराब अवस्था से उत्तम अवस्था में लानेवाली गतिरूप और ससार रूपी खड्डे में गिरते हुए प्राणियों के लिये आधार रूप थे । चार अन्तों (= तीन दिशाओं में समुद्र और उत्तर दिशा में हिमवान् पर्वत रूप किनारे) वाली

पृथ्वी के मालिक चक्रवर्ती के समान धर्म में श्रेष्ठ (अधिनायक) थे । क्योंकि वे अविस्वादक-अचूक ज्ञान के और दर्शन के धारक थे, कारण-उनके ज्ञान आदि के आवरण (ज्ञानादि गुणों को दबाने वाले कर्म) हट गये थे । (अतः निश्चय ही) राग और द्वेष को जीत लिया था । ज्ञायक भाव में रागादि के स्वरूप, उनके कारण और फल के ज्ञातृभाव में-स्थित थे । इसलिए मुक्त थे, मुक्त करनेवाले थे, समझे हुए थे, समझाने वाले थे । वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी उपद्रव से रहित, स्वाभाविक और प्रयोगजन्य चलन से रहित, नीरोग, अनन्त, सादि होते हुए भी नाश से रहित-अक्षय, बाधा-पीड़ा से रहित और जहाँ से पुनः आगमन नहीं हो ऐसे 'सिद्धिगति' नामवाले स्थान को पाने के लिये सहजभाव से (विचरण कर रहे थे) अर्थात् अभी ऐसे स्थान को प्राप्त नहीं हुए थे किन्तु उसे प्राप्त करने की प्रवृत्ति चालू थी ।

भगवान् का शरीर वर्णन

सत्त-हृत्पृस्सेहे सम-चउरंस-संठाण-संठिए वज्ज-रिसह-नाराय-
संघयणे, अणुलोम-वाउवेगे कंकग्गहणी कवोय-परिणामे
सउणि-पोस-पिडुंतरोह-परिणए पउमुप्पल गंध-सरिस-निस्सास-
सुरभि-वयणे, छवी निरायंक-उत्तम-पसत्थ- अइ-सेय-*

* पाठान्तरपक्षे-‘अतिस्सेय’- ति ।

निरुवम-पत्ते + जल्ल-मल्ल-कलंक सेय-रय-दोस वज्जिय-सरीर-
निरुवत्तेवे छाया-उज्जोइयंग-मंगे;

उनकी ऊँचाई सात हाथ की थी । आकार समचौरस (=उचित और श्रेष्ठ माप से युक्त—सुन्दर) था । उनकी हड्डियो की सयोजना अत्यन्त मजबूत थी । (अत सौन्दर्य और शक्ति का सुन्दर सयोग हुआ था) । शरीर-स्थित वायु का वेग अनुकूल था । ककपक्षी के समान गुदाशय था (अर्थात् मलोत्सर्ग-क्रिया में कोई खराबी नहीं थी या मलोत्सर्ग स्थान के अवयव नीरोग थे) । कबूतर के आहार-परिणमन की शक्ति के समान पाचन शक्ति थी । पक्षियो के समान अपान-देश निर्लेप रहता था । पीठ, अन्तर (पीठ और पेट के बीच के दोनो तरफ के हिस्से-पार्श्व) और जघाएँ विशिष्ट परिणाम वाली थी अर्थात् सुन्दर थी । पद्म (=कमल या 'पद्म' नामक गन्ध द्रव्य) और उत्पल (=नील कमल या 'उत्पलकुष्ठ' नामक गन्ध द्रव्य)की सुगन्ध के समान निश्वास से सुरभित (प्रभु का) मुख था । उनकी चमड़ी कोमल और सुन्दर थी । रोग से रहित, उत्तम, गूभ, अति सफेद और अनुपम (प्रभु की देह का मास था) अत जल्ल (=कठिन मैल), मल्ल (अल्प प्रयत्न से छूटनेवाला मैल), कलङ्क (=दाग), पसीने और रज के दोष से रहित (भगवान् का) शरीर था—उस पर मैल जम ही नहीं सकता था । अत अग—अग उज्ज्वल कान्ति से प्रकाशमान् थे ।

+ पाठान्तरेण—'तले' ति ।

शिख नख वर्णन

घण-निचिय-सुवद्ध-लक्ष्णुण्णय-कूडागार-निभ-पिंडि-अग्ग
 सिरए सामलि-बोंड-घण-निचियच्छोडिय-मिउ-विसय-पसत्थ-
 सुहुम-लक्ष्ण-सुगंध-सुन्दर-भुअमोअग्ग-भिग्ग-नेल-कज्जल-
 पहिद्ध-भमर-गण-णिद्ध णिकुरंब-निचिय-कुंचिय-पयाहिणावत्त-
 मुद्ध-सिरए दालिम-पुप्फ-प्पगास-तवण्णिज्ज-सरिस-निम्मल-
 सुणिद्ध-केसंत-केसभूमी

अत्यन्त ठोस या सघन, स्नायुओ से अच्छी तरह से बंधा हुआ, श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त, पर्वत के शिखर के समान आकार वाला और पत्थर की गोल पिण्डी के समान (भगवान् का) शिर था। सेमल वृक्ष के फल—जो कि रूई से ठोस भरा हुआ हो, उसके फटे हुए अंश से रूई बाहर निकल आई हो—उसके समान कोमल, सुलभे हुए, स्वच्छ और चमकीले या पतले—सूक्ष्म, लक्षणयुक्त सुगन्धित, सुन्दर, भुजमोचक रत्न, भृगकीट, नील-विकार, काजल और अत्यन्त हर्षित भौरे के समान काले और लटों के समूह से एकत्रित घुंघराले छल्लेदार बाल (= प्रदक्षिणावर्त) (शिरपर) थे। केश के समीप में केश के उत्पत्ति के स्थान की त्वचा दाडिम के फूल के समान प्रभायुक्त थी, लाल सोने के समान (वर्ण) निर्मल थी और उत्तम तेल से सिञ्चित-सी थी (अर्थात् चिकनाई से युक्त चमकीली थी)।

घण-निचिय-छत्तागारुत्तमंगदेसे णिव्वण-सम-लट्ट-मट्ट-चंदद्ध-
 सम-णिडाले उडुवइ-पडिपुएण सोम-वयणे, अल्लीण-पमाण-
 जुत्त-सवणे सुस्सवणे, पीण-मंसल-कवोल-देसभाए ॐ आणा-
 मिय-चाव-रइल-किएहम्मराइ-तणु-कसिण-णिद्ध-भमुहे अव-
 दालिय-पुंडरीय-णयणे कोआसिअ-धवल-पत्तलच्छे गरु-
 लायत-उज्जु-तुंग-णासे उवचिअ-सिल-प्पवाल-विंवल-
 सएणभाहरोडे, पंडुर - ससि - सअल - विमल-णिम्मल-संख-
 गोक्खीर-फेण-कुंददगरय-मुणालिआ-धवल-दंत-सेढी अखंड-
 दंते अप्फुडिअदंते अविरलदंते सुणिद्धदते सुजायदते एग-
 दंतसेढीविव अरोगदंते, हुयवहणिद्धंत-धेय-तत्त-तवणिज्ज-
 रत्त-तल-तालु-जीहे अवट्टिय-सुविभत्त-चित्त-मंसू मंसल-
 संठिय-पसत्थ-सइल-विउल-हरणूए;

उनका उत्तमाग घन, भरा हुआ और छत्राकार था ।
 ललाट श्राधे चाँद के समान, घाव आदि के चिन्ह से रहित,
 सम, मनोज्ञ और शुद्ध था । नक्षत्रों के स्वामी पूर्ण चन्द्र के
 समान सौम्य मुख था । मनोहर या सलग्न (= ठीक ढग से
 मुख के साथ जुड़े हुए) यः आलीन प्रमाण से युक्त कान थे,
 अत वे सुशोभित थे । दोनों गाल मासल और भरे हुए थे ।
 भौंहे कुछ झुके हुए घनुष के समान (टेढी) सुन्दर और काले

ॐ वाचनान्तरे तु दृश्यते-‘आणामिय चाव रइल किण्हम्मराइ
 संठिय संगय आयय सुजाय-भमुए’ ।

बादल की रेखा के समान पतली, काली और कान्ति से युक्त थी। नेत्र खिले हुए सफेद कमल के समान थे। आँखें बरौनी (= भाँपन) से युक्त धवल थी, वे इस प्रकार शोभित थी मानों कुछ भाग में पत्तों से युक्त खिले हुए कमल हो। नाक गरुड की (चोंच के) समान लम्बा, सीधा और ऊँचा था। सस्कारित-शिलाप्रवाल (= मूँगे) और बिम्बफल के समान अघरोष्ठ थे। दाँतों की श्रेणि निष्कलङ्क चन्द्रकला (या चाँद के टुकड़े), निर्मल से भी निर्मल शख, गाय के दूध, फेन, कुद के फूल, जलकण और कमलनाल के समान सफेद थी। दाँत अखण्ड, अजर्जर (= मजबूत), अविरल (= परस्पर सटे हुए, दो दाँतों के बीच का अन्तर अधिक नहीं हो ऐसे), सुस्निग्ध (= चीकने-चमकीले) और सुन्दराकार थे। एक दाँत की श्रेणि-से अनेक दाँत थे (अर्थात् दाँतों की सघनता के कारण उनकी विभाजक रेखाएँ दिखाई नहीं देती थी, अतः अनेक दाँत होते हुए एक ही दन्त की पक्ति-सी लगती थी)। तालु और जीभ के तले, अग्नि के ताप से मल-रहित, जल से धोए हुए और तपे हुए सोने के समान लाल थे। भगवान् की दाढ़ी-मूँछें कभी नहीं बढ़ती थी—सदा एक-सी रहती थी और सुन्दर ढंग से छँटी हुई-सी रम्य थी। चिबुक (= ठूड़ी) मासल, सुन्दराकार, प्रशस्त और व्याघ्र की चिबुक के समान विस्तीर्ण थी। चउरंगुल-सुप्पमाण-कंधु-वर-सरिस-ग्गीवे, वर-महिस-वराह-सीह-सदूल-उसभ-नाग-वर-पडिपुण्ण-विउल-क्खंधे जुग-सन्निभ-

पीण-रइय-पीवर-पउड्ड-सुसंठिय-सुमिलिड्ड-विसिड्ड-वण-थिर-
 सुवद्ध-संधि पुर-वर-फलिह-वट्टिय भुए भुय-ईसर-विउल-भोग-
 आदाण + पलिह-उच्छूढ-दीह-वाहू-रत्त-तलोवइय-मउअ-मंसल
 सुजाय लक्खण-पसत्थ-अच्छिद्द-जाल-पाणी पीवर- * कोमल
 वरंगुली आयंअ-तंअ-तलिण-सुइ-रुइल-णिद्ध-णक्खे चंदपाणि-
 लेहे सूरपाणिलेहे संखपाणिलेहे चक्कपाणिलेहे दिसा-
 सोत्थियअ-पाणिलेहे * चंद-सूर-संख-चक्क-दिसा-सोत्थिय-
 पाणिलेहे;

ग्रीवा श्रेष्ठ शंख समान (सुन्दर) और चार अंगुल की उत्तम प्रमाण से युक्त थी। स्कध (= खधे), श्रेष्ठ भैसे, सूअर, सिंह, बाघ, प्रधान हाथी और वृषभ (= साँढ) के (खधे के) समान प्रमाण से युक्त—सभी विशेषताओं से सम्पन्न और विशाल थे। उनके बाहू गाड़ी के जुड़े के समान (गोल और लम्बे) मोटे, देखने में सुखकर और दुर्बलता से रहित—पुष्ट पोचो (= कलाइयो) से युक्त थे, बाहू का आकार सुन्दर था, सगत था, अत वे विशिष्ट थे—घन (वायु से फूले हुए नहीं, किन्तु हृष्ट—पुष्ट), स्थिर और स्नायुओं से ठीक ढंग से

+ पाठान्तरे—'फलिह—ओच्छूढ'—त्ति।

* क्वचित् दृश्यते—पीवर वट्टिय सुजाय कोमल वरंगुली'।

× वाचनान्तरे—रवि ससिसख चक्क—सोत्थिय विभक्त सुविरइय पाणिलेहे अणोग वर लक्खणुत्तम सत्थप सुइ रइय पाणिलेहे।

बंधी हुई सन्धियों (= हड्डियों के जोड़) से युक्त थे । वे पूरे बाहू ऐसे दिखाई देते थे कि मानो इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिये फणघर ने अपना महान् देह फैलाया हो । प्रभु के हाथ के तले लाल, उन्नत, कोमल, भरे हुए, सुन्दर और शुभ लक्षणों से युक्त थे और अंगुलियों के बीच में (उन्हे मिलाने पर) छिद्र दिखाई नहीं देते थे । अंगुलियाँ पुष्ट, कोमल और श्रेष्ठ थी । (अंगुलियों) के नख ताम्बे के समान कुछ कुछ लाल, पवित्र, दीप्त और स्निग्ध अर्थात् रूक्षता से रहित थे । हाथ में चन्द्राकार, सूर्याकार, शखाकार, चक्राकार और दक्षिणावर्त स्वस्तिकाकार रेखाएँ थी । इन सभी रेखाओं के सुसगम से हाथ सुशोभित थे ।

कणग-सिलातलुज्जल-पसत्थ-समतल-उवचिय-विच्छिण्ण-
पिहल-वच्छे + सिरिवच्छंकियवच्छे अकरंडुअ-कणग-रुयय-
निम्मल-सुजाय-निरुवहय-देह-धारी अट्ट-सहस्स-पडिपुण्ण-
वर-पुरिस-लक्खण-धरे सण्णयपासे संगयपासे सुंदरपासे
सुजायपासे मिय-माह्अ-पीण-रइय-पासे

भगवान् का वक्ष (= छाती, सीना) सुवर्ण शिलातल के समान उज्ज्वल, प्रशस्त, समतल, मासल, विशाल और चौड़ा

+ वाचनान्तरे वक्षोविशेषणान्येवं दृश्यन्ते, उवचिय पुरवर कवाड-
विच्छिण्ण-पिहलवच्छे कणय सिलायलुज्जल पसत्थ समतल सिरि
वच्छे-रइयवच्छे' ।

था । उसपर 'श्रीवत्स' स्वस्तिक का चिन्ह था । मासलता के कारण पाँसलियो की हड्डिया दिखाई नहीं देती थी । स्वर्ण-काति-सा (सुनहरा) निर्मल, मनोहर और रोग के पराभव से (= आघात से) रहित (भगवान् का) देह था । जिसमें पूरे एक हजार आठ, श्रेष्ठ पुरुषो के लक्षण थे । उनके पार्श्व (= बगल) नीचे की ओर क्रमश कम घेरे वाले होगये थे, देह के प्रमाण के अनुकूल थे, सुन्दर थे, उत्तम बने हुए थे और मितमात्रिक (= न कम न ज्यादा, उचित रूप से मास से भरे हुए) पुष्ट-रम्य थे ।

उज्जुअ-सम-संहिय -जच्च -तणु -कसिण -णिद्ध -आइज्ज -लडह-
रमणिज्ज-रोम राई भस विहग सुजाय-पीण कुच्छी *भसोदरे
सुइकरणे पउमविअडणाभे गंगावत्तक पयाहिणावत्त तरंग-भंगुर-
रवि-किरण-तरुण वोहिय -अकोमायंत -पउम-गंभीर -वियड-
णाहे (-भे) साहय-सोणंद-मुसल-दप्पण-णिकरिय-वर-कणग-
च्छरु-सरिस-वर-वइर-वलिअ-मज्जे- * पमुइय-वर-तुरग-सीह-
वर-वट्टिय-कडी

(वक्ष और उदर पर) सीधे और समरूप से एक-दूसरे से मिले हुए, प्रधान, पतले, काले, स्निग्ध, मनको भानेवाले, सलावण्य (=सलौने) और रमणीय रोमो की पक्ति थी ।

* क्षसोदर-पउम-वियड-नाभि-त्ति पाठान्तरम् ।

× सीह-अइरेग वट्टिय'पाठान्तरम् ।

मत्स्य और पक्षी की-सी उत्तम और दृढ मासपेशियो से युक्त कुक्षि थी । मत्स्य का-सा उदर था । पावन इन्द्रिय थी या पेट के करण (= अत्रजाल) पावन थे । गगा के भँवर के समान, दाहिनी ओर घूमती हुई तरंगो से भगुर अर्थात् चञ्चल, सूर्य की तेज किरणो से विकसित कमल के मध्य भाग के समान गभीर और गहन नाभि थी । त्रिदंड, मूशल, सार पर चढाये हुए श्रेष्ठ स्वर्ण दर्पणक (= दर्पण-दंड) और खड्ग-मुष्टि (= मूठ) के समान श्रेष्ठ, वज्रवत् क्षीण (देह का) मध्य भाग था । रोग-शोकादि से रहित (= प्रमुदित) श्रेष्ठ अश्व और सिंह (की कटि) के समान श्रेष्ठ घेरे वाली कटि थी ।

• वर-तुरग-सुजाय-सुगुञ्ज-देसे आइरण-हउव्व शिरुवलेवे,
 वर-वारण-तुल्ल-विक्रम-विलसिय-गई गय-ससण-सुजाय-
 सन्निभोरु समुग्ग-शिमग्ग-गूढ-जाणू - एणी-कुरुविंदावत-
 वट्टाणुपुव्व-जंघे संठिय-सुसिलिड्ड-गूढ-गुप्फे सुप्पइड्डिय-
 कुम्म-चारु-चलणे * अणुपुव्व-सुसंहयंगुलीए उएणय-तणु-
 तंब-णिद्ध-णक्खे रत्तुप्पल-पत्त-मउय-सुकुमाल-कोमल-तले
 अट्ट-सहस्स-वर-पुरिस-लक्खण-धरे;

श्रेष्ठ घोडे के (गुप्ताग के) समान अच्छी तरह (गुप्त) बना हुआ उत्तम गृह्यभाग था । जातिवान् घोडे (के शरीर)

● वाचनान्तरे-पसत्य-वर-तुरग-गुञ्ज-देसे ।

* अणुपुव्व सुसाहय पीवरगुलीए-त्ति क्वचिद् दृश्यते ।

के समान (भगवान् का) शरीर लेप से लिप्त नहीं होता था । श्रेष्ठ हाथी के समान पराक्रम और विलास युक्त चाल थी । हाथी की सूँठ के समान जँघाएँ थी । गोल डिब्बे के ढक्कन के समान निमग्न और गुप्त घुटने थे । हरिणी (की जघा) के समान और 'कुरुर्विद' नामक तृण के समान तथा सूत्र बनाने के पदार्थ के समान क्रमशः उतार सहित गोल जघाएँ थी । (अथवा पिंडलियां थी) । सुन्दराकार, सुगठित और गुप्त पैर के मणिबन्ध (= टखने) थे । शुभ रीति से स्थापित (= रखे हुए), कछुए (के चरणों) के समान चरण थे । क्रमशः बड़ी-घटी हुई (या बड़ी-छोटी) (पैर की) अगुलियाँ थी । ऊँचे सठे हुए, पतले, ताम्रवर्ण और स्निग्ध (पैर के) नख थे । लाल कमल दल के समान कोमल और सुकुमार पगतलियाँ थी । (इस प्रकार की अपूर्व सौन्दर्य की राशि) देह-यष्टि में श्रेष्ठ पुरुषों के एक हजार आठ लक्षण (शोभित होते) थे ।

टिप्पण-१ 'एणीकुरुर्विद' का अन्य इस प्रकार अर्थ करते हैं- 'स्नायुओं से सम्बन्धित 'कुटिलक' नामक रोग से रहित' । (-टीका०)

(नग-नगर-मगर-सागर-चक्रकंक-वरक-मंगलंकिय-चलये
विसिद्ध-रूवे हुयवह-निद्रूम-जलिय-तडितडिय-तरुण-रवि-
किरण-सरिस-तेए;

अणासवे अममे अकिंचणे छिन्नसोए निरुवलेवे ववगय-पेम-
राग-दोस-मोहे;

निगंथस्स पवयणस्स देसए सत्थनायगे पइट्ठावए, समणग-
पई समणग-विंद-परिअट्ठए, चउतीस-बुद्ध-वयणातिसेस-पत्ते
पणतीस-सच्च-वयणातिसेस-पत्ते;)

(पर्वत, नगर, मगर, समुद्र और चक्र रूप श्रेष्ठ चिन्हों
और स्वस्तिक आदि मंगल चिन्हों से अकित चरण थे । भग-
वान् का रूप विशिष्ट था । घुएँ से रहित जाज्वल्यमान अग्नि,
फैली हुई बिजली और तरुण (= दूसरे पहर के या अभिनव)
सूर्य किरणों के समान भगवान् का तेज था ।

भगवान् ने कर्म के आत्म-प्रवेश के द्वारों को रूँद दिया
था । मेरेपन की बुद्धि त्याग दी थी । अतः उन्होंने अपनी
मालिकी में कोई भी वस्तु नहीं रखी थी । भव-प्रवाह को छेद
दिया था या (परिग्रह सज्ञा के अभाव के कारण) शोक से
रहित थे । निरुपलेप (=द्रव्य से निर्मल देहवाले और भाव से
कर्मबन्ध रूप लेप से रहित) थे । प्रेम (= मिलन के भाव),
राग (= विषयो के अनुराग), द्वेष (= अरुचि के भाव) और
मोह (= मूढता-अज्ञान के भाव) से अतीत हो चुके थे ।

निर्ग्रन्थ प्रवचन के उपदेशक, शास्ता (= आज्ञा के
प्रवर्तक), नायक और प्रतिष्ठापक (= उन उन उपायों के
द्वारा व्यवस्था करनेवाले) थे । अतः साधु-सघ के स्वामी थे
और श्रमणवृन्द के वर्द्धक (= उन्नतिकर्ता या पूर्णता की ओर
लेजाने वाले) थे । जिनवर के वचन आदि चौतीस अतिशेष
(= अतिशय = तीव्र और उत्कृष्ट पुण्योदय से-सर्वजन-हित-

द्वरता की भावना से पूर्वभव में बद्ध पुण्य के उदय से होने-
वाली, जन साधारण के लिए दुर्लभ पौद्गलिक रचनादि
विशेष) के और पैंतीस सत्य-वचन के अतिशयो के धारक थे।)

टिप्पण—(२) यह 'सूत्राश' टीकाकार के उल्लेख के अनुसार
वाचनान्तर में पठित है। किन्तु महत्त्व पूर्ण अश होने के कारण, पाद-
टिप्पण में न रखते हुए, अन्य प्रतियों के अनुसार यथास्थान रहने दिया
है। सिर्फ वाचनान्तर की सूचना के लिये कोष्ठक लगा दिया है।

(३) चौतीस-बु -वचनातिशेष = तीर्थङ्कर के चौतीस अतिशय-
(भगवान् की वाणी विशेष उपकारक होने के कारण वचन को प्रमुख
अतिशय कहा है—टीका०)।

१ भगवान् के केश, दाढ़ी—मूँछ, रोम और नख अवस्थित रहते
हैं अर्थात् वृद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं, २ नीरोग और लेप-रहित देह,
३ गोक्रीर के समान सफेद रक्त-मांस, ४ कमल और नीलकमल या
पद्म और कुण्ड नामक गन्धद्रव्य के समान सुगन्धित श्वास-प्रश्वास,
५ चर्मचक्षु से अदृश्य-प्रच्छन्न आहार-नीहार, ६ आकाशगत चक्र,
७ आकाश गत (तीन) छत्र, ८ आकाशगत श्रेष्ठ सफेद चामर, ९ आकाश
के समान स्वच्छ स्फटिक का पादपीठ सहित सिंहासन, १० छोटी-छोटी
हजारों झण्डियों से परिमण्डित इन्द्रध्वज का आगे-आगे चलना, ११ जहां-
जहां भगवान् ठहरते या बैठते हों वहां वहां उसी समय छत्र, ध्वज, घण्टा
और पताका सहित पत्र-पुष्प से लदे हुए हरेभरे अशोकवृक्ष का होना,
१२ शिरोभाग के कुछ पीछे अंधकार में भी प्रकाश करते हुए तेजोमण्डल
का होना, १३ विचरण भूमि का सम और रमणीय हो जाना, १४ कांटों
का उलटे मुख हो जाना, १५ विपरीत ऋतु का भी सुखमय स्पर्शवाली
हो जाना, १६ शीतल, सुखद और सुरभित हवा से एक योजन के भूमि-

मण्डल का पूर्णतः चारों ओर से प्रमार्जित होना, १७ उचित मेघ-फुहार से रजकण का नीचे बैठ जाना, १८ जल-स्थल में उत्पन्न हुए-से फूलों के, उनके डोंट नीचे रहें इस प्रकार घुटने प्रमाण ढेर होना, १९ अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का मिटना, २० मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का प्रकट होना, २१ मनोहर एक योजनगामी स्वर, २२ अर्द्धमागधी भाषा, २३ उस भाषा का आर्य-अनार्य, पशु-पक्षी सभी को अपनी-अपनी हितकारी, कल्याणकारी और सुखकारी भाषा में बदल जाना, २४ पूर्ववद्ध वैर और अनादिकालीन जातीय वैर को भूलकर, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च का अर्हत के चरणतले बैठकर, प्रसन्नचित्त से धर्मोपदेश सुनना, २५ अन्य दर्शन में स्थित व्यक्तियों का भी समीप में आने पर, विनयशील बन जाना, २६ वादी का अर्हत-चरणों की छाया में आने पर निरुत्तर हो जाना, २७ जहां जहां अरिहन्त भगवान् का विचरण होता है, वहां-वहां पर २५ योजन तक ईति (= क्षुद्र जन्तुओं का भय अर्थात् कृषि को हानि पहुँचाने वाले उपद्रवों) का न होना, २८ संक्रामक रोगों का या मनुष्यों को काल के गाल में ले जाने वाले निमित्तों का नहीं होना, २९ निज राज्य के सैन्य आदि का उपद्रव नहीं होना, ३० पर राज्य के सैन्यादि का उपद्रव न होना, ३१ अतिवृष्टि का अभाव, ३२ अनावृष्टि का अभाव, ३३ दुर्भिक्ष का अभाव और ३४ अनिष्ट सूचक चिन्हों और उनके द्वारा होने वाले उपद्रवों और व्याधियों का नहीं होना; यदि पहले हुई हो तो उनका शमन होना ।

इनमें से दूसरे से पाँचवे तक चार अतिशय तीर्थङ्करों के जन्म से होते हैं, इक्कीसवे से चौतीसवें तक और बारहवाँ, कुल पंदरह अतिशय घाती कर्मक्षय-जन्य है और शेष अतिशय देवकृत है । इससे भिन्न रूप में कहीं-कहीं उल्लेख दिखाई देता है, वह मतान्तर समझना चाहिए ।

(—समवायांग—टी०)

३-वाणी के पंतीस अतिशय-१ सत्कारयुक्त वचन, २ उदात्त = उच्च वचन या उच्च स्वर, ३ ग्राम्य-दोष से रहित, ४ मेघ-गर्जन के समान गंभीर, ५ प्रतिध्वनि = गुजन से युक्त, ६ सरल, ७ सगीतमय = मालकोश आदि राग से युक्त, ८ विशाल अर्थ युक्त, ९ परस्पर अविरोधी वाक्यार्थ, १० शिष्टता युक्त या अपने सिद्धांत के प्रतिपादन की सामर्थ्य से युक्त, ११ सदेह-रहित, १२ किसी के दूषण लगाने की गुजाइश से रहित, १३ हृदयप्राही-सुननेवाले को प्रिय लगनेवाले, १४ देश-कालोचित, १५ विवक्षित वस्तु-स्वरूप के अनुरूप, १६ विषयानुकूल विस्तार से युक्त और असम्बद्ध विषयो के विस्तार से रहित, १७ परस्पर सापेक्ष पदों से युक्त, १८ प्रौढ, स्त्री, बालक आदि की भूमिका के अनुसार प्रतिपादन शैली से सम्पन्न, १९ घी-गुड के समान सुखकारी, स्निग्ध-मधुर, २० किसी के मर्म-प्रकाशन से रहित, २१ मोक्ष रूप अर्थ एव श्रुतचारित्र्य रूप धर्म से सम्बद्ध होना, २२ उदारत्व-प्रतिपादक अर्थ का महान् होना अथवा शब्द और अर्थ की विशिष्ट रचना होना, २३ परनिंदा और आत्म-प्रशंसा से रहित, २४ गुणो के योग से प्रशंसित, २५ कारक, काल, वचन, लिंग आदि से सम्बन्धित दूषणों से रहित, २६ स्व-विषय में कौतूहल-वर्धक-अखण्ड जिज्ञासा-वर्द्धक, २७-२८ न तीव्र, न मद् अद्भुत प्रवाह से युक्त, २९ वक्ता के प्रति भ्रान्ति या वक्ता के मन की भ्रान्तता, विक्षेप (= कहे जाते विषय के प्रति अरुचि) और भय, रोष, अभिलाषा आदि मनोदूषण से रहित, ३० वर्णनीय वस्तु का अनेक तरह से वर्णन करने के कारण, विचित्रता से युक्त, ३१ अन्य वचनों की अपेक्षा आदर से ग्रहण किये जाने रूप विशेषता से युक्त, ३२ अलग-अलग वर्ण, पद और वाक्यों के द्वारा आकार-प्राप्त, ३३ सत्त्व-परिगृहीत (= उत्साह युक्त या बलप्रद), ३४ अपरिखेदित्व-उपदेश देते हुए थकावट अनुभव न होना, ३५ विवक्षित = कहे जानेवाले अर्थ की सम्यक् सिद्धि

किये बिना-विषय को अधूरा ही छोड़कर, वंद नहीं होनेवाले प्रवाह से युक्त (भगवान् के) वचन थे ।

पहले के सात अतिशय शब्द की अपेक्षा से कहें गये हैं श्रीर शेष अर्थ की अपेक्षा से । (-टी०)

भगवान् की दिव्यता और चमत्कारिता मात्र दिखाने के लिये इन अतिशयों की कल्पना की गई हो-ऐसी बात नहीं है । जैन-शासन में बेसिर-पैर की दैविकता और चमत्कारिता का जरा भी अवकाश नहीं है और कार्य-कारण से युक्त, जो घटनाएँ होती हैं-उनका निषेध करके, मानव के स्वरूप को वामन बनाने का ध्येय भी नहीं है । आत्मा के शुभभावों के उत्कर्ष का निमित्त पाकर, पौद्गलिक भावों में कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं और उनके द्वारा कैंसी-कैंसी प्रसंग-योजना होती है ?- जिन्हें कि अल्प-प्रमाण में कदाचित् होने के कारण, प्रायः मनुष्य अलौकिक चमत्कार या केवल कल्पना मात्र मान लेते हैं; किन्तु उन प्रसंगों के पीछे भी कार्य-कारण की दृढ़ श्रृंखला रही हुई है । वे सहसा ही अकस्मात् कहीं से टपक नहीं पड़ते और ऐसे घटना-चक्र का निर्माण उसी व्यक्तित्व के आसपास होता है-जो उन साधनों को भोगने की भावना से बिल्कुल अलिप्त हो । जैन-शासन का ध्येय, हर कथन के पीछे, वीतरागता का पोषण करना ही रहता है ।

आगासगएणं चक्केणं, अगासगएणं छत्तेणं, आगासि-
याहिं चामराहिं, * आगम-फलिआमएणं सपायवीढेणं
सीहासणेणं, धम्मज्झएणं पुरओ पकटिज्जमाणेणं (* चउद-
सहिं समणसाहस्सीहिं, छत्तीसाए अज्जिआ-साहस्सीहिं)

× आगास-भयार्हिं सेय-वर-चामराहिं-इति पाठान्तरम् ।

❁ नैतद्वीकानुगतम् ।

सद्धि संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दूइज-
माणे, सुहंसुहेणं विहरमाणे, चम्पाए णयरीए वहिया उवण-
गरगामं उवागए, चंपं नगरिं पुण्णभदं चेइअं समोसरिउं कामे ।

—आकाशवर्ती धर्मचक्र, आकाशवर्ती लीन छत्र, आकाश-
वर्ती या ऊपर उठते हुए चामर, पादपीठ (= पैर रखने की
चीकी) सहित, आकाश के समान स्वच्छ स्फटिकमय सिंहासन
और आगे-आगे चलते हुए धर्मध्वज (चीदह हजार साधु और
छत्तीस हजार आर्यिकाएँ) के साथ घिरे हुए, क्रमशः विचरते
हुए, एक गाम से दूसरे गाम को पावन करते हुए और शारी-
रिक खेद से रहित—सयम में आनेवाली बाधा-पीड़ा से रहित
विहार करते हुए, चम्पानगरी के बाहर के उपनगर (= समीप
के गाँव) में पधारे और वहाँ से चम्पानगरी के पूर्णभद्र
चैत्य में, पधारने वाले थे ।

धर्म सन्देशवाहक

१ १— तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धडे
समाणे हइतुइ-चित्त-माणंदिए पीइमाणे परम-सोमणस्सिए
हरिस-वस-विसप्पमाण-हियए एहाए कयवल्लिकम्मे कय-
फोउअ-मंगल-पायच्छित्ते सुद्धप्पवेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवर-
परिहिए, अप्पमहग्घाभरणाळंकिय-सरीरे, सयाओ गिहाओ
पडि-णिक्खमइ ।

तब भगवान् की प्रवृत्ति के निवेदक उस पुरुष ने, यह बात जानकर, हर्षित या विस्मित और सनुष्ट चित्त, आनन्दित (= किञ्चित् मुख-सौम्यता आदि भावों से समृद्ध), मन में प्रीति से युक्त, परम सुन्दर मानसिक भावों से सम्पन्न और हर्षावेश से विकसित हृदयवाला होकर, स्नान, बलिकर्म, कौतुक-मगल और प्रायश्चित्त करने के बाद, स्नान से शुद्ध बने हुए शरीर पर, मगल वस्त्रों के वेश को सुंदर ढंग से पहनाकर, थोड़े, भारवाले बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को सजाया। फिर वह अपने घर से बाहर निकला।

टिप्पण-१ 'हृदुत्तुद्ध' आदि शब्द प्रायः एकार्थक हैं। परन्तु इसमें कोई दूषण नहीं है। क्योंकि अत्यन्त प्रमोद के वश होकर स्तुति करता हुआ अथवा रोषवश निन्दा करता हुआ पुरुष जो एकार्थक शब्दों का बारम्बार उच्चारण करे वह पुनरुक्त दोष नहीं है। कहा है—

‘वक्ता हर्षभयादिभिराक्षिप्तमना स्तुर्वस्तथा निन्दन् ।
यत्पदमसकृद् ब्रूयात्तत्पुनरुक्त न दोषाय’ ॥

(—टीकाकार)

२ 'कयबलिकम्मे' सूत्राश के 'बलिकम्म' शब्द के अर्थ में तीव्र मतभेद है। एक पक्ष 'गृहदेवता को बलि (= भेंट पदार्थ) देने की क्रिया' अर्थ करता है। टीकाकार ने भी—'स्नानानन्तरं कृतं बलिकर्म स्वगृह-देवताना येन स तथा'—टिप्पण से उक्त अर्थ की पुष्टि की है। दूसरा पक्ष इसका विरोध करते हुए कहता है कि ऐसा अर्थ करने में, हम सूत्रकार के आशय से विरुद्ध जा रहे हैं। क्योंकि (१) ज्ञातासूत्र दूसरे अध्यायन में 'धन्नसत्यवाह' की स्त्री 'भद्रा' का पुत्र की इच्छा से नाग, भूत, यक्ष के पूजन का वर्णन है। उसने नगर के बाहर उद्यान में पुष्करणी

में स्नान करने का उल्लेख है, जिसमें 'कयवलिकम्मा' विशेषण भी है तो वहाँ उसने कौनसे देव की पूजा की? (२) ज्ञातासूत्र के आठवे अध्यायन में श्रीमल्लिनाथ स्वामी के 'पितृ-पद-वदना' के वर्णन में भी 'जाव' शब्द से यह पद सगृहीत है और जब 'श्रीमल्लि' छह राजाओं को प्रतिबोध देने आये, उस वर्णन में भी यह पद सगृहीत है। (३) इसी प्रकार द्रौपदी (जा. १। १६), देवानदा (भ. ६। ३३), जमाली (भ.), वर्णनाग नत्तुआ (भ. ७। ६), कठियारे के जगल में स्नान (राय प) और प्रदेशी से केशिकुमार श्रमण के प्रश्न के अधिकार में भी यह विशेषण गृहीत है, तो वहाँ कौनसे देव की पूजा का उल्लेख है? (४) 'उववाइय' के कूणिक-स्नान और 'जम्बूदीवपणत्ति' के भरत-स्नान के विस्तृत वर्णन में यह विशेषण ही नहीं है। जहा स्नान का विस्तृत वर्णन है, वहा यह पद नहीं है और जहाँ स्नान का संक्षिप्त वर्णन है वहाँ यह पद है; अतः यह स्नान का ही विशेषण है। जिसका जलाजली, गधादि विलेपन, मर्दन करना आदि अर्थ होता है। (समकितसार) पहले पक्ष का अर्थ 'बलि वंश्वदेव' क्रिया से प्रभावित-सा लगता है। दूसरे पक्ष का अर्थ 'परिकर्म' के समकक्ष की शारीरिक क्रिया की ओर संकेत करता है। यह अर्थ युक्ति-सगत है।

सयाओ गिहाओ पडिणिकखमित्ता, चंपाए णयरीए मज्झं-
मज्जेणां जेणोव कोणियस्स रण्णो गिहे, जेणोव वाहिरिया
उवट्ठाणसाला, जेणोव कूणिए राया भंभसारपुत्ते, तेणोव
उवागच्छइ उवागच्छित्ता करयल्ल-परिग्गहियं सिरसावत्तं
मत्थए अंजलिं कट्टु जएणां विज्जएणं वट्ठावेइ । वट्ठावित्ता
एवं वयासी-जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणां कंखंति, जस्स णं

देवाणुप्पिया दंसणं पीहंति, जस्स एं देवाणुप्पिया दंसणं पत्थंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं अभिलसंति, जस्स एं देवाणुप्पिया णाम-गोत्तस्स वि मवणयाए हट्ठतुट्ठ जावहिअया भवंति, से णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे, गामाणुगामं दूड्ढमाणे, चंपाए णयरीए उवणगरगामं उवा- गए, चंपं णगरिं पुण्णभदं चेइअं समोसरिउं कामे । तं एअ एं देवाणुप्पियाएां पिअट्ठयाए पिअं निवेदेमि; पिअं ते भवउ' ।

वह प्रवृत्ति निवेदक अपने घर से निकलकर, चम्पा नगरी के मध्य में होता हुआ जहा कूणिक राजा का निवास स्थान था, जहा बाहरी सभाभवन था और जहा भमसार का पुत्र कूणिक राजा (बैठा) था, वहा आया । जय-विजय से (आपकी वृद्धि हो-इस प्रकार) बधाया अर्थात् आप जय विजय करते हुए वृद्धि को प्राप्त होवे ऐसा आशीर्वाद दिया । फिर वह इस प्रकार बोला-हे देवानुप्रिय (सरल स्वभाव वाले) आप जिनके दर्शन चाहते है एव प्राप्त होने पर छोडना नही चाहते है. हे देवानुप्रिय जिनके दर्शन नही हुए हो तो पाने की इच्छा करते है, हे देवानुप्रिय जिनके दर्शन हो-ऐसे उपायो की अन्यजन से अपेक्षा करते है-अर्थात् चाहते है, हे देवानुप्रिय जिनके दर्शन के लिये अभिमुख होना सुन्दर मानते है और हे देवानुप्रिय जिनके नाम (= महावीर, ज्ञात-

पुत्र, सन्मति आदि) और गांव (= काश्यप) के गुनने माघ से हर्षित, सनुष्ट (यावत्) हर्षविण मे विकसित हृदयवाले हो जाते है-वे ही श्रमणभगवान् महावीरस्वामी, प्रमज. विचरते हुए, मार्ग मे आनेवाले गावों को पावन करने दृग्, चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में आने के लिये, चम्पानगरी के उपनगर में पधारें हैं। यह देवानुप्रिय का प्रोक्तिकर विषय होने से (या प्रीत्यर्थ = प्रमन्नता के लिये) प्रिय समाचार निवेदन कर रहा हूँ। वह आपके लिये प्रिय बने।

कृणिक का परोक्ष वन्दन

१२-तए णं से कृणिक राया भंभसागपुत्ते तस्स पवित्तिवाउअस्स अंतिए एयमद्धं सोच्चा शिगम्म हद्धतुद्ध-जावहिअए ॐ विअसिअ-वर-कमल-णयण-वयणे पअलिअ-वर-कडग-तुडिय-केऊर-मउड-कुंडल-हार-विरायंत-ग्इय-वच्छे पालंब-पलंबमाण-घोलंत-भूसण-धरे ससंभमं तुरियं चवलं नरिंदे सीहामणाउ अब्भुद्धेइ । अब्भुद्धित्ता पायपीठाउ पच्चो-रुहइ । पच्चोरुहित्ता • पाउआओ ओमुअइ । ओमुइत्ता

* धाराहय-नीव-सुरभि-कुसुम-चचुमालहअ-उच्छिय-रोमकूवे'-इदं च विशेषणं क्वचिदेव दृश्यते ।

• क्वचिदिद पादुका विशेषणं दृश्यते-वेरुतिय वरिट्ट रिट्ट अजण विउणोविय-मिसिमिसित-मणिरयण मडियाओ' ।

अवहट्टु पंच-राय-ककुहाइं, तं जहा-खग्गं १, छत्तं २, उप्फेसं
 ३, वाहणाओ ४, वालवीअणां ५, एगसाडियं उत्तरासंगं
 करेइ । करेत्ता आयंते चोक्खे परम सुइभूए अंजलि-मउलियग्ग
 हत्थे तित्थगराभिमुहे सत्तट्ठ-पयाइं अणुगच्छइ सत्तट्ठ-पयाइं
 अणुगच्छित्ता वामं जाणुं अंचेइ । वामं जाणुं अंचेत्ता दाहिणं
 जाणुं धरणितलंसि साहट्ठु, तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि
 निवेसेइ । निवेसेत्ता ईसिं पच्चुएणमइ । पच्चुएणमित्ता कडग-
 तुडिय-थंभिआओ भुआओ पडिसाहरइ । पडिसाहरित्ता
 करयल-जाव कट्ठु, एवं वयासी-

तब भभसार का पुत्र कूणिक, उस प्रवृत्ति-निवेदक से यह बात कान से सुनकर हृदय से धारण कर, बहुत प्रसन्न हुआ । श्रेष्ठ कमल के समान नेत्र और मुख विकसित होगये । (भगवान् के आगमन-श्रवण से उत्पन्न हर्षविश के कारण) कङ्कण, तुडिय (= हाथ के तोड़े), केयूर (= अगद, भुजबध), मुकुट, कुडल और हार से सुशोभित बना हुआ वक्ष कम्पित हो रहा था । लम्बी लटकती हुई माला और हिलते हुए भूषणों के धारक नरेन्द्र ससभ्रम (= आदर सहित) जल्दी-जल्दी सिंहासन से उठे । सिंहासन से उठकर, पादपोठ से (= चौकी से) नीचे उतरे । उतरकर पादुकाएँ खोली । पाच राज चिन्हों को दूर किये, यथा—१ खड्ग, २ छत्र, ३ मुकुट, ४ उपानद् (= पगरक्खी, जूते) और ५ चामर । एक साटिक उत्तरासग

किया । जल स्पर्श से मैल से रहित-अति स्वच्छ बने हुए हस्त-सम्पुट (= अञ्जली) से कमल की कली के समान आकार वाले हाथों से युक्त (अर्थात् हाथ जोड़कर) जिघर तीर्थङ्कर देव विराजमान थे उधर मुख करके, सात-आठ कदम सामने गये । बायें पैर को सकुचित किया । दायें पैर को धरतीतल पर, सकोचकर रखा और शिर को तीन बार धरती से लगाया । फिर थोड़ा-सा ऊपर उठकर कडे और तोडे से स्थिर बनी हुई भुजाओं को उठाकर, हाथ जोड़े और अजली को सिर पर लगाकर इस प्रकार बोले—

टिप्पण—१ 'उत्तरासग' शब्द के अर्थ में भी मतभेद है । एक पक्ष यह अर्थ करता है कि—'विना सिले हुए अखण्ड वस्त्र को जनेऊ की तरह देह पर लपेटना'; टीकाकार की टीका—'उत्तरासगो-वैकक्षकम्' और दूसरा पक्ष—'(उत्तर = ऊपरी, श्रेष्ठ आसंग = आवरण) विना सिले हुए अखण्ड वस्त्र (= एकसाटक-दुपट्टे) से मुख पर (जीवों की यतना के लिये) आवरण लगाना' ।

'नमोऽत्युषां अरिहंताणं भगवंताणां, आङ्गराणां तित्थगराणां
सयंसंबुद्धाणां, पुरिसुत्तमाणां पुरिससीहाणां पुरिसवरपुंडरीआणां
पुरिसवरगंधहत्थीणां, लोगुत्तमाणां लोगनाहाणां लोगहियाणां
लोगपईवाणां लोगपञ्चोअगराणां, अभयदयाणां चक्खुदयाणां
मग्गदयाणां सरणदयाणां जीवदयाणां बोहिदयाणां, धम्म-
दयाणां धम्मदेसयाणां धम्मनायगाणां धम्मसारहीणां धम्मवर-
चाउरंत-चक्कवट्ठीणां, दीवो ताणां सराणां गई पइड्ढा, अप्पडिहय-

वर-नाण-दंसण-धराणं विअट्ट-छउमाणं, जिणाणं जावयाणं,
तिण्णाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं,
सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं, सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-
मव्वावाह-मपुण्णरावित्ति-सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं संपत्ताणं ।
नमोऽथुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स तित्थ-
गरस्स...जाव संपाविउ कामस्स मम धम्मायरियस्स धम्मोव-
देसगस्स ।

वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इह गए, पासइ मे (मे से)
भगवं तत्थगए इहगयं;-ति कट्टु वंदइ णमंसइ ।

अरिहंत-इन्द्रो से पूजित या परम शक्तिमान् अथवा
कर्मशत्रु को नष्ट करने वाले ।

भगवान्-परम ऐश्वर्यशाली, परम पूज्य ।

आदिकर-आचारादि श्रुतधर्म सम्बन्धी अर्थ की आदि
के करने वाले ।

तीर्थङ्कर-जिसके द्वारा संसार समुद्र से तिरा जाय वह
तीर्थ अर्थात् प्रवचन और प्रवचन से अभिन्न होने के कारण
चतुर्विध सघरूपी तीर्थ के कर्त्ता ।

स्वयं संबुद्ध-विना किसी के उपदेश के स्वयं जन्म से
ही हेय ज्ञेय और उपादेय पदार्थों को अच्छी तरह से जानने
वाले ।

पुरुषोत्तम—ससार के सभी पुरुषों में अतिशयादि से उन्नत उत्तमोत्तम ।

पुरुषसिंह—सिंह उत्कृष्ट गौरवान माना जाता है, उसी प्रकार पुरुषों में शौर्यादि गुणों में सिंह के समान ।

पुरुषवर पुण्डरीक—जिस प्रकार पुण्डरीक मल हजार पक्षु-डियोवाला, निर्मल श्वेत रंग का श्रेष्ठ पुष्प होता है, उसी प्रकार सभी प्रकार के अशुभ मल से रहित और सभी शुभभावों—निर्मलताओं से युक्त । 'अथवा—'पुरुष' अपने आराधक जीवों के सताप रूपी ताप को दूर करने में 'वरपुण्डरीक'—श्रेष्ठ छत्र रूप ।

पुरुषवर गंधहस्ती—हाथियों में गन्धहस्ती ऐसा होता है कि जिसकी गंध से दूसरे सभी हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार गंध हस्ती की तरह श्रेष्ठ पुरुष, जिनके विहार क्षेत्र के ईति-धान्यादि की फसलों को हानि पहुँचाने वाले चूहे टोढ आदि, भीति—परचक्र भय, दुर्भिक्ष दुष्काल, लूटपाट आदि और महामरी, महारोग आदि दुरित नष्ट हो जाते हैं ।

लोकोत्तम—लोक के सभी प्राणियों में परम उत्तम ।

लोकनाथ—सच्ची भव्य प्राणियों के स्वामी । उन्हें सम्यग्-दर्शनादि के द्वारा योग क्षेम प्राप्त कराने वाले । अनाथ को नाथ बनाने वाले लोकनाथ ।

लोकहितकर—लोक के हित में निमित्त बनने वाले ।

लोक के जीवों को शाश्वत सुख प्राप्त करवाने में उत्कृष्ट सहायक ।

लोक प्रदीप—जीवों के हृदय में भरे हुए अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर ज्ञान का दीपक प्रकटाने वाले उत्तम प्रदीप ।

लोक प्रद्योतकर—सूर्य के समान । समस्त लोक और अलोक के स्वरूप को प्रकाशित करनेवाले । जीव अजीव आदि तत्त्वों के भेद प्रभेद के रहस्य को प्रकट करनेवाले ।

अभयदाता—किसी को भय नहीं देने वाले और सभी जीवों के भय को दूर करने वाली अहिंसा = अभया के धारक, प्रसारक । निर्भयता प्रदायक ।

चक्षुदाता—श्रुतज्ञान रूपी चक्षु प्रदान करके हेय ज्ञेय और उपादेय को जानने की दृष्टि खोलने वाले । जिस प्रकार किसी घनिक को भयानक अटवी में डाकुओं ने लूटकर आखों पर पट्टी बांधकर घकेल दिया हो और वह अन्धे की तरह इधर उधर भटक रहा हो, उस समय कोई उपकारी पुरुष उसके आँखों की पट्टी खोलकर रास्ते पर लगावे और इच्छित स्थान पर पहुँचा दे, तो वह उपकारी माना जाता है, उसी प्रकार ससार रूपी भयानक अटवी में भटकते हुए जीवों को ज्ञानरूपी चक्षु प्रदान कर मोक्षरूपी परम सुखमय स्थान को प्राप्त कराने वाले ।

मार्गदाता—मोक्षरूपी महानगर को प्राप्त करने के ज्ञानादि मार्ग को बताने वाले ।

शरणदाता—अनेक प्रकार के रोग, शोक, मरण और उपद्रव रूपी दुख से भरे हुए ससार से भव्य प्राणियों को निरूपद्रव एकान्त शाश्वत मुख के स्थान को प्राप्त कराने वाले ।

जीवनदाता—जन्ममरण के दुख से दूर कर शाश्वत अखण्ड जीवन प्रदान करने वाले ।

बोधिदाता—शुद्ध समझ के देने वाले । सम्यक्त्व रत्न के दाता ।

धर्मदाता—चारित्र्य रूपी धर्म का दान करने वाले ।

धर्मदेशक—श्रुत और चारित्र्य धर्म का उपदेश करनेवाले ।

धर्म नायक—धर्म रूप सघ एव तीर्थ के नायक ।

धर्म सारथि—धर्मरूपी रथ के चालक । धर्मरूपी रथ में बैठकर मोक्षनगर की ओर जाने वाले भव्यात्माओं को और धर्म रथ को रक्षापूर्वक आगे बढ़ाने वाले—कुशल रथि ।

धर्मवर चातुरंत चक्रवर्ती—जिस प्रकार तीन ओर समुद्र और एक ओर हिमाचल पर्वत पर्यन्त पृथ्वी का स्वामी 'चातुरंत चक्रवर्ती' कहलाता है, उसी प्रकार लोक में भगवान् धर्म के चातुरन्त चक्रवर्ती—एक छत्र स्वामी है । धन्य प्रवर्तको से अत्यधिक श्रेष्ठ धर्मशासक । अथवा—चतुर्गतिरूप ससार का मत करने वाले धर्मचक्रवर्ती ।

द्वीप-त्राण-सरण-गतिप्रतिष्ठारूप-संसाररूप समुद्र में डूबते हुए जीवों के लिए द्वीप के समान आश्रयभूत, तारक, शरण-

प्रद, उत्तमगति और प्रतिष्ठा रूप ।

अप्रतिहत-त्र-ज्ञान-दर्शनधर—दिवाल पर्वत आदि किसी भी प्रकार की ओट से नहीं रुकनेवाले, विशुद्ध, अविषवादी, क्षायक एव प्रधान केवलज्ञान और केवलदर्शन के धारक ।

व्यावृत्त छद्म—जिनकी छद्मस्थता—ज्ञान का आवरण नष्ट होगया, जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं ।

जिन—राग द्वेष रूपी शत्रुओं को जीत कर विजयी हुए ।

जापक—दूसरों को जिन बनाने वाले ।

तिरक—संसार समुद्र से तिरगये ।

तारक—भव्य जीवों को संसार समुद्र से तिराकर पार पहुँचाने वाले ।

बुद्ध—जीवादि तत्त्वों को संपूर्णरूप से जानने वाले ।

बोधक—भव्य जीवों को तत्त्व का बोध देने वाले ।

मुक्त—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त, अथवा संसार के मूल ऐसे मोहनीय आदि घातिकर्म से मुक्त ।

मोचक—भव्य जीवों को मुक्त करनेवाले ।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी—समस्त पदार्थों, उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्थाओं—भूत भविष्य और वर्तमान की सभी अनन्तानन्त पर्यायों को विस्तार से और सामान्यरूप से जानने वाले ।

शिव—सभी प्रकार के उपद्रवों से रहित, अचल—स्थिर नीरोग, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध (बाधा पीड़ा से रहित)

अपुनरावर्तित (जहा से फिर आना नही होता ऐसे) सिद्धिगति नामवाले स्थान को प्राप्त (शुद्धात्मा) को नमस्कार हो ।

श्रमण भगवान् महावीर, -(जो कि) आदिकर, तीर्थ-
ङ्कर (यावत्) सिद्धिगति नामवाले स्थान को पाने के इच्छुक
(= भावी सिद्ध) है, मेरे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक है (उन्हे)
नमस्कार हो ।

यहाँ पर स्थित (मे) वहाँ पर स्थित भगवान् की
वन्दना (= स्तुति) करता हूँ । वहाँ पर स्थित भगवान् यहाँ
पर स्थित मुझे देखते है ।

इस प्रकार (वह कूणिक राजा) वन्दना-नमस्कार करता है ।

टिप्पण-२ 'वदामि ण भगवन्तं . इहगय'-इस सूत्रांश में अगोपन-
भाव की साधना का सङ्केत है । भगवान् की स्तुति करते हुए इस भावा-
वेश को साक्षीभाव के रूप में धारण किया जाता है कि-'मेरी समस्त
क्रियाएँ भगवान् के ज्ञान में प्रत्यक्ष है' । यह भाव जब अभ्यास से स्थायी
बन जाता है तब भगवान् की आज्ञा का सदा स्मरण बना रहता है और
छिप कर अनाचार-सेवन की वृत्ति-मायाचार की भावना मिट जाती
है । अतः सम्यक्त्व की शुद्धि के साथ ही उच्चतम चारित्र्य मार्ग में गमन
के वेग की वृद्धि होती है ।

३ यहाँ सिद्ध और अर्हन्त दोनों के लिये प्रणिपात सूत्र कहे गये
हैं । वस्तुतः सिद्धों के प्रणिपात पूर्वक धर्माचार्य को प्रणिपात किया गया
है । इससे यह ध्वनि निकलती है कि जब जब परोक्ष रूप में स्थित
अर्हन्त या धर्माचार्य को वन्दन नमस्कार किया जाता है, तब उससे पहले
सिद्धों को प्रणिपात करना चाहिए । यह विषय तत्त्वज्ञों के लिये विचार-
णीय है ।

वंदिता णमंसिता शीहासण-वर-गए पुरत्थाभिमुहे निसीअइ ।
 निसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउअस्स अट्टुत्तर सयसहस्सं पीइदाणं
 दलयइ । दलइत्ता सक्कारेइ सम्माणेइ । सक्कारित्ता सम्मा-
 णित्ता एवं वयासी-‘जया णं देवाणुप्पिया । समणे भगवं
 महावीरे इहमागेच्छा-इह समोसरिज्जा, इहेव चंपाए णयरीए
 वहिया पुण्णभदे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता
 संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरेज्जा, तथा णं मम
 एअमट्ठं निवेदिज्जासि’-त्तिकट्टु विसज्जिए ।

वह वन्दना-नमस्कार करके, पूर्व की ओर मुख रख-
 कर, सिंहासन पर ठीक तरह से बैठा । उस प्रवृत्ति-निवेदक को
 एक लाख आठ हजार (रजतमुद्रा) का प्रतिदान दिया (श्रेष्ठ
 वस्त्रादि से) सत्कार किया, (आदर-सूचक वचनो से) सन्मान
 किया । पुन. इस प्रकार बोला-‘हे देवानुप्रिय ! जब श्रमण
 भगवान् महावीर यहाँ आवे-यहाँ समवसरे, इस चम्पा नगरी
 के बाहर पूर्णभद्र चैत्य में सयमियो के योग्य आवासस्थान को
 ग्रहण करके, संयम और तपसे आत्मा को भावित करते हुए
 विचरे, तब यह सूचना मुझे देना’ ।

इस प्रकार कह कर उस प्रवृत्ति-निवेदक को विसर्जित किया ।



भगवान् का आगमन

१ ॐ तए शं समणे भगवं महावीरे कल्लं पाउप्प-
भायाए ग्यणीए फुलुप्पल-कमल-कोमलुम्मिलियम्मि अह
पंडुरे पहाए-रत्तासोगप्पगास किंसुअसुअ-मुह-गुंजद्व-राग-
सरिसे कमलागर-संड-ओहए उट्टियम्मि सूरु सहरस्सरस्सिमि
दिणयरे तेयसा जलंते, जेणोव चंपा णयरी, जेणोव पुण्णभदे
चेइए तेणोव उवागच्छइ उवागच्छिता अहा-पडिरूवं उग्गहं
उगिगिहत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

तत्र श्रमण भगवान् महावीर, फैलते हुए प्रकाश से
(विदाई/लेती हुई) रात्रि में—ऊषाकाल में फूलते हुए पद्मों की
कोमल पंखुरियाँ और हरिणों की सुकुमार आँखें खुल रही थी—
ऐसे उजले प्रभात् में, लाल अशोक के समान प्रभावाले, पलाश
(= खाँखरे) के फूल, शुक की चोच और गुजाफल के आधे
भागकी लाली के समान (अरुण-लाल), कमलाकरो (= जला-
शयो) के कमल वन के चेतना-प्रदायक, हजार किरणोवाले,
दिन के स्रष्टा, तेज से ज्वाजल्यमान सूर्य के उदय होने पर,
जहाँ चम्पा नगरी थी—जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ पधारे ।
पधारकर सयम मार्ग के अनुकूल आवास को ग्रहण करके, सयम
और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे ।

भगवान् के अन्तेवासी

१७—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी बहवे समणा भगवंतो, अप्पेगइया उग्गपव्वइया भोगपव्वइया राइएणपव्वइया णायपव्वइया कोरव्वपव्वइया खत्तिअपव्वइया, भडा जोहा सेणावई पसन्थारो सेट्ठी इब्भा अएणे य बहवे एवमाइणो, उत्तम-जाइ-कुल-रूव-विणय-विण्णाण-वण्णा-लावण्णा-विककम-पहाण-सोहग्ग-कंति-जुत्ता बहु-धण धण्ण-णिचय-परियाल-फिडिआ णरवइ-गुणाइरेगा इच्छिअ भोगा सुह-संपललिआ, किपाग-फलोवमं च मुणिअ विसयसोक्खं, जलबुब्बुअ-समाणं कुसग्ग-जलविंदु-चंचल जीवियं च णारुण, अद्दुवमिणं रयमिव पडग्गलग्गं संविधुणित्ता णं चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइआ, अप्पेगइया अद्दमास-परिआया अप्पेगइआ मासपरिआया एवं दुमास-तिमास...जाव एककारस-मास-परिआया अप्पे-गइया वासपरिआया दुवास.....तिवास-परिआया, अप्पे-गइया अणेगवास-परिआया, संजमेणं तवसा अप्पाणं भावे-माणा विहरंति ।

उस काल और उस समय मे श्रमणभगवान् महावीर के अन्तेवासी (=शिष्य) बहुत-से श्रमण भगवन्त..संयम धीर,

तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे । उनमें से कई उग्रवशवाले प्रव्रजित (=दीक्षित) हुए थे, तो कई भोगवशवाले, राजन्यवशवाले, ज्ञात या नागवशवाले, कुस्ववशवाले और क्षत्रियवशवाले दीक्षित हुए थे । भट्ट, योधा, सेनापति, धर्मनीति-शिक्षक, श्रेष्ठ (=स्वर्णपट्टाङ्कित घनिक). इभ्य (=हस्ति ढँक जाय इतनी घन राशिवाले घनिक) और ऐसे ही और भी बहुत से जन-जिनकी जाति (=मातृपक्ष) और कुल (पितृपक्ष) उत्तम थे, जिनका रूप (=शरीर का आकार), विनय, विज्ञान, वर्ण (=काया की छाया), लावण्य, विक्रम, सौभाग्य और कान्ति अत्युत्तम थी, जो विपुल घन-धान्य के सग्रह और परिवार से विकसित (खुशहाल) थे, जिनके यहा राजा से प्राप्त पाचो इन्द्रियो के सुख का अतिरेक था, अतः इच्छित भोग भोगते थे और जो सुख से क्रीडा करने में मस्त थे—वे विषयसुख को विषवृक्ष (=किंपाक) के फल के समान समझकर और जीवन को पानी के बुदबुदे के समान तथा कुश के अग्रभाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चञ्चल (=क्षणिक) जानकर, इन ऐश्वर्य आदि अध्रुव पदार्थों को कपडे पर लगी हुई रज के समान झाडकर—विपुल रूपा, सुवर्ण (=घडा हुआ सोना), घन (=गौ आदि), धान्य, बल (=चतुरग सैन्य), वाहन, कोश, कोष्ठागार, राज्य, राष्ट्र, पुर, अन्त पुर, घन (=गणिमादि चार तरह के पदार्थ), कनक (=बिना घडा हुआ सोना), रत्न (कर्कतन आदि), मणि (चन्द्रकान्त आदि), मौक्तिक, शख,

शिलाप्रवाल (= विद्रुम-मूंगे), पद्मराग आदि पदार्थों को छोड़कर-दीक्षित बन गये । कई को दीक्षित हुए आधा महिना ही हुआ था, कई को महिने, दो महिने, तीन महिने यावत् ग्यारह महिने, एक वर्ष, दो वर्ष और तीन वर्ष हुए थे तो कई को अनेक वर्ष हो गये थे ।

टिप्पण—‘...चइत्ता हिरण्ण जाव पव्वइआ’.. इस सूत्राक्ष में स्थित ‘जाव’ शब्द से निम्न लिखित पद संगृहीत किये गये हैं—‘चिच्चा सुव्वण्णं चिच्चा घण एवं घण्ण वलं वाहण कोस कोट्टागारं रज्जं रट्ठं पुरं अतेउरं, चिच्चा विपुल-घण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिअ-संख-सिलप्पवाल-रत्तरयण माईयं संत-सारसावतेज्जं विच्छइत्ता विगोवइत्ता, दाणं च दाइयाणं परिभायइत्ता, मुण्डा भवित्ता, अगाराओ अणगारिय’—

इनमें से कुछ पदों के अर्थ ऊपर दिये जा चुके हैं । कुछ पदों के अर्थ निम्न-लिखित हैं—‘..विद्यमान प्रधान द्रव्य को विशेष रूप से छोड़कर या वमन के समान करके, खुला छोड़कर के या अपना स्वामित्व हटाकर-प्रकट करके या अपने कुटुम्बियों आदि देने योग्य व्यक्तियों को देकर-बाटकर और मुण्ड होकर, अगारी से अनगार बने थे’ ।

‘विच्छइत्ता’ पद से विषयभोगों की तरफ तीव्र अरुचि का भाव ‘विगोवइत्ता’ पद से धन-धान्यादि के प्रति निर्ममत्त्व का भाव और ‘परिभायइत्ता’ पद से उदारता एवं करुणा का भाव दर्शित होता है ।



निर्ग्रन्थों की ऋद्धि

भगवान् के साथ जो श्रमण थे, वे कैसे थे, सो उनका वर्णन किया जाता है—

१५०० तेणं कालेणं तेणं समणं समणस्स
भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी वहवे निग्गंथा भगवंतो;

—उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत-से निर्ग्रन्थ (=बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित) (भगवान् के साथ में) थे ।

अप्पेगइया आभिणिवोहियणाणी जाव केवलणाणी

—(जिनमें) कई आभिनबोधिकज्ञानी (=इन्द्रियो और मन के द्वारा, योग्य देश में स्थित पदार्थों को जाननेवाले) यावत् केवलज्ञानी (=आत्मप्रदेशों से सम्पूर्ण द्रव्यो और उनकी तीनों काल की समस्त अवस्थाओ को जाननेवाले) थे ।

टिप्पण—'जाव' शब्द से 'सुयणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी' पदों का संग्रह किया गया है । वे श्रुतज्ञानी (=ग्रंथादि सिद्धांतों के ज्ञाता), अवधिज्ञानी (=मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना आत्मा से ही रूपी पदार्थों के ज्ञाता) और मन.पर्यवज्ञानी (=मन की अवस्थाओं से मनःचिन्तित बातों के ज्ञाता) थे । अर्थात् कई दो ज्ञान के (=मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के) धारक थे, तो कई तीन ज्ञान (=मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या मन पर्यवज्ञान) के, चार ज्ञान (=मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्यवज्ञान) के और एक ज्ञान (=केवलज्ञान) के धारक थे ।

अप्पेगइया मणवलिआ वयवलिआ कायवलिआ +

-कई मनोदली (=मन की स्थिरता के धारक), वचन-बली (=प्रतिज्ञात अर्थ=कहे हुए आगय का निर्वाह करनेवाले या परपक्ष को क्षोभकारी वचनशक्ति के धारक) और काय-बली (=भूख, प्यास, शरदी, गर्मी आदि परीषह के सहने में ग्लानि से रहित रहने की कायिक शक्ति के धारक) थे ।

टिप्पण-कई तीनों बल के, तो कई दो बल के (=मन-वचन बली या मन-काय बली या वचन-मन बली या वचन-काय बली) और कई एक-एक बल के धारक थे ।

अप्पेगइया मण्णं सावाणुग्गह-समत्था वएणं सावाणु-ग्गह समत्था, काएणं सावाणुग्गह समत्था

-कई मन से शाप (=अपकार) और अनुग्रह (=उप-कार) करने में समर्थ थे । कई वचन से शाप और कृपा करने में समर्थ थे और कई काया से शाप और कृपा करने में समर्थ थे ।

अप्पेगइया खेलोसहि-पत्ता ।

-कई खेलौषधि (=खेंकार से ही सभी रोगादि मिटाने की शक्ति) को पाये हुए थे ।

एवं जल्लोसहिपत्ता विप्पोसहिपत्ता आमोसहिपत्ता सव्वोमहिपत्ता ।

+ वाचनान्तराधीत चेद विशेषणत्रयम्-‘नाणवलिया, दंसणवलिया चारित्तवलिया’ ।

—इसी प्रकार जल्लोपधि (=शरीर के मूल से रोग आदि अनर्थ उपशान्त करने की शक्ति) विप्रुटोपधि(=मूत्रादि को बूदो रूप औपधि, अथवा वि का अर्थ विष्ठा और प्र का अर्थ प्रश्रवण (मूत्र) है, ये दोनों औपधिरूप), आमपं (=हस्तादि स्पर्श) औपधि, सर्वोपधि (केल, नख, रोम, मल आदि सभी का औपधि रूप बन जाना) लट्वि को प्राप्त थे ।

अप्पेगइया कोट्टुद्धी एवं वीअनुद्धी पट्टुद्धी ।

—कई कोष्ठवृद्धिवाले (=कोठार में भरे हुए सुरक्षित धान्य की तरह प्राप्त हुए सूत्रार्थ को धारण करने में समर्थ मतिवाले) थे । इसी प्रकार बीजवृद्धिवाले (=बीज के समान विस्तृत और विविध अर्थ के महावृक्ष को उपजानेवाली बुद्धि के धारक) और पटवृद्धिवाले (वस्त्र में सगृहीत पुष्प-फल के समान, विशिष्ट वक्ताओं द्वारा कथित प्रभूत सूत्रार्थ का संग्रह करने में समर्थ बुद्धिवाले) थे ।

अप्पेगइया पयाणुसारी । अप्पेखइया संभिन्नसोआ ।

—कई पदानुसारी (=सूत्र के एक ही पद के ज्ञात होने पर, उस सूत्र के अनुकूल सैकड़ों पदों का स्मरण कर लेने की-जान लेने की शक्ति के स्वामी) थे । कई सभिन्न श्रोता (=बहुत-से भिन्न-भिन्न जाति के शब्दों को, अलग-अलग रूप से, एक साथ श्रवण करते की शक्तिवाले या सभी इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि पाचों विषयों को ग्रहण करने की शक्ति वाले अर्थात् किसी भी एक इन्द्रि से पाचों विषयों को ग्रहण करने

की शक्तिवाले) थे ।

अप्पेगइया खीरासवा । अप्पेगइया महुआसवा । अप्पेगइआ सप्पिआसवा । अप्पेगइया अक्खीणमहाणसिआ ।

-कई क्षीराश्रव (=श्रोताओं के लिये दूध के समान मधुर, कान और मन को सुखकर वचन शक्तिवाले) थे । कई मधु-आश्रव (=मधु के समान सभी दोषों को मिटाने में निमित्त रूप और प्रसन्नकारक वाचिक शक्तिवाले) थे । कई सर्पिरा-श्रव (=घी के समान अपने विषय में श्रोताओं का स्नेह सम्पादित करने की वाचिक शक्तिवाले) थे । कई अक्षीण-महानामक (=प्राप्त अन्न को जहाँ तक स्वयं न खा ले, वहाँ तक सैकड़ों-हजारों को देने पर भी वह अन्न समाप्त न हो, ऐसी लब्धि के धारक) थे ।

एवं उज्जुमई । अप्पेगइआ विउलमई ।

-इसी प्रकार ऋजुमति (=मात्र सामान्य रूप से मन की ग्राहिका मतिवाले) थे । कई विपुलमति (=विशेषता सहित चिन्तित द्रव्य को जानने की शक्तिवाले) थे ।

टिप्पण—ये दोनों मन पर्यायज्ञानी के भेद हैं । ऋजुमति ढाई अंगुल कम मनुष्य क्षेत्र में स्थित सजी जीवों के मन को सामान्य रूप से जानते हैं और विपुलमति सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र में स्थित सजी जीवों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशेषता सहित चिन्तक मन को जानते हैं अथवा मन. चिन्तित द्रव्य को विशेषता सहित जानते हैं । (टीका०)

विउव्वणिद्धिपत्ता चारणा विजाहरा आगासाइवाइणो ।

—कई विकुर्वणऋद्धि (= नाना भाँति के रूप बनाने की शक्ति) से सम्पन्न थे । कई चारण (= गति सम्बन्धी ऋद्धिवाले), विद्याधर (= प्रजप्ति आदि विद्याओं के धारक), आकाशातिपाती (= गगन गामिनी शक्तिवाले) थे ।

टिप्पण—चारण लवि दो प्रकार की हैं । जंघाचारण और विद्या-चारण । जंघाचारण—अष्टम (= तैला) —अष्टम की तपश्चर्या करनेवाले यति को यह लवि उत्पन्न होती है । जिससे जघा से सम्बन्धित किसी एक व्यापार के द्वारा एक उडान में तेरहवें रुचकवर नामक द्वीप तक और मेरु पर्वत पर जा सकते हैं और वहाँ से आने में दो उडान लगानी पड़ती है । विद्याचारण लवि—षष्ठ (= दो दिन के उपवास) षष्ठ की तपश्चर्या करनेवाले यति को पैदा होती है । जिससे श्रुत-विहित ईषत् उपष्टम (= अवलम्बन) से दो उडान के द्वारा आठवें नन्दीश्वर द्वीप तक और मेरु पर्वत पर जाने में समर्थ होते हैं और वहाँ से वापिस एक ही उडान में आ सकते हैं ।

‘आकाशातिपादो’ की संस्कृतच्छाया दो तरह से बनती है— ‘आकाशातिपातिन.’ और ‘आकाशादिवादिन’ । आकाशातिपाती=विद्या या पादलेप के प्रभाव से आकाश में गमन करनेवाले अथवा आकाश से रजत आदि इष्ट या अनिष्ट वर्षा करने की शक्तिवाले । आकाशादिवादी = आकाश आदि अमूर्त पदार्थों के साधने में समर्थ वादी । (—टीका)

निर्ग्रन्थों का तप

अप्येगइया कणगावलिं तत्रोकम्मं पडिवण्णा । एवं एकावलिं ।

—कई कनकावली तप कर्म और इसी प्रकार एकावली तप करनेवाले थे ।

टिप्पण—

कनकावली तप * स्वर्ण मणियों के भूषण विशेष के आकार की कल्पना से किया गया तप । इस तप में क्रमशः चतुर्य (=उपवास), षष्ठ (=दो दिन के उपवास) और अष्टम (=तीन दिन के उपवास) करते हैं । फिर चार-चारको दो पंक्तियों के रूप में या चार रेखाओं से नव कोष्ठक में बीच के कोष्ठक खाली रखते हुए आठ अष्टम । इसके बाद चतुर्य से लगाकर दो-दो भक्त की वृद्धि करते हुए क्रमशः चौतीस भक्त (=सोलह दिन के उपवास) तक चढ़ना । हार के मध्य भाग की कल्पना के रूप में (=२, ३, ४, ५, ६, ५, ४, ३, २ या आठ और छह रेखाओं से निर्मित पैंतीस कोष्ठकों को, मध्य के कोष्ठक को खाली रखते हुए) चौतीस अष्टमों की स्थापना । फिर चौतीस भक्त से क्रमशः दो-दो भक्त कम करते हुए चतुर्य तक करना । इसके बाद पूर्ववत् आठ अष्टम और क्रमशः अष्टम, षष्ठ और चतुर्य । यह एक परिपाटी । पूरे तप में ऐसी चार परिपाटी की जाती हैं ।

एक परिपाटी, १ वर्ष, ५ महिने, और १२ दिन में पूरी होती है ।

चार परिपाटी, ५ वर्ष, ६ महिने और १८ दिन में पूरी होती है ।

पहली परिपाटी में पारणे में विकृति (=दूध आदि) लेते हैं । दूसरी में विकृति का त्याग । तीसरी में लेप का त्याग । चौथी में आयविल ।

एकावली तप—क्रमशः चतुर्य, षष्ठ और अष्टम । आठ चतुर्य ।

चतुर्य से लगाकर चौतीस भक्त तक क्रमशः चढ़ना । चौतीस चतुर्य भक्त । चौतीस भक्त से क्रमशः चतुर्य तक उतरना । आठ चतुर्य । फिर क्रमशः अष्टम, षष्ठ और चतुर्य ।

* तप की स्थापना अंतगड़ सूत्र में देखें ।

एक परिपाटी का काल-१ वर्ष, २ महिने और २ दिन ।

चार परिपाटियों का काल-४ वर्ष, ८ महिने और ८ दिन ।

पारणे में पूर्व=वत् ।

खुड्गाग-सीह-निक्कीलियं तवोकम्मं पडिवणणा । अप्पेगइया
महालयं सीह-निक्कीलियं तवोकम्मं पडिवणणा ।

-कई लघुसिंहनिष्क्रीडित तप.कर्म के करनेवाले और
कई महासिंहनिष्क्रीडित तप कर्म के करनेवाले थे ।

टिप्पण-जिस प्रकार सिंह, गमन करते हुए, पीछे छोड़े हुए प्रदेश
को मुडकर देखता जाता है, उसी प्रकार किये हुए तप को आगे बढ़कर
पुनः करना, सिंहनिष्क्रीडित नाम का तप कर्म कहा जाता है । इसके
क्षुल्लक (=लघु) और महा-ये दो भेद हैं ।

लघुसिंहनिष्क्रीडित तप-चतुर्थ, षष्ठ-चतुर्थ, अष्टम-षष्ठ,
दशम (=चार दिन के उपवास)-अष्टम, द्वादश-दशम, चतुर्दश-
द्वादश, षोडश-चतुर्दश, अष्टादश-षोडश, विंशतितम (=९ दिन
के उपवास)-अष्टादश और विंशतितम । एव षोडश (=७ दिन
के उपवास)-अष्टादश (=आठ दिन के उपवास), चतुर्दश-
षोडश, द्वादश-चतुर्दश, दशम-द्वादश, अष्टम-दशम, षष्ठ-अष्टम,
चतुर्थ-षष्ठ और चतुर्थ । यह एक परिपाटी । ऐसी चार परि-
पाटियाँ करने पर, यह तप पूरा होता है ।

एक परिपाटी का काल-६ महीने और ७ दिन ।

चार परिपाटियों का काल-२ वर्ष और २८ दिन ।

पहली परिपाटी में पारणे के दिन विकृति (=धी,

दूध, दही, तेल और मीठा) ले सकते हैं । दूसरी परिपाटी के पारणो में विकृति का त्याग कर देते हैं । तीसरी परिपाटी के पारणो में (विकृति के) लेप का भी त्याग कर देते हैं और चौथी परिपाटी के पारणो में आयंबिल (=रावा हुआ या भुना हुआ अचित्त अन्न, पानी में भिगोकर, मात्र एक समय खाना) करते हैं ।

महासिंहनिष्क्रीडित तप-१ दिन का उपवास, दो दिन और एक दिन का उपवास, इसी प्रकार क्रमशः सोलह दिन और पन्द्रह दिन के उपवास और सोलह दिन के उपवास (चतुस्त्रिंशत्तम) एवं तीस भक्त-बत्तीस भक्त (=१४ और १५ दिन के उपवास), इसी प्रकार क्रमशः चतुर्थ-षष्ठ और चतुर्थ तक उतरना ।

एक परिपाटीका काल-१ वर्ष ६ महीने और १८ दिन ।

चार परिपाटियों का काल-६ वर्ष २ महीने और १२ दिन ।

पारणक-विधि पूर्ववत् ।

भद्रपडिमं महाभद्रपडिमं सव्यओभद्रपडिमं आयंबिलवद्धमाणां तवोकम्मं पडिवण्णा ।

-(कई) भद्रप्रतिमा, महा भद्रप्रतिमा, सर्वतोभद्रप्रतिमा और आयंबिल-वद्धमान तप.कर्म करनेवाले थे ।

टिप्पण-

भद्रप्रतिमा-पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में मुख रखकर, क्रमशः प्रत्येक दिशा में चार-चार पहर तक ध्यान करना । यह प्रतिज्ञा दो दिन की है ।

महाभद्र प्रतिमा—इसमें क्रमशः प्रत्येक दिशा में एक-एक अहोरात्रि तक, कुल चार अहोरात्रि तक कायोत्सर्ग किया जाता है ।

सर्वतोभद्र प्रतिमा—टीकाकार इस प्रतिमा की दो विधियाँ बतलाते हैं—(१) क्रमशः दश दिशाओं में मुख करके, एक-एक अहोरात्रि तक—कुल दश अहोरात्रि तक—कायोत्सर्ग करना । (२) दूसरी विधि के अनुसार इस प्रतिमा के दो भेद हैं—लघु और महा ।

लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा—(जिस स्थापना में चारों ओर से शंकों की गिनती करने पर जोड़ बराबर आये उसे सर्वतोभद्र कहते हैं ।) इस तप में क्रमशः चतुर्यं से लगाकर द्वादशम (=पाँच दिन के उपवास) तक चढ़ते हैं । फिर मध्य के कोष्ठक में आये हुए अर्द्ध को आदि में रखकर, शेष चार पक्षित्याँ पूरी की जाती हैं ।

एक परिपाटी का कालमान—७५ दिन तपश्चर्या और २५ पारणक । तीन महीने, १० दिन ।

चार परिपाटियों का कालमान—१ वर्ष, १ महीना और १० दिन । पारणक विधि पूववत् ।

महासर्वतोभद्र प्रतिमा—क्रमशः ७ अर्द्ध तक की तपश्चर्या । मध्य कोष्ठक गत अर्द्ध को आदि में रख कर, अगली-अगली पद्धतियों का निर्माण ।

एक परिपाटी का कालमान—८ महीने और ५ दिन ।

चारों परिपाटियों का कालमान—२ वर्ष, ८ महीने, २० दिन ।

आयम्बिल वर्द्धमान—(जिसमें रांधा हुआ या भुना हुआ अन्न अन्न, पानी में भिगो कर एक बार खाया जाता है, उसे आयम्बिल नामक तप कहा जाता है) । एक आयम्बिल-चतुर्यं । दो आयम्बिल, चतुर्यं । इस

प्रकार क्रमशः एक-एक आयम्बिल को बढ़ाते हुए, सौ आयम्बिल और चतुर्थ तक पहुँचते हैं। टीकाकार ने--चतुर्थ, फिर एक आयम्बिल, चतुर्थ-दो आयम्बिल, क्रमशः चतुर्थ-सौ आयम्बिल ऐसा विधान किया है, किन्तु पहले का क्रम ही ठीक है, क्योंकि अन्तगडसूत्र में इसी प्रकार बतलाया गया है। इस तप में ५० ५० आयम्बिल और १०० उपवास होते हैं। कुल १४ वर्ष, ३ महीने और २० दिन जितना काल होता है।

मासिञ्चं भिक्षुपडिमं, एवं दोमासिञ्चं पडिमं, तिमासिञ्चं भिक्षुपडिमं, जाव सत्तमासिञ्चं भिक्षुपडिमं पडिवण्णा ।

—कई निर्ग्रन्थ मासिकी भिक्षुप्रतिमा (=एक महीने की साधु की प्रतिज्ञा विशेष), इसी प्रकार द्विमासिकी, त्रिमासिकी यावत् सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा के धारक थे।

टिप्पण—

मासिकी भिक्षु प्रतिमा—एक महीने तक एक दत्ति (=आहार-पानी के ग्रहण से सम्बन्धित विधि विशेष) आहार और एक दत्ति पानी ग्रहण करने की प्रतिज्ञा।

इसी प्रकार द्विमासिकी से सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा में क्रमशः २, ३, ४, ५, ६ और ७ दत्ति आहार-पानी ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की जाती है।

अप्पेगइया पढमं सत्त-राइंदिञ्चं भिक्षुपडिमं पडिवण्णा,
जाव तच्चं सत्त-राइंदिञ्चं भिक्षुपडिमं पडिवण्णा ।

—कई निर्ग्रन्थ प्रथम सप्त रात्रिदिवा भिक्षुप्रतिमा के धारक थे, यावत् तीसरी सप्त रात्रिन्दिवा भिक्षुप्रतिमा के धारक थे।

टिप्पण—तीन प्रतिमाओं का कालमान सात-सात दिन का है।
श्रुत क्रमशः प्रथमा, द्वितीया और तृतीया उनकी नाम सजा दी गई है।

प्रथमा सू० मि.—सात दिन तक एकान्तर उपवास। उपवास में चारों आहार का त्याग, उत्तानक (=चित्त लेटना) या पार्श्वशायी (=बगल से लेटना) या निषद्योपगत होकर—पालठी लगाकर ग्रामादि से बाहर रहना।

द्वितीया सप्त. मि.—सात दिन पूर्ववत् तप करना। उत्कुटुक (=दोनों पञ्जों के बल, घुटने खड़े रखकर बैठना) या लगण्डशायी (=सिर्फ शिर और एडियो का ही पृथ्वी पर स्पर्श हो, इस प्रकार पीठ के बल लेटना), या दण्डायत (=सीधे उण्डे की तरह लेटना) होकर, ग्रामादि से बाहर रहना।

तृतीया सप्त. मि.—सात दिन तक पूर्ववत् तप करना। ग्रामादि से बाहर गोदूहासन (=गाय दूहने की स्थिति में बैठना) या वीरासन (=वीर पुरुष के बैठने के ढंग से बैठना अर्थात् कुर्सी पर बंटे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जो स्थिति होती है उस आसन से बैठना) या आम्रकुब्जासन (=आम्रफल वत् वक्राकार स्थिति में बैठना) से रहना।

राइंदिअं भिक्खूपडिमं पडिवण्णा, एगराइयं भिक्खू-पडिमं पडिवण्णा ।

कई निर्ग्रन्थ एक रात और एक दिन की भिक्षु प्रतिमा के धारक थे और कई एक रात की भिक्षु प्रतिमा के धारक थे।

टिप्पण—यह पाठ टीकाकार के अभिप्राय के अनुसार है। 'समवायांग' में 'अहोराइया' और 'एगराइया' पाठ है। किन्तु 'उववाइय' के मूल में 'अहो राइदिअ' और 'इक्कराइदिअ' पाठ है।

अहोरात्रि की मि०—इस प्रतिमा में चौविहार षण्ठोपवास (=दो दिन के उपवास) किया जाता है। इस प्रतिमा का आराधक गाँव के बाहर रहकर इसकी आराधना करता है और प्रलम्बभुज (=दोनों हाथों को लटकते हुए स्थिर रखना) अवस्था में स्थित रहता है। (टी०)–

एक रात्रि की मि०—इस प्रतिमा की आराधना चौविहार अष्टम-भक्त (=तीन दिन के उपवास) के द्वारा की जाती है। इसका आराधक भी ग्रामादि के बाहर ही रहता है। जिनमुद्रा (=दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अन्तर रखते हुए, सम अवस्था में खड़े रहना), प्रलम्बभुज (=लटकते हुए स्थिर हाथ), अनिमिषनयन (=पलके झपकाने से रहित स्थिति=एक टक), एक पुद्गल निरुद्धदृष्टि (=किसी एक पुद्गल पर दृष्टि लगाना) और कुछ झुकें हुए शरीर से स्थित रहकर एक रात तक इसकी आराधना की जाती है।

विशिष्ट संहनन आदि से युक्त व्यक्ति ही इन प्रतिमाओं की आराधना कर सकता है। कहा है—

पडिवज्जइ एयाओ, सघयणघिइजुओ महासत्तो ।

पडिमाउ भावियप्पा, सम्म गुरुणा अणुत्ताओ ॥

संहनन (=शारीरिक बल) और धृति (=धैर्य=आत्मिकबल) से युक्त महासत्त्वशाली (=अतिशय पराक्रमी) सम्यक् रूप से भावित आत्मा (=सयम के संस्कारों से युक्त या संयम में तल्लीन शुद्ध आत्मा) और गुरु के द्वारा अनुज्ञात (=जिसे आज्ञा मिल गई हो या जिसे अधिकार प्राप्त हो गया हो ऐसा व्यक्ति) इन प्रतिमाओं को स्वीकार करता है।

(—टीका में उद्धृत गाथा)

सत्त-सत्तमित्रं भिक्षुपण्डिमं, अट्ट-अट्टमित्रं भिक्षुपण्डिमं,
 णव-णवमित्रं भिक्षुपण्डिमं, दस-दसमित्रं भिक्षुपण्डिमं+ ।
 खुट्ठियं मोअ-पण्डिमं पण्डिवण्णा । महल्लियं मोअपण्डिमं पण्डि-
 वण्णा । जवमज्झं चंदपण्डिमं पण्डिवण्णा । वहर (वज्र) मज्झं
 चंदपण्डिमं पण्डिवण्णा * ।

—कई निर्ग्रन्थ सप्त-सप्तमिका भिक्षुप्रतिमा (=सात-
 सात दिन के सात दिन-समूहों की साधु की प्रतिज्ञा), अष्ट-
 अष्टमिका (=आठ-आठ दिन के आठ दिन समूहों की) भिक्षु-
 प्रतिमा, नवनवमिका भिक्षुप्रतिमा, दशदशमिका भिक्षुप्रतिमा,
 क्षुल्लक मोक प्रतिमा के धारक, महामोक प्रतिमा के धारक,
 यव-मध्य-चन्द्र प्रतिमा के धारक और वज्र-मध्य चन्द्र प्रतिमा
 के धारक थे ।

टिप्पण—

सप्त सप्तमिका भिक्षुप्रतिमा—यह ४६ दिन की प्रतिमा है ।
 सात-सात दिन के सात सप्तक (वर्ग) । पहले सप्तक में पहले दिन
 एक-एक दत्ति अन्न-पानी, एवं क्रमशः सातवें दिन सात-सात दत्ति अन्न-
 पानी के ग्रहण की प्रतिज्ञा । इसी प्रकार शेष छह सप्तकों में भी । अथवा
 पहले सप्तक में प्रति दिन एक-एक दत्ति अन्न-पानी, एवं क्रमशः सातवें

+क्वचिदिह स्याने 'भद्रा-सुभद्रा-महाभद्रा-एवंतोभद्रा-भद्रोत्तराश्च
 भिक्षुप्रतिमा' पठन्ते ।

*वाचनान्तराद्योतमथ पदचतुष्कं -'विवेग पण्डिमं विउत्सग्ग पण्डिमं
 उवहाणपण्डिम पण्डिसंतीणपण्डिम' ।

सप्तक में प्रति दिन सात-सात दत्ति अन्न-पानी के ग्रहण की प्रतिज्ञा । दूसरा विधान अन्तगड सूत्र के मूलपाठ के अनुसार है । इसी प्रकार आगे अष्टअष्टमिका, नवनवमिका और दशदशमिका में भी समझ लेना चाहिए ।

इसी प्रकार अष्टअष्टमिका, नवनवमिका और दशदशमिका भि० में क्रमशः ८ अष्टक, ९ नवक और १० दशक में विभाजित ६४, ८१ और १०० दिन होते हैं । आहार-पानी की दत्तियों में पूर्ववत् वृद्धि की जाती है ।

लघुमोक प्रतिमा- (=प्रस्रवण सम्बन्धी अभिग्रह) द्रव्यत.- नियमानुकूल हो तो प्रस्रवण की दिन में अप्रतिष्ठापना, क्षेत्रतः-ग्रामादि से बाहर, कालतः-शीत या ग्रीष्म में भोगकर करे तो चतुर्दशभक्त से और बिना भोगे करे तो षोडशभक्त से पूर्ण होती है और भावतः-दिव्यादि उपसर्ग सहना ।

इसी प्रकार महामोक प्रतिमा भी की जाती है । अन्तर इतना ही है कि यह षोडश भक्त से या अष्टादश भक्त से पूर्ण होती है ।

यवमध्यचन्द्र प्रतिमा-शुक्लपक्ष की पडवा से प्रारंभ होकर, चन्द्रकला की वृद्धि-हानि के अनुसार दत्ति की वृद्धि-हानि से यव के मध्यभाग आकार में पूरी होनेवाली एक महीने की प्रतिज्ञा । जैसे सुदी पडवा को एक दत्ति, द्वितीया को दो दत्ति, इस प्रकार क्रमशः एक एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा के दिन पन्द्रह दत्ति । षुदी पडवा को चौदह दत्ति फिर एक-एक दत्ति घटाते हुए, चतुर्दशी को एक दत्ति खाना । अभावस्या को उपवास ।

व्रजमध्यचन्द्र प्रतिमा-कृष्ण पक्ष की पडवा के दिन प्रारंभ होकर, चन्द्रकला की हानिवृद्धि के अनुसार, दत्ति की हानिवृद्धि से व्रजाकृति में पूर्ण होनेवाली एक महीने की प्रतिज्ञा । इसके प्रारम्भ में

१५ वत्ति, फिर क्रमशः घटाते हुए अमावस्या को एक वत्ति । शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को दो, फिर क्रमशः एक एक बढ़ाते हुए चतुर्विंशती को पन्द्रह वत्ति और पूर्णमासी को उपवास ।

(व्यवहार सूत्र के मूल पाठानुसार)

संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।

—इस प्रकार वे निर्ग्रन्थ सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे ।

स्थविरोँ के बाह्य-आभ्यन्तर गुण

१ द्वैश्वेणं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ
महावीरस्स अंतेवासी बहवे थेरा भगवंतो—

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत-से स्थविर (=ज्ञान और चारित्र में वृद्धि-प्राप्त) भगवन्त उन के साथ थे ।

जाइसंपण्णा कुलसंपण्णा बलसंपण्णा रूपसंपण्णा विणय-
संपण्णा शाणसंपण्णा दंसणसंपण्णा चरित्तसंपण्णा लज्जा-
संपण्णा लाघवसंपण्णा;

—वे स्थविर भगवन्त जाति (=मातृपक्ष), कुल (=पितृ-पक्ष), बल, रूप, विनय, ज्ञान, दर्शन (=श्रद्धा या सामान्यज्ञान), चारित्र, लज्जा (=अपवाद से डरने का भाव) और लाघव

(=वस्त्र आदि अल्प उपधि की और ऋद्धि, रस और साता के गौरव से रहित अवस्था) से सम्पन्न युक्त थे ।

टिप्पण—'जातिसम्पन्न' आदि विशेषणों का यह आशय है कि वे उत्तम जाति, कुलादि से युक्त थे । क्योंकि साधारण पुरुष भी मातृपक्षादि से संपन्न होते हैं । इसमें कोई विशेषता नहीं है । अतः. यहा इन भावो की उत्तमता को बताने के लिये ही यह विशेषणों का समूह आया है ।

जाति और कुल की सम्पन्नता शुभ कर्म के उदय से ही प्राप्त हो सकती है । यदि मातृ-पितृपक्ष निर्दोष हो तो सुन्दर सस्कारो की प्राप्ति सहज ही हो जाती है । जिससे आगे का उत्कर्ष सुगम हो जाता है । अतः श्रेष्ठ साधनों को सुलभ कर देने में पूर्व के सुकृत् का उदय मानना असंगत नहीं है । बल और रूप की सम्पन्नता भी पहले के शुभ कर्म के उदय से ही प्राप्त हो सकती है । बलसम्पन्नता घोरतम कष्टों को सहने में स्थिर बनाती है और रूपसम्पन्नता बाल जीवो को धर्ममार्ग में जोड़ने में निमित्त बन सकती है । ये चारों गुण बाह्य हैं ।

विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और लाघव की सम्पन्नता, आत्मिक पुरुषार्थ को शुभोदय का सहकार मिलने पर प्राप्त हो सकती है और लज्जा लोकसंज्ञा का सस्कृत रूपान्तर है । विनय से धर्म, ज्ञान से समझ, दर्शन से प्रतीति और रुचि एव ससार के मिथ्या भावों के छेदन, चारित्र्य से निष्कम्प दशा, लज्जा से संयम में दृढ़ता और लाघव से मुक्तिमार्ग में तीव्र गति की प्राप्ति होती है । ये आन्तरिक गुण हैं ।

ओअंसी तेअंसी वचंसी जसंसी,

—वे ओजस्वी, तेजस्वी, वचस्वी और यशस्वी थे ।

टिप्पण—ओजस्=मानस-हृदय की स्थिरता । सुसम्बद्ध विचारो के

अभ्यास के कारण जो आत्मिक स्थिरता पैदा होती है, जिससे अन्य व्यक्तियों को अपने विचारों से तर कर देने की जो जोशीली शक्ति पैदा होती है, उसे 'श्रोजस्' कहा जाता है ।

तेजस्=शरीर की प्रभा । साधना करते-करते साधक-शरीर के चारों ओर किरणें-सी निकलने लग जाती हैं, जिससे व्यक्ति दर्शन मात्र से एक मधुर शान्ति का अनुभव करता है, उसे 'तेजस्' कहते हैं ।

वचस्=सौभाग्यादि से युक्त वाणी ।

अथवा वचस्=प्रभाव । क्रिया या आचार में व्याप्त ऐसी शक्ति, जिसका लोहा अन्य भी मानते हैं और जो रोब की जननी है, उसे 'वचस्' कहा जाता है ।

यशस्=ख्याति । उपर्युक्त तीनों भावों के मिश्रण के द्वारा लोक में उस चुम्बकीय व्यक्तित्व के प्रति जो प्रशंसात्मक दृष्टि बनती है—उसकी जो स्तुति होती है, उसे 'यशस्' कहते हैं ।

जिअक्रोहा जिअमाणा जिअमाया जिअलोभा जिअ-
इंदिआ जिअनिदा जिअपरीसहा,

—वे क्रोध, मान, माया (=छल-कपट और लोभ के हृदय में उदय होने पर, उन्हें विफल कर देते थे—उनके प्रवाह में नहीं बहते थे । इन्द्रियों पर अपना अधिकार रखते थे । निद्रा के वशीभूत नहीं होते थे और परीषहों (=अनुकूल या प्रतिकूल बाधाओं) को जीत लेते थे ।

टिप्पण—'जित' शब्द से यहाँ पर यह भाव लिया गया है कि—'आत्म-सत्ता गत कर्मों के उदय (=फल देने के लिये प्रवृत्त) होने पर, उनपर क्रोधादि का आक्रमण अवश्य होता था, किन्तु आत्मजागृति के

द्वारा उन्हें अपने पर हावी नहीं होने देते थे । अतः पुन वैसे कर्मों का इतना प्रबल सञ्चय आत्मा में नहीं होता था ।

जीविआस-मरणभय-विष्णुमुक्ता

—वे जीने की आशा और मरने के भय से बिलकुल मुक्त थे ।

टिप्पण—जीने की आशा और मरने का भय, अनेक आत्मिक दोषों को पैदा करते हैं । जिसने इन दोनों को छोड़ दिया हो, वही क्रोधादि भावों पर सही विजय पा सकते हैं । जीना और मरना तो कर्माधीन है और आयुष्य कर्म पिछले जन्म में ही बाधकर लाया जाता है । अतः जीवनआशा और मरणभय से कुछ विशेष लाभ नहीं हो सकता । किन्तु कर्त्तव्य में शिथिलता ही पैदा होती है । अतः ज्ञानी इन भावों से मुक्त हो जाते हैं ।

व्यप्यहाणा गुण्यप्यहाणा करण्यप्यहाणा चरण्यप्यहाणा

—वे उत्तम व्रत (=श्रेष्ठतम साधुता) के धारक थे । करुणा आदि श्रेष्ठ गुणों के स्वामी थे । आहार शुद्धि आदि श्रेष्ठ क्रिया (=करण) के पालक थे । महाव्रत आदि श्रेष्ठ आचार (=चरण) के धनी थे ।

—टिप्पण — इस सूत्रांश का अर्थ इस प्रकार से भी होता है — 'व्रत (=साधुता), गुण, करण (=पिण्डविशुद्धि आदि) और चरण (=महाव्रत आदि) के द्वारा, वे प्रधान (=श्रेष्ठ या मुखिया) थे ।'

शिग्गह्यप्यहाणा शिञ्छ्यप्यहाणा अज्जवप्यहाणा भद्रवप्यहाणा
लाघव्यप्यहाणा स्वतिप्यहाणा मुत्तिप्यहाणा

— वे अनाचार को रोकने में कुशल, श्रेष्ठ निश्चयवान्, माया (=द्वल कपट) और मान के उदय का निग्रह करने में कुशल, उत्तम लाघव (=क्रिया में दक्षता) के धारक एवं क्रोध और लोभ के उदय का निग्रह करने में चतुर थे ।

टिप्पण—यविर भगवन्तों के हाथ में ही शासन की बागडोर रहती है । अतः उन्हें अनाचार प्रवृत्ति का निग्रह भी करना पड़ता है । क्रोध आदि को जीत लेने पर निग्रह कैसे संभव हो सकता है ?—वस्तुतः क्रोध से अनाचार की वृद्धि नहीं रोकी जा सकती है । किन्तु श्रौत आदि गुण के द्वारा ही साधकों के हृदय को जीत कर उन्हें सदाचार में प्रवृत्त किया जा सकता है । इसमें निश्चयवत् (=नित्यनिर्णय और विहित अनुष्ठानों को करने के लिये योग्य, विशुद्ध एवं दृढ़ सङ्कल्प वत्) की आवश्यकता रहती है । इसका सङ्केत 'निश्चयप्रधान' विशेषण के द्वारा किया गया है । 'जितक्रोधादि' विशेषणों के द्वारा क्रोधादि के उदय को निष्कृत करने का विधान किया है और 'आर्जव (=सरलता), मार्दव (=कोमलता, विनय), क्षान्ति (=क्षमा) और मुक्ति (=निर्लोभता) में प्रधानता' के द्वारा क्रोधादि को जीतने के साधनों के प्रयोग में उनकी कुशलता का वर्णन किया है । 'आर्जवप्रधान' और 'मार्दवप्रधान' के बाद 'लाघवप्रधान' विशेषण रखने का यह रहस्य हो सकता है कि—सरलता और विनय से युक्त होने पर ही वास्तविक क्रियाकुशलता की प्राप्ति होती है । पहले आया हुआ 'लाघवसम्पन्न' विशेषण 'द्रव्य और भाव से हलकेपन' का बोधक है और 'लाघवप्रधान' विशेषण 'विहित क्रियाओं अथवा तत्त्वज्ञान की विविध शक्तियों की दक्षता—चतुरार्ह' का ।

विज्ञापहाणा मंतप्पहाणा वेअप्पहाणा वंभप्पहाणा नयप्पहाणा
नियमप्पहाणा सच्चप्पहाणा सोअप्पहाणा

-वे प्रज्ञप्ति आदि विद्या के श्रेष्ठ धारक, उत्तम मंत्रज्ञ, श्रेष्ठ ज्ञानी, ब्रह्मचर्य में या कुशलानुष्ठान में स्थित, नय (=नीति) में प्रधान, उत्तम अभिग्रहों के स्वामी, सत्यप्रधान और शौच (=निर्लेपता और दोष से रहित समाचारी) के श्रेष्ठ धारक थे ।

टिप्पण—स्थविरों की विद्या, मन्त्र, वेद और ब्रह्म में प्रधानता के कथन से, सूत्रकार यह सूचित करते हैं कि उनको रहस्यमयी लौकिक साधनाओं का ज्ञान था और परसिद्धान्त एवं उसमें से विकसित उत्तरवर्ती मानसिक साधनाओं का भी ज्ञान था । तथा वे उन्हें निवृत्ति मार्ग के अनुकूल भावों में परिणत करने की शक्ति रखते थे ।

चारुवण्णा लज्जा-तवस्सी-जिह्दिद्या सोही अणियाणा अप्पु-
स्सुआ अब्रहिल्लेसा अप्पडिल्लेस्सा सुमामण्णरया दंता *
इणमेव णिगंथं पावयणं पुरओकाउं विहरंति ।

-उनकी सब जगह भूरि-भूरि प्रशंसा होती थी । उनके लज्जा प्रधान और जितेन्द्रिय शिष्य थे । वे जीवों के सुहृद्(=सोही-मित्र) थे—किसी के भी प्रति उनके हृदय में कलुषित भावना नहीं थी । तप. सयम के बदले में पुण्य फल की इच्छा—याचना नहीं करते थे । उत्सुकता से रहित थे । सयम से बाहर की मनोवृत्तियों से रहित थे । अनुपम अथवा विरोध से रहित वृत्तियों के धारक थे । श्रमण की क्रियाओं में पूर्णत. लीन रहते

* इवचिदेवं च पठयते-‘बहूणं आयरिया बहूणं उवज्जाया दीवो ताणं सरणं गई पइट्ठा’-इति ।

थे । गुरुओं के द्वारा दमन को ग्रहण करते थे—विनय के करने वाले थे और इस निर्ग्रन्थ प्रवचन (=जड-चेतन की ग्रन्थियाँ या उलझनों को सुलझाने के लिये वीतरागों के द्वारा कहे गये अनुशासन) को ही आगे रखकर विचरण करते थे ।

टिप्पण— 'चारुवर्णा' = सत्कीर्ति या शरीर का गौर आदि सुन्दर वर्ण या सत्प्रज्ञा । 'लज्जा-तवस्ती-जिह्दिया' = लज्जाप्रधान जितेन्द्रिय शिष्यों के स्वामी या लज्जा और तप की शोभा के द्वारा इन्द्रियों के जीतने वाले । यद्यपि 'जिह्दिया' विशेषण पहले आ चुका है, तथापि लज्जा और तप के विशेष भाव से युक्त होने के कारण पुनरुक्ति नहीं है (-टी)

वे स्थविर भगवन्त निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही दृष्टि समक्ष रखते थे । क्योंकि वे जानते थे कि छद्मस्थ व्यक्ति कितना ही ज्ञानी और स्थितात्मा क्यों न हो, किन्तु वह निर्ग्रन्थ प्रवचन से निरपेक्ष स्वतन्त्र बुद्धि से निर्दोष विचार नहीं कर सकता । वे निर्ग्रन्थप्रवचन की अनुगामिता को बुद्धि की गुलामी नहीं—किन्तु स्वच्छन्द बुद्धि रूपी जगली घोड़े को वश में करने वाली सुन्दर लगाम मानते थे ।

तेसि णं भगवंताणं × आयावाया वि विदिता भवंति । ● पर-
वाया विदिता भवंति । आयावायं जमइत्ता- † नलवणमिव
मत्तमातंगा, अच्छिद्-पसिण-वागरणा, रयण-करडंग-समाणा,
कुत्तियावणभूया, + पर-वादिय-पमइणा, दुवालसंगिणो
समत्त-गणि-पिडग-धरा,

× आयावाइणो-पा० । ● परवाइणो-पा० । † नलवना-पा० ।

+ वाचनान्तरम्- परवादीहि अणोक्कंता, अण्णउत्थिएहि अणोद्धसि-
ज्जमाणा, अप्पेगइया आयारधरा जाव विवागसुयधरा चोइसपुव्वी-इति ।

-उन भगवन्तो को अपने सिद्धान्तों के प्रवाद भी ज्ञात थे और परवाद (=दूसरे मत- मतान्तर) भी ज्ञात थे। स्व-सिद्धांत को पुनः पुनः परावर्तन से अच्छी तरह जानकर, कमलवन में (रमण करनेवाले) मस्त हाथी के समान, वे लगातार प्रश्न-उत्तर के करनेवाले होकर विचरते थे। वे रत्न के करण्डक के समान और कुत्रिकापण (=तीनों लोक की प्राप्त होने योग्य वस्तुओं की देवाधिष्ठित दुकान) के तुल्य थे। परवादियों का (उनके मत का) मर्दन करनेवाले थे। बारह अंगों के ज्ञाता थे। समस्त (=अनन्त गम और पर्याय से युक्त) गणिपिटक के धारक थे।

टिप्पण—गणिपिटक=अर्थपरिच्छेदों का पिटक के तुल्य स्थान या अर्थ-निर्णयों के कोष-निधि =ग्राचार्य का पिटक अर्थात् प्रकीर्णक, श्रुतादेश, श्रुतनिर्युक्ति आदि से युक्त जिनप्रवचन। बारह अंग के धारक होकर भी, प्रकीर्णकादि का ज्ञाता न हो। अतः इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये, 'दुवालसगिणो' के बाद 'समस्त-' विशेषण आया है। —(टी०)

सञ्चकस्वर-सण्णवाइणो, सञ्च- भासाणुगामिणो, अजिणा जिणसंकासा, जिणा इव अवितहं वागरमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

-वे अक्षरों के सभी सयोगों को जानते थे। सर्वभाषा को जानने वाले थे। जिन (=सर्वज्ञ) नहीं होते हुए भी जिन के समान थे। वे सर्वज्ञ के समान वास्तविक प्रतिपादन करते हुए, समय और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

टिप्पण—सर्वाक्षर-सक्षिपातो =सभी अक्षरों-उच्चारणध्वनियों के

एक -दो आदि विभिन्न सयोगों से, जितने भी शब्द बनते हैं, उन सभी को जाननेवाले को 'सर्वाक्षर-सस्त्रिपाती' लब्धि का धारक कहा जाता है ।

सर्वभाषानुगामी = आर्य, अनार्य और देवादि की सभी भाषाओं के बोलनेवाले अथवा अपनी भाषा में ही बोलते हुए भी लब्धिविशेष से सुननेवाले को अपनी-अपनी भाषा में बोलते हुए प्रतीत हो ऐसी शक्ति के धारक अथवा संस्कृत, प्राकृत, मागधी आदि भाषाओं में व्याख्यान करने वाले (टीकायाम्)

अनगरों के गुण

१७--ते णं काले णं तेणं समए णं समणस्स भगवओ
महावीरस्स अंतेवासी बहवे अणगारा भगवंतो-

-उस काल-उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के बहुत से अन्तेवासी अनगर भगवन्त उनके साथ थे, वे कैसे थे ?
ईरिआसमिआ भासासमिआ एसणासमिआ आदाण-भंड-
मत्त-निक्खेवणासमिआ उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-
पारिट्ठावणिया-समिआ मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता,

-वे हलन-चलनादि क्रिया, भाषा के प्रयोग, आहारादि की याचना, पात्र आदि के उठाने-रखने और मल-मूत्र, खंकार, नाक आदि के मैल को त्यागने में यतनावान् थे । मन, वचन और काया की क्रिया का निरोध करनेवाले थे ।

टिप्पण-सयम के अनुकूल यतनापूर्वक की जानेवाली प्रवृत्ति को समिति और आत्म-रमण के लिये जिन क्रियाओं से निवृत्ति ली जाती है

वह गुप्ति कहलाती है । समिति केवल शुभ प्रवृत्ति रूप ही होती है और अशुभ क्रिया से निवृत्ति एवं शुभक्रिया में प्रवृत्ति रूप तथा अशुभ और शुभ क्रिया से सर्वथा निवृत्ति रूप गुप्ति होती है । इन दोनों को मिलाकर 'अष्ट प्रवचन माता' कहा जाता है ।

गुप्ता गुप्तिदिया गुत्तबंधयारी

-वे अनगार भगवत गुप्त (=अन्तर्मुख- सर्वथा निवृत्त), गुप्तेन्द्रिय (=इन्द्रियो को उनके विषयो के व्यापार में लगाने की उत्सुकता से रहित) और गुप्त ब्रह्मचारी (=नियमोपनियम सहित ब्रह्मचर्य के धारक अर्थात् सुरक्षित ब्रह्मचर्य वाले) थे ।

टिप्पण-टीकाकार ने 'गुप्तिदिया' के स्थान पर विकल्प से 'गुप्ता-गुप्तिदिया' पाठ देकर यह अर्थ किया है-शब्दादि में रागादि नहीं करने के कारण 'गुप्त' और आगम-श्रवण, ईर्ष्या समिति आदि में इन्द्रियों को प्रवृत्त करने के कारण 'अगुप्त' अर्थात् 'गुप्त-अगुप्त-इन्द्रिय'=प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप शुभ उभयपक्ष के धारक थे ।

अममा अक्विचणा * (छिएणग्गंथा छिएणसोआ) निरुपलेवा

अकिञ्चन (=द्रव्य से रहित) थे । वे ममत्व रहित थे ।

वे छिन्नग्रन्थ थे अर्थात् ससार से जोड़ने वाले पदार्थों से मुक्त थे । अत छिन्नस्रोत थे अर्थात् शोक-आर्तता से रहित थे-ससार प्रवाह में नही बहते थे । तथा निरुपलेप अर्थात् कर्मबन्ध के हेतुओं से रहित थे ।

* टीकाकार ने ये पद 'वाचनान्तर' में दिये हैं । वाचनान्तरे-
अकोहा अमाणा अमाया अलोभा सता पसता उवसंता परिनिव्वुआ
अणासवा अगया छिन्नसोआ ।

निर्ग्रथों की उपमाएँ

× कंसपाती व मुक्क-तोया ?

—कांस्य पात्री के समान स्नेह से मुक्त थे ।

टिप्पण—कांसे के वर्तन में पानी का लेप नहीं लगता है । यद्यपि वह पानी को धारण करता है, तदपि कोरा का कोरा रहता है । इसी प्रकार वे अनगार भगवन्त शिष्यों के परिवार से युक्त थे; उपदेश आदि की प्रवृत्ति भी करते थे और व्यवहार में चत्सल भी दिखाई देते थे, किन्तु अन्तरंग में वे स्नेह-रहित थे । क्योंकि स्नेह बन्धन का कारण है ।

संख इव निरंगणा २

शख के समान नीरगण (=रागादि रञ्जनात्मक भाव से रहित) थे ।

टिप्पण—रगण अर्थात् जो हमारे सामने जिस भाव से रंग कर आया हो, उसी भाव में स्वयं भी लीन हो जाना । जैसे-क्रोधी से क्रोध करना, द्वेषी से द्वेष करना, प्रेमी से प्रेम करना, अपनी स्तुति करनेवाले की प्रशंसा करना, अपनी निन्दा करनेवाले की निन्दा करना आदि । जो ऐसे भावों से मुक्त हो वह निरगण है ।

जीवो विव अप्पडिहयगई ३

× टीकाकार ने धाचनान्तर के अनुसार व्याख्या की है । वाच-
नान्तरे इमे सग्रहगाथे—'कंसे १ सखे २ जीवे ३ गयणे ४ जाए ५ य सारए
सलिले ६ पुक्खरपत्ते ७ कुम्भे ८ विहणे ९ खगणे १० भारडे ११ ॥१॥
कुंजर १२ वसहे १३ सीहे १४ नगराया चव १५ सागरऽक्खोहे १६ चदे
१७ सूरे १८ कणगे १९ वसुधरा चव २० सुहयहए २१ ॥२॥

-जीव के समान अप्रतिहत (=रुकावट से रहित) गति वाले थे ।

टिप्पण-गति अर्थात् अपने लक्ष्य को पाने की क्रिया । जब अपने जीवन-लक्ष्य का सही निर्णय हो जाता है और सही मार्ग की प्राप्ति का निश्चय हो जाता है, तो साधक बृढता के साथ, लाखों विघ्नों से भी न घबराते हुए, अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ चला जाता है । गति की शिथिलता उसके विश्वास और मनोबल की कमजोरी की सूचक है । जिस प्रकार जीव को उसके उत्पत्ति-स्थान की ओर जाने से कोई भी नहीं रोक सकता है, उसी प्रकार वे अनगर भगवन्त भी मत-मतान्तर कृत शंका-कुशका या आकांक्षा आदि रुकावटों से शिथिल गति नहीं होते थे ।

जञ्च कण्णमिव जायरूवा ४

-अन्य कुघ्राताओं के मिश्रण से रहित सोने के समान जातरूप (=प्राप्त हुए निर्मल चारित्र्य में वैसे ही भाव से स्थित अर्थात् दोष से रहित चारित्र्यवाले) थे ।

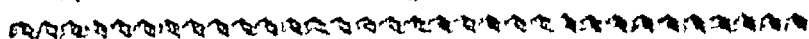
(आदरिस- फलगा इव पायड भावा)

-दर्पणपट्ट के समान प्रकट भाव वाले थे ।

टिप्पण-प्रकट भाव अर्थात् शठता से रहित मन के परिणाम । जैसे कि दर्पण में, जैसे और जिस स्थिति में तपन, सुख आदि होते हैं, उसी रूप में उनकी प्रतिछाया दिखाई देती है, वैसे ही वे अनगर भगवन्त अन्तर में कपट-रहित थे और बाहरी क्रिया में भी निष्कपट-निश्छल थे ।

कुम्मो इव गुत्तिदिया ५

-कच्छप के समान गुप्तेन्द्रिय थे ।



टिप्पण—जैसे हमला होने पर कछुआ अपने घर्कों को ढाल में सकुचित करके, चार को निष्फल बना देता है और सुरक्षित बन जाता है, वैसे ही वे अनगार भगवन्त विकारों का प्रहार होने पर, इन्द्रियों को विषयों से खींचकर, निवृत्ति भाव की ढाल में सकुचित हो जाते थे-छिप जाते थे और विकारों के प्रहार को निष्फल बना देते थे। क्योंकि गतिशील पर से कांटा नहीं निकाला जा सकता है, किन्तु गति से रहित स्थिर पर में से ही कांटा निकाला जा सकता है।

पुष्कर पत्रं च निरुन्नेना ६

—कमलपत्र के समान निर्लेप थे।

टिप्पण—कमल जल और पद्म में उत्पन्न होकर भी उनसे मिश्र रहता है। यदि उसके ऊपर जल गिर भी जाय, तो विन्दुरूप से वहाँ स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार ये भगवन्त अपने स्वजनों की आसक्ति से रहित थे। यदि स्वजन उनके पीछे पड ही जाते, तो वे अपने स्वभाव में उनकी चञ्चल प्रकृति स्थिर बना देते थे और उनकी स्नेह वृत्तियों के फैलाव का अवकाश ही नहीं देते थे।

गगणमिव निरालम्बया ७

—आकाश के समान निरवलम्ब थे।

टिप्पण—जैसे आकाश अपने-आपमें ही स्थित रहता है। किसी के भी अवलम्बन की, उसकी स्थिति में आवश्यकता नहीं रहती। उसी प्रकार वे अनगार भगवन्त भी ग्राम, नगर, उद्यान आदि में निरपेक्ष रहते हुए अपने आपमें लीन रहते थे।

अणिलो इव निरालया * =

* 'अपडिबद्धा'—अचिद्बुद्धयते।

-वायु के समान निरालय (=घर से रहित) थे ।

चंदो इव सोमलेस्सा ६

-चन्द्र के समान सौम्य लेश्यावाले (=किसी को कष्ट पहुँचाने के कारण रूप मन के परिणाम से रहित) थे ।

सूरो इव दित्ततेआ १०

-सूर्य के समान दीप्त तेजवाले (=शारीरिक और आत्मिक तेज से तेजस्वी) थे ।

सागरो इव गंभीरा ११

-समुद्र के समान गभीर थे ।

टिप्पण—गंभीरता अर्थात् हर्ष-शोक आदि के कारण उपस्थित होने पर भी चित्त का निर्विकार रहना ।

विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का १२

-पक्षी के समान पूर्णतः विप्रमुक्त थे ।

टिप्पण—जैसे पक्षी परिवार से या सेवक आदि से घिरे हुए नहीं रहते हैं—उनके वासस्थान नियत नहीं रहते हैं, इसी प्रकार वे अनगार भी सेवकादि और नियत वास से मुक्त थे ।

मंदर इव अप्पकंपा १३

-मेरु पर्वत के समान अप्रकम्प (=अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों—कष्टों में अडोल) थे ।

सारयसलिलं व सुद्ध-हिअया १४

—शरद् ऋतु के जल के समान शुद्ध हृदयवाले थे ।

खग्गि-विसाणं व एगजाया १५

—गेडे के सिंग समान एक जान (=रागादि के सहायक भावों के अभाव के कारण एकभूत) थे ।

भारंड पक्खी व अप्पमत्ता १६

—भारण्डपक्षी के समान अप्रमत्त (=सदा जागृत) थे ।

टिप्पण—भारण्डपक्षी के एक शरीर, दो ग्रीवा और तीन पैर होते हैं । उसके दोनों मस्तिष्क भिन्न होते हैं । अतः वह अत्यन्त जागृत रह कर ही जीवनयात्रा का निर्वाह करता है ।

कुंजरो इव सोंडीरा १७

—हाथी के समान शूर (=रूपायादि भाव शत्रुओं को जीतने में बलशाली) थे ।

वसभो इव जायत्थामा १८

—वृषभ के समान जातस्थाम (=वैर्यवान्) थे ।

टिप्पण—जैसे वृषभ धीरता के साथ भार वहन करते हैं, वैसे ही वे ली हुई प्रतिज्ञा का भार धर्म के साथ वहन करते थे ।

सीहो इव दुद्धरिसा १९

—सिंह के समान दुर्बर्ष (=परीषहादि मृगों से नहीं हारनेवाले) थे ।

वसुंधरा इव सञ्च-फास-विसहा २०

—पृथ्वी के समान सभी (शीत-उष्ण आदि) स्पर्शों को सहनेवाले थे ।

सुहुअ-हुआसणो इव तेअसा जलंता २१

—घृत आदि से अच्छी तरह हवन की हुई हुताशन (=अग्नि) के समान (ज्ञान और तप रूप) तेज से जाज्वल्यमान थे ।

अनगारों का अप्रतिबंध विहार

नत्थि एं तेसि एं भगवंताणं कत्थइ पडिवंधे भवइ ।

—उन भगवन्तो के कही पर किसी प्रकार का प्रतिबंध (=अटकाव, रोक या आसक्ति का कारण) नहीं था ।

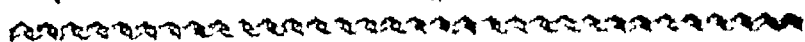
से अ पडिवंधे चउव्विहे पएणत्ते

—वह प्रतिबंध (आसक्ति) चार प्रकार का कहा गया है ।

तं जहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ ।

—वे चार प्रकार ये हैं—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से ।

दव्वओ णं सच्चित्तचित्तमीसिएसु दव्वेसु, खेत्तओ गामे वा णयरे वा रण्णे वा खेत्ते वा खले वा घरे वा अंगणे वा, कालओ समये वा आवलियाए वा जाव अयणे वा अएणतरे वा दीह-काल-संजोगे, भावओ कोहे वा माणे वा मायाए



वा लोहे वा भण वा हासे वा-एवं तेमि ग् भवड ।

-द्रव्य से सवित्त, अचित्त गोर मित्र द्रव्यों में, क्षेत्र से ग्राम, नगर, जगल, सेत, जला, घर और आगन में, काम में समय, आवलिका यावन् अयन और अन्य भी दीर्घकालीन सयोग में और भाव में क्रोध, मान, माया, लोभ, भय या हास्य में-उनका ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था ।

टिप्पण-‘यावत्’ पद से ‘अणपाणू वा रोधे वा तवे वा मुहूर्तं वा अहोरत्ते वा पफये वा मासे वा’ पदों का समग्र किया गया है ।
 ‘अणपाणू=उच्छ्वास-निश्वास फल । धोव=७ अणपाण । तय=७ धोव ।
 मुहूर्तं=७७ लव । अयन=२५ महीने । वीहफल सजोग=मी धर्य आदि ।
 समय=काल का अविभाज्य (=जिसका फिर भाग न किया जा सके ऐसा) विभाग । आवलिका=प्रसवप्राप्त समय । एक मुहूर्त, १ फोट, ६७ ताग, ७७ हजार, २ सौ सोलह आवलिका के बराबर होता है ।

ते एां भगवतो वासावासवज्जं अट्ट-गिम्ह-हेमंतिआणि
 मासाणि गामे एगराड्आ, णयरे पंचराड्आ-

-वे अनगर भगवन्त, वपत्रास को छोड़कर, ग्रीष्म और शीतकाल के आठ महिनो तक, गांव में एक रात और नगर में पांच रात रहते थे ।

टिप्पण-‘गांवों में एक रात्रि और नगर में पांच रात्रि’ इसमें ‘एक रात्रि’ का अर्थ वासर क्रम से ‘एक सप्ताह’ और ‘पांच रात्रि’ का अर्थ ‘पांचवे सप्ताह’ में विहार (२६ दिन) करते हैं । जो मास कल्प के अनुकूल हैं ।

वासी-चंदण-समाण-कप्पा

—वे वासी चन्दन के समान कल्पवाले थे ।

टिप्पण—चन्दन अपने काटनेवाले वशुले की धारकी भी सुगन्धित बना देता है। क्योंकि चन्दन का स्वभाव ही सुगन्ध देना है। इसी प्रकार अपकारी के प्रति भी उपकार बृद्धि रखना अथवा अपने प्रति 'वासी' के समान बरताव करनेवाले अपकारी और चन्दन के समान शीतलता प्रदाता उपकारी के प्रति समान भाव रखना—राग द्वेष नहीं करना अथवा शस्त्र से दुःख देनेवाले और चन्दन से पूजने वाले के प्रति समभाव रखना 'वासी-चंदण-समाण-कप्प' कहा जाता है ।

सम-लेट्टु-कंचणा सम-सुह-दुक्खा

—मिट्टी के ढेले और सोने को एक समान (उपेक्षणीय) समझने वाले तथा मुख और दुःख को समभाव से सहनेवाले थे ।

टिप्पण—ढेला और सोना दोनों ही पुद्गल हैं। मिट्टी सोने में बदल सकती है और सोना मिट्टी बन सकता है। अतः दोनों में एक ही तत्त्व है। आत्मिक भाव वृद्धि में उनसे सहयोग नहीं मिल सकता। अतः उनमें लोभ आदि नहीं करना—समभाव है ।

सुख-दुःख कर्म के उदय से ही होता है। दूसरे तो निमित्त मात्र हैं। अतः सुख-दुःख को समभाव से सहने से ही कर्म का क्षय हो सकता है ।

इहल्लोग-परल्लोग-अप्पडिबद्धा संसार-पारगामी कम्म-णिग्घा-
यणट्ठाए अब्भुट्ठिआ विहरंति ।

—वे इहलोक और परलोक सम्बन्धी आसक्ति से रहित और संसार-पारगामी (चतुर्गति रूप संसार के पार पहुँचने

वाले) कर्म-नाश के लिये तत्पर होकर विचरण करते थे ।

दिप्पण—इस पूरे सूत्र में अनगार का स्वरूप वर्णित है । भगवान् महावीर देव के शिष्यों की सयम यात्रा, निर्लिप्तता, उपमाओं द्वारा स्तुति-प्रशंसा, अप्रतिबद्ध विहार की क्रमबद्धता, समभावना और ऐसी कठोर चर्या के उद्देश्य का वर्णन सुन्दर ढंग से हुआ है ।

आगारवास में आसक्त व्यक्ति की हलन चलनादि क्रिया में, भाषा-प्रयोग में, आकाक्षा आदि में सयम नहीं रह सकता । उसकी वृत्ति प्रायः बहिर्मुख ही रहती है । उन्हें इहलौकिक स्वायं-परमार्थ की चिन्ताएँ सताती रहती हैं । जीवनलक्ष्य के प्रति भी उनका सही विचार नहीं बन सकता । अन्तर्-व्यथा और उलझनों से भ्रान्तिर्या बढ़ती ही जाती है । जब कि अनगार-श्रवस्या में आस्यावान् व्यक्ति इन कठिनाइयों से सहज में पार हो जाता है और हो जाता है अपने लक्ष्य की ओर उसका वायुवेग-सा गमन । वे घरवार को छोड़कर अनगार बन जाते हैं । अतः घर से सम्बन्धित तमाम आसक्तियाँ छोड़ देते हैं । स्वयं के लिये जिन्हें अन्तार समझकर छोड़ दिया हो, फिर 'अन्य को वे ही वस्तुएँ प्राप्त हों'—ऐसे चिन्तन या ऐसी क्षणभङ्ग में, वे कैसे पड़ सकते हैं और नविष्य में उन्हीं वस्तुओं की प्राप्ति की कामनाएँ उनके हृदय में कैसे रह सकती हैं ? अतः अनगार सहज ही ऐहिक-पारलौकिक आसक्तियों से मुक्त हो जाते हैं । जो सभी आसक्तियों को छोड़कर, आत्मिक लक्ष्य के अनुकूल जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करता है तो वह अपकारी-उपकारी व्यक्तियों के प्रति, शुभ-अशुभ वस्तुओं के प्रति और अपनी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रति समभाव रखने पर ही संसार-पारगामी होकर, कर्मसय के लिये तत्पर बन सकता है । अर्थात् स्पष्ट आत्मिक लक्ष्य की सतत स्मृति, बहिर्वृत्ति से मुक्ति, समभावना, अनासक्ति, निर्लिप्तता और क्रिया में यतना के अस्तित्व से ही अनगार जीवन का निर्माण होता है ।

अनगारों की तपश्चर्या

१८—तेसि एां भगवंताणां एएणां विहारेणां विहर-
माणाणां इमे एआरूवे⁺ अविंभतर-वाहिरए तवोवहाणे
होत्था । तं जहा-अविंभतरए छविहए, वाहिरए वि छविहए ।

—इस प्रकार के विहार से विचरण करनेवाले उन
अनगार भगवतों का यों इस रूप से बाह्य और आभ्यन्तर
तपाचरण था । जैसे कि—आभ्यन्तर तप के छह प्रकार और
बाह्य तप के भी छह प्रकार ।

टिप्पण—अन्तर-साधनों से बहिराचरण को प्रभावित करके,
अन्तर्मुख होने या आत्मिक दोषों को त्यागने की आन्तरिक क्रिया को
आभ्यन्तर तप कहते हैं और बाहरी साधनों से आत्मक्रिया को प्रभावित
करने अर्थात् जिन बाहरी साधनों से आत्मक्रिया दूषित होती हो उन
साधनों के त्याग को बाह्यतप । मोक्षमार्ग में दोनों प्रकार के तप का
स्थान है । शास्त्रों में वर्णित महापुरुषों के जीवन चरित्र भी इस बात
की पुष्टि करते हैं । मोक्ष भावना से निरपेक्ष दोनों प्रकार के तप अकाम-
निर्जरा में ही परिगणित होते हैं । आत्मलक्ष्य और आत्मज्ञान से शून्य
निर्जरा (=तप) पुण्य-बन्ध में ही सहायक होकर रह जाती है । इसके
प्रमाण स्वरूप में अभव्य जीव की साधना कही जा सकती है । सम्यग्-
दृष्टि की साधना की अपेक्षा से ही बाह्य और आभ्यन्तर भेद किये गये
हों—ऐसा लगता है; क्योंकि विकलदृष्टि कृत आभ्यन्तर तप भी वस्तुतः
बाह्यतप ही है और उस तप की संज्ञा अकामनिर्जरा =आत्मशुद्धि

रूप फल की प्राप्ति न हो वंसा तप) है । टीकाकारकृत व्याख्या भी इस बात को पुष्ट ही करती है । यथा—'भीतरी ही शरीर को तपाने के कारण और सम्यग्दृष्टि के द्वारा ही तपरूप से प्रतीत होने के कारण तप की 'आभ्यन्तर' सज्ञा है और बाहरी ही शरीर को तपाने के कारण तथा मिय्यादृष्टि के द्वारा भी तपरूप से प्रतीत होने के कारण तप की बाह्य सज्ञा है' ।

शक्ति होते हुए भी आभ्यन्तर तप के वहाने यदि बाह्यतप की उपेक्षा की जाती है तो आत्मा मिय्या छल में फँसकर, बहिर्मुल बन जाता है और आभ्यन्तर तप की अचहेलना करके, बाह्यतप किया जाता है तो श्रोत्रादि कषायों की वृद्धि होती है, जिससे पौद्गलिक श्रद्धियों में उलझने की वृत्ति का निर्माण होता है । परस्पर निरपेक्ष दोनों प्रकार के तप केवलप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट कर दे—यह भी संभव है । अतः दोनों प्रकार के तप के सामञ्जस्य पूर्ण आराधन में ही सम्यग्दृष्टि और चारित्र्य की सुरक्षा है ।

शक्ति के वहाने से भी बाह्यतप की उपेक्षा होती है । किन्तु मनोबल की दृढता के साथ विविध बाह्य तपों का विधि सहित प्रयोग करने पर तप शक्ति स्वतः ही विकसित हो सकती है और श्रमण अनेक अनिष्टों से बच सकता है । क्योंकि आत्मा के परिस्पन्द से धीर्य पैदा होता है और जब तक आत्मा योग (=मन, वचन और काया की क्रिया) से युक्त है तब तक वह निस्पन्द नहीं हो सकता । अतः धीर्य (=क्रिया करने का उत्साह) पैदा होगा ही । यदि उसका उपयोग नहीं किया जाता है तो आत्मा का अधःपतन होता है—आकुलता बढ़ती है और वृथा क्रियाएँ जन्म लेती हैं । इसलिये उस धीर्य का बाह्य और आभ्यन्तर तप में उपयोग करके, आत्मविकास को पूर्णता के चरम शिखर पर पहुँचाया जा सकता है ।

बाह्य तप

१ हि--से किं तं बाहिरए ? बाहिरए छ्विहे पण्णत्ते; तं जहा-अणसणे १, †अवमोयरिया २, भिक्खायरिया ३, रसपरिच्चाए ४, कायकिलेसे ५, पडिसंलीणया ६ ।

बाह्यतप किसे कहते हैं ?—बाह्यतप छह प्रकार का कहा गया है । जैसे—१ अनशन (=नहीं खाना), २ अवमोद-रिका (=कम खाना अथवा द्रव्य-भाव साधनों को कम काम में लेना), ३ भिक्षाचर्या (=याचना से प्राप्त सयमी जीवन के योग्य साधनों को लेना या वृत्ति=आजीविका के साधनों को घटाना), ४ रस-परित्याग (=रसास्वाद को छोड़ना), ५ काय-क्लेश (=सुकुमारता त्यागने के लिये कायिक दमन के योग्य उपायों को स्वीकार करना) और ६ प्रतिसलीनता (=अन्त-र्बाह्य चेष्टाओं का सवरण करने के लिये किये जानेवाले बाहरी उपाय) ।

टिप्पण—यदि ये बाह्यतप मुक्ति की अभिलाषा से तीव्र आन्तरिक रुचि से किये जाते हैं तो गौण रूप से आभ्यन्तर तप की साधना भी होती है और आत्मिक गुणों का विकास तो होता ही है । अनशन से मंत्री भावना का पोषण, कामुकता के उद्दीपन का अभाव, अन्नमोह का त्याग दंष्ट्रिक ममता पर विजय आदि गुण प्राप्त होते हैं । न्यूनोदरता से इच्छा-निरोध, इन्द्रिय-निरोध, मनोबल की दृढ़ता आदि गुण सधते हैं । भिक्षा-

चर्या से आवश्यकता की पूर्ति या अपूर्ति की विविध स्थितियों में सम भाव की साधना की जा सकती है। रसपरित्याग से अनासक्ति की पुष्टि की जा सकती है और असातावेदनीय का क्षय किया जा सकता है। कायक्लेश से सुकुमारता के पङ्क्तिहार, सुखशीलियापन के त्याग, ऋतु के अनुकूल शरीर को बनाने, कष्टसहिष्णुता आदि की साधना में सहायता ली जा सकती है। और प्रतिसलीनता से चित्तशान्ति, एकाग्रता आदि की वृद्धि की जा सकती है।

से किं तं अणसणे? अणसणे दुविहे पण्णत्ते; तं जहा-उत्तरिए य आवकहिए य ।

अनशन किसे कहते हैं ? -अनशन के दो भेद कहे गये हैं। जैसे-१ इत्वरिक (=मर्यादित समय के लिये आहार छोड़ना) और २ यावत्कथिक (=जीवन पर्यन्त आहार-त्याग)।

से किं तं इत्तरिए ?-इत्तरिए अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा-चउत्थभत्ते छट्ठभत्ते अट्ठमभत्ते दसमभत्ते वारसभत्ते चउदस-भत्ते सोलसभत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते दोमासिए भत्ते, तेमासिए भत्ते, चउमासिए भत्ते, पंचमासिए भत्ते, छम्मासिए भत्ते । से तं इत्तरिए ।

इत्वरिक अनशन किसे कहते हैं ? -इत्वरिक अ० के अनेक भेद कहे हैं। जैसे-चतुर्थभक्त (=एक दिनरात के लिये आहार त्याग), षष्ठभक्त (=दो दिन के उपवास), अष्टमभक्त (=तीन दिन के उपवास), दशमभक्त (=चार दिन के उपवास), द्वादशभक्त (=पाँच दिन के उपवास), चतुर्दश-

भक्त (=छह दिन के उपवास), षोडशभक्त (=सात दिन के उपवास), अर्द्धमासिकभक्त (=पदरह दिन के उपवास), मासिकभक्त, द्विमासिकभक्त, त्रैमासिकभक्त, चातुर्मासिकभक्त, पञ्चमासिकभक्त और षण्मासिकभक्त (=छह महीने के उपवास)। यह ऐसा इत्वरिक तप है।

से किं तं आवकहिए ?-आवकहिए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खामे य ।

यावत्कथिक किसे कहते हैं ?-यावत्कथिक के दो भेद कहे गये हैं। जैसे-१ पादपोपगमन (=वृक्ष के समान जीवन पर्यन्त स्थिर शरीर से रहकर, आहार को त्याग देना) और २ भक्तप्रत्याख्यान (=जीवन पर्यन्त आहार का त्याग)।

से किं तं पाओवगमणे ?-पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-वाघाड्ढमे अ निव्वाघाड्ढमे अ । नियमा अप्पडिकम्मे । से तं पाओवगमणे ।

पादपोपगमन किसे कहते हैं ?-पादपोपगमन के दो भेद कहे गये हैं। जैसे-१ व्याघातिम (=सिंह, दावानल आदि उपद्रवों के आने से नि.स्पद-निराहार रहना) और २ निव्यघातिम (=सिंह आदि के उपद्रवों के नहीं होने पर भी मरण-काल को समीप जानकर, स्वेच्छा से जीवनपर्यन्त नि.स्पद-निराहार रहना)। इस अनशन में प्रतिकर्म (=शरीर संस्कार खुजालना, हलन-चलन आदि) करते नहीं हैं। यह ऐसा पादपोपगमन यावत्कथिक अनशन है।

से किं तं भक्तपञ्चखाणे ?-भक्तपञ्चखाणे दुविहे पण्णत्ते ।
 तं जहा-वाघाइमे य निव्वाघाइमे य । नियमा सप्पडिकम्मे ।
 से तं भक्तपञ्चखाणे । से तं अणमणे ।

भक्तप्रत्याख्यान किसे कहते हैं ?-भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद कहे गये हैं । जैसे-१ व्याघातिम (=सिंह आदि के उपद्रवों के आने पर, उन्हें सहते हुए, जीवनभर के लिये तीन या चार आहार का त्याग करना) और २ निर्व्याघातिम (=उपद्रवों के नहीं आने पर भी जीवनभर के लिये तीन या चार आहार का त्याग करना) । भक्तप्रत्याख्यान में प्रतिकर्म (=शरीर-शुद्धि, हलन-चलन, गमन आदि) अवश्य होता है । यह ऐसा भक्तप्रत्याख्यान है । इस प्रकार यह अनशन का स्वरूप कहा गया है ।

टिप्पण-साधकों के लिये मरण भी महोत्सव बन जाता है । आगे-पीछे देह का त्याग अवश्य करना पडता है । यह जानते हुए भी मरण के समय धैर्य रखना बड़ा कठिन हो जाता है । किन्तु साधक प्रतिपल उस काल के लिये तैयार रहते हैं । फिर भी अपनी शारीरिक शक्ति आदि से अपने अन्तकाल को नजदीक जानकर, विशेष प्रकार की तैयारी प्रारम्भ कर देते हैं और जीवनपर्यन्त आहारादि को छोड़ देते हैं । जब इस देह से अब समय-साधना आदि नहीं हो सकती है तब इससे चिपटने में क्या लाभ ?-दूसरों की देहों से अब इस देह का पोषण क्यों किया जाय ? ऐसा विचार करके, जीने-मरने की आकांक्षा को छोड़कर, दैहिक भाव से दूर हो जाते हैं-आत्मभाव में तल्लीन बन जाते हैं ।

से किं तं ओमोयरिया ?-ओमोयरिया दुविहा पण्णत्ता ।

तं जहा-द्व्वोमोयरिया य, भावोमोयरिया य ।

अवमोदरिका किसे कहते हैं ?—अवमोदरिका (=पेट को पूरा नहीं भरना)के दो भेद कहे गये हैं । १ द्रव्य-अवमोदरिका (=अपने से भिन्न बाहरी साधनों का पेट भरकर उपयोग नहीं करना) और भाव अवमोदरिका (=प्रावेशात्मक भावों का जी भरकर सेवन नहीं करना) ।

से किं तं द्व्वोमोयरिया ? द्व्वोमोयरिया दुविहा पण्णत्ता ।
तं जहा-उवगरण-द्व्वोमोयरिया, भत्त-पाण द्व्वोमोयरिया य ।

द्रव्य अवमोदरिका किसे कहते हैं ?—द्रव्य अवमोदरिका के दो भेद कहे गये हैं । जैसे—१ उपकरण द्रव्य अवमोदरिका (=वस्त्र आदि का अल्प उपयोग) और २ भक्तपान अवमोदरिका (=आहार-पानी अल्प मात्रा में लेना) ।

से किं तं उवगरण-द्व्वोमोयरिया ?—उवगरण द्व्वोमोयरिया तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-एगे वत्थे, एगे पाए, चियत्तो-वगरण-साइञ्जणया । से तं उवगरण-द्व्वोमोयरिया ।

उपकरण द्रव्य अवमोदरिका किसे कहते हैं ?—उपकरण द्रव्य अवमोदरिका के तीन भेद कहे गये हैं । जैसे—१ एक वस्त्र, २ एक पात्र और ३ प्रीतिकारी, विश्वासकारी और दोषरहित उपकरण रखना । यह ऐसी उपकरण-द्रव्य अवमोदरिका है ।

टिप्पण—'चियत्त उवगरण' के विभिन्न अर्थ मिलते हैं—(१) दोषों से जो छोड़ दिये गये हों—ऐसे उपकरण, (२) सयमियों के द्वारा छोड़े गये उपकरण, (३) जूने-पुराने वस्त्रादि और (४) प्रतीतकारी उपकरण।
 से किं तं भत्तपाण-दव्वोमोयरिआ ?—भत्तपाण-दव्वोमोय-रिआ-अरण्णविहा पण्णत्ता । तंजहा-अट्ठ-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाणे अप्पाहारे ।

भक्तपान द्रव्य अवमोदरिका किसे कहते हैं ?—भक्त-पान द्रव्य अवमोदरिका के अनेक भेद हैं। जैसे—१ मुर्गी के अण्डे के बराबर (मुख में आमानी से समा सके ऐसे) आठ कवल प्रमाण मात्र आहार करना अल्पाहार है।

दुवालस-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाणे अवड्ढोमोयरिआ ।

२ बारह कवल प्रमाण आहार करना उपाद्ध (आधी से अधिक) अवमोदरिका है।

सोलस-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाणे दुभाग-पत्तो मोयरिआ ।

३ सोलह कवल प्रमाण आहार करना द्विभाग (=आधी) अवमोदरिका है।

चउव्वीस-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाणे पत्तोमोयरिआ ।

४ चौबीस कवल प्रमाण आहार करना प्राप्त (=चौथाई) अवमोदरिका है।

एकतीस-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण मेत्ते कवले आहारमाणे किंचूणोमोयरिआ ।

५ इकतीस कवल प्रमाण आहार करना किञ्चिन्न्यून (=कुछ कम) अवमोदरिका है ।

बत्तीस-कुक्कुडि-अंडग-प्पमाण-मेत्ते कवले आहारमाणे पमाण-पत्ता । एत्तो एगेण वि घासेण ऊणयं आहार-माहारेमाणे समणे णिगंथे णो पकाम-रस-भोईत्ति वत्तवं सिया । से तं भत्तपाण-दव्वोमोयरिआ । से तं दव्वोमोयरिआ ।

बत्तीस कवल प्रमाण आहार करनेवाला प्रमाण प्राप्त (=पूर्ण आहार करनेवाला) है । इससे (बत्तीस कवल से) एक ग्रास भी कम खानेवाला श्रमण-निर्ग्रन्थ प्रकार-रस-भोजी (=बहुत अधिक खानेवाला) कहे जाने योग्य नहीं है । यह ऐसी भक्तपान द्रव्य अवमोदरिका है । इस प्रकार यह द्रव्यअवमोदरिका का स्वरूप है ।

टिप्पण—अवमोदरिका के अन्दर कहा गया कवल का प्रमाण, स्वस्थ और एक समय खानेवाले पुरुष की अपेक्षा से है । कोई ऐसा भी कहते हैं कि—जिसका जितना आहार प्रमाण हो, उसके बत्तीस हिस्से करके, अपनी-अपनी न्यूनोदरता का प्रमाण निश्चित करना चाहिए ।

कम आहार करने में भी इच्छा का निरोध करना पड़ता है । बिलकुल नहीं खाना कुछ सरल है । किन्तु खाने बैठकर, आधे पेट खाकर ही उठ जाना कुछ कठिन है । जो न्यूनोदरता तप को करता रहता है, वह अपनी खाने की इच्छा के निरोध के साथ ही साथ आवेशो पर भी

विजय-प्राप्त करने की क्षमता की वृद्धि कर सकता है। व्यक्ति बिना खाये रह सकता हो, तो कोई क्षण्ट नहीं, किन्तु ऐसा संभव नहीं है। श्रत खाते हुए भी खाने की इच्छा पर काबू रहे-इस ध्येय की पूर्ति त कुछ इस तप के द्वारा होती है।

किं तं भावोमोयरिया ?-भावोमोयरिया अणोगविहा पणत्ता । तं जहा-अप्पकोहे अप्पमाणे अप्पमाए अप्पलोहे अप्पसहे अप्पभंभे । से तं भावोमोयरिया । से तं ओमो-यरिया ।

भाव अवमोदरिका किसे कहते हैं ?-भाव अवमोदरिका के अनेक भेद है। जैसे-अल्प क्रोध, अल्प मान, अल्प माया, अल्प लोभ, अल्प शब्द (=कलह अर्थात् क्रोध से होनेवाली शब्द की प्रवृत्ति की कमी), अल्प झञ्झ (=अविद्यमान कलह विशेष)। यह ऐसी भाव अवमोदरिका है। इस प्रकार अवमोदरिका का स्वरूप कहा गया है।

टिप्पण-अल्प शब्द =(१) कलह नहीं करना या (२) वचन का अभाव। यहाँ अल्प शब्द का अर्थ अभाव लिया गया है। इसका यह आशय प्रतीत होता है कि क्रोध आदि का उदय तो हो जाता है, किन्तु उन्हें किन्हीं उपायों से टाल देना या इनके निमित्तों से अलग हट जाना।

से किं तं भिक्षायरिया ?-भिक्षायरिया अणोगविहा पणत्ता । तं जहा-दव्वाभिग्गहचरण-

भिक्षाचर्या किसे कहते हैं ?-भिक्षाचर्या के अनेक भेद है। जैसे १ द्रव्य (=खाने-पीने की वस्तु आदि) से सम्बन्धित

प्रतिज्ञा को धारण करनेवाले ।

टिप्पण—द्रव्य अभिग्रह=अमुक वस्तु मिले तो लेने की, द्रव्यों की संख्या आदि की प्रतिज्ञा ।

खेत्ताभिग्रहचरण कालाभिग्रहचरण भावाभिग्रहचरण

२ स्व-पर ग्रामादि से सम्बन्धित प्रतिज्ञा का सेवन करनेवाले, ३ पूर्वाह्ण (=पहला पहर) आदि विषय का अभिग्रह (=प्रतिज्ञा) करनेवाले, ४ गान-हसन-वात्तादि में प्रवृत्त स्त्री-पुरुषादि से सम्बन्धित अभिग्रह करनेवाले ।

उक्खित्तचरण णिक्खित्तचरण उक्खित्त-णिक्खित्त-चरण
णिक्खित्त-उक्खित्त-चरण वट्टिज्जमाण-चरण साहरिज्ज-
माणचरण ।

५ भोजन पकाने के पात्र से गृहस्थ के अपने प्रयोजन के लिये निकाले हुए आहार के प्राप्त होने की प्रतिज्ञा करने वाले, ६ पाकभाजन (=भोजन के पात्र) से नहीं निकाले हुए आहार को लेने की प्रतिज्ञा करनेवाले, ७ पाकभाजन से निकालकर वही या अन्यत्र रखे हुए आहार की अथवा स्व-प्रयोजन के लिये निकाले हुए और नहीं निकाले हुए दोनों तरह के आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले, ८ पाकभाजन में रहे हुए भोजन में से गृहस्थ के स्व-प्रयोजन के लिये निकाले जाते हुए अर्थात् एकाध चम्मच निकाला हो और कुछ निकालना बाकी हो ऐसे आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले, ९ खाने के लिये परोसे हुए भोजन में से लेने की प्रतिज्ञावाले, १० जो

भोजन ठडा करने के लिये वस्त्र-पात्रादि में फैलाया गया हो और वह पुन. समेट कर पात्रादि में डाला जा रहा हो—ऐसे आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले (भगवान् महावीर के भिक्षुक शिष्य थे) ।

टिप्पण—'निक्षिप्त उत्क्षिप्त' का अर्थ विकल्प—(१) उस पात्र से निकालकर, पुन. उसी पात्र में डाले हुए भोजन को अपने लिये निकाल कर देना ।

उवणीअचरण अवणीअचरण उवणीयावणीयचरण अवणीय-
उवणीय-चरण

११ किसी के द्वारा किसी के लिये भेजी हुई भेंट या उपहार-सामग्री में से लेने की प्रतिज्ञावाले, १२ किसी के लिये दी जानेवाली या एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखी हुई आहार-सामग्री में से लेने की प्रतिज्ञावाले, १३ उपहार-सामग्री जो कि स्थानान्तरित कर दी गई हो, उसमें से लेने की प्रतिज्ञावाले । अथवा उपनीत और अपनीत दोनो प्रकार का आहार, अथवा दायक के द्वारा पहले गुण और बाद में अवगुण कथन सहित दिये जानेवाले आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले, १४ किसी के लिये भेजने के लिये या उपहार देने के लिये अलग रखे हुए आहार अथवा पहले अपनीत और बादमें उपनीत-इस क्रम से दोनो प्रकार का आहार, अथवा दाता के द्वारा प्रथम अवगुण और बाद में गुण कथन सहित दिये जानेवाले आहार को लेनेवाले ।

संसङ्घचरण असंसङ्घचरण तज्जायसंसङ्घचरण

१५ भरे हुए हस्तादि से दिये जानेवाले आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले १६ स्वच्छ हस्तादि से दिये जानेवाले आहार को लेने की प्रतिज्ञावाले, १७ दिये जानेवाले पदार्थ से भरे हुए हस्तादि से दिये जानेवाले आहार को लेनेवाले ।

अण्णायचरण मोग्गचरण दिट्ठलाभिए अदिट्ठलाभिए पुट्ठलाभिए अपुट्ठलाभिए भिक्खालाभिए अभिक्खलाभिए

१८ अज्ञात (=जिसके द्वारा अपने प्रति अपनेपन की भावना से रहित आचरण होता हो ऐसे व्यक्ति) से भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करनेवाले, १९ मौन रूप से या मौन दाता से आहार लेनेवाले, २० दिखाई देनेवाले आहारादि को लेनेवाले अथवा पहले देखे हुए दाता के हाथ से आहार-लाभ करने की प्रतिज्ञावाले, २१ अदृष्ट भक्तादि अथवा पहले से अनुपलब्ध-नहीं देखे हुए दाता के आहार के लाभ की प्रतिज्ञा वाले । २२ 'हे साधु ! तुम्हें क्या दें ?'—इस प्रकार पूछकर दिये जानेवाले आहार को लेनेवाले । २३ बिना प्रश्न किये ही दिये जानेवाले आहार को लेनेवाले, २४ भिक्षा के समान भिक्षा (=नुच्छ आहार) लेनेवाले, २५ जो भिक्षा के तुल्य नहीं है ऐसी भिक्षा (=सामान्य आहार) लेनेवाले ।

अण्णगिलायए ओवण्हिए परिमिय-पिंड-चाइए सुद्धेसण्हिए संखादत्तिए । से तं भिक्खायरिया ।

२६ अन्नग्लायक (=अभिग्रह विशेष से मुवह में ही रातवामी ठण्डा आहार लेनेवाले), २७ उपनिहित (=भोजन करने को बैठे हुए गृहस्थ के समीप में रखे हुए) आहार में से लेनेवाले, २८ अल्प आहार लेनेवाले, २९ शुद्ध आहार (=व्यञ्जन से रहित या शङ्कादि दोष में रहित आहार) लेनेवाले और ३० दत्ति (=पात्र में आहार क्षेपण-डालने) की गिनती से आहार लेनेवाले थे। यह भिक्षाचर्या का स्वरूप है।

टिप्पण—'अन्नग्लायक' की व्याख्या—'स चाभिग्रह विशेषात् प्रातरेव दोषान्नभृगिति' की गई है। यहाँ पर जो 'दोषा' शब्द आया है उसका अर्थ 'रात्रि' होता है। अतः दोषान्न का अर्थ है—रातवासी रहा हुआ भोजन लेने की प्रतिज्ञा वाले साधु।

से किं तं रस-परिच्चाए?—रस-परिच्चाए अणोगविहे पणत्ते ।
तं जहा-णिव्वियत्तिए पणीय-रस-परिच्चाई आयंविल्लए
आयामसित्थभोई अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे पंताहारे
लूहाहारे⁺ । से तं रसपरिच्चाए

रस-परित्याग किसे कहते हैं?—रसपरित्याग के अनेक भेद हैं। जैसे—१ विकृति (=घी, तेल, दूध, दही, गुड-शक्कर) से रहित आहार करनेवाले, २ जिसमें से घी दूध चासनी आदि के बिन्दु टपकते हों ऐसे आहार को छोड़नेवाले, ३ मिर्च-मसाले से रहित रोटी-भात आदि रूखा-सूखा अन्न या भुना हुआ अन्न, पानी में भिगोकर खानेवाले, ४ ओसामन और

+—'तुच्छाहारे' त्ति क्वचिद् दृश्यते

उसमें गिरे हुए कण आदि को लेनेवाले, ५ अरस (=हिंग आदि से बिना छौंका हुआ) आहार करनेवाले, ६ विरस (=पुराना-घान्य, जो स्वभाव से ही बे स्वाद हो गया हो-ऐसा) आहार करनेवाले, ७ अन्त (=हलकी जाति का वल्लादि अन्न का) आहार करनेवाले, ८ प्रान्त (खाने के बाद बचा हुआ वल्लादि अन्न का) आहार करनेवाले और ९ रूक्ष (=रूखा-सूखा, जीभ को अप्रिय लगनेवाला) आहार करनेवाले (भगवान् के शिष्य) थे। यह रसपरित्याग का स्वरूप है।

से किं तं कायकिलेसे?—कायकिलेसे अणोगविहे पण्णत्ते । तं जहा-ठाणड्डिइए* उक्कुडु-आसणिए पडिमट्टाई वीरासणिए

कायकलेश किसे कहते हैं?—कायकलेश के अनेक भेद हैं। जैसे—१ स्थान (=खडे या बैठे हुए एक आसन) से स्थिर रहनेवाले, २ उत्कटासन (=पुट्ठी को जमीन पर न टिकाते हुए, केवल पैरो पर ही बैठने की स्थिति) से रहनेवाले, ३ मासिकी आदि प्रतिमा करनेवाले, ४ वीरासन (=भूमि पर पैर रखकर, सिंहासन के समान बैठने की स्थिति) से रहनेवाले,

नेसज्जिए^x आयावए अवाउडए अरुंडुयए अणिट्टुहए सव्व-गाय-परिकम्म-विभूस-विप्पमुक्के । से तं कायकिलेसे ।

*'ठाणाइए'-पाठा० । xदडायए लगडसाई-त्ति क्वचिद् वृश्यते ।

†धुय केस मंसु लोम-त्ति क्वचिद् द० ।

५ निषद्या (=पुट्टे टिकाकर या पलाठी) में बैठनेवाले,
 ६ आतापना (=गीतादि में देह को तापित करना) लेनेवाले,
 ७ शरीर को वस्त्रादि में नहीं ढँकनेवाले, ८ नहीं खुजालनेवाले,
 ९ नहीं थूकनेवाले और १० शरीर के सभी सस्कारों और
 विभूषा से मुक्त रहनेवाले भगवान् के शिष्य थे। यह काय-
 यलेश का स्वरूप है।

टिप्पण—आतापना के तीन भेद हैं—१ उत्कृष्टा अर्थात् निष्पन्न
 (=तोये हुए व्यक्ति की) आतापना, २ मध्यमा अर्थात् अनिष्पन्न (=उठे
 हुए व्यक्ति की) आतापना, ३ जघन्या अर्थात् ऊर्ध्वस्थित (=गढ़े हुए
 व्यक्ति की) आतापना। इनके भी तीन-तीन भेद हैं। यथा—निष्पन्न—
 १ अधोमुखशायिता (=आँधे मुख से सोकर ली जानेवाली), २ पादव-
 शायिता (=करवट से सोकर ली जानेवाली) और ३ उत्तानशायिता
 (पीठ के बल-सीधे सोकर ली जानेवाली) आतापना। अनिष्पन्न—
 १ गोदोहिफा (=गाय बूहने की स्थिति में बैठकर ली जानेवाली),
 २ उत्कृष्टासनता (दोनों पैरों पर बैठकर ली जानेवाली) और ३ पर्यङ्का-
 सनता (=पलाठी से बैठकर ली जानेवाली) आतापना और ऊर्ध्वस्थित—
 १ हस्तिशीण्डिका (=दोनों कूल्हों को जमीन पर टिका कर बैठना और
 फिर एक पैर हाथी की सूड की तरह ऊँचा रखना), २ एकपादिका
 (=एक पैर से खड़े रहकर ली जानेवाली) और ३ समपादिका (=सीधे
 खड़े रहकर ली जानेवाली) आतापना।—(टी०)

से किं तं पडिसंलीणया ?-पडिसंलीणया चउन्विहा पएणत्ता ।
 तं जहा—इंदिअ-पडिसंलीणया, कसाय-पडिसंलीणया, जोग-
 पडिसंलीणया, विवित्त-सयणासण-सेवणया ।

प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?—प्रतिसलीनता के चार भेद कहे गये हैं । जैसे—१ इन्द्रियप्रतिसलीनता (=इन्द्रियो की चेष्टाएँ रोकना), २ कषायप्रतिसलीनता (=आवेशो को रोकना), ३ योगप्रतिसलीनता (=प्रवृत्ति को रोकना) और ४ विविक्त-शयनासन-सेवनता (=एकान्त स्थान में रहना)।

से किं तं इन्द्रिय-पडिसंलीण्या ? —इन्द्रिय-पडिसंलीण्या पंचविहा पणत्ता ।

इन्द्रियप्रतिसलीनता किसे कहते हैं ? इन्द्रियप्रतिसलीनता के पाँच भेद कहे गये हैं ।

तं जहा-सोइन्द्रिय-विसय-पयार-निरोहो वा, सोइन्द्रिय-विसय पत्तेसु अत्थेसु राग-दोस-निग्गहो वा ।

जैसे—१ श्रोत्रेन्द्रिय (=कान) के विषय (शब्द) में प्रवृत्ति को रोकना अर्थात् शब्दों को नहीं सुनना अथवा श्रोत्रेन्द्रिय को प्राप्त हुए विषय में राग-द्वेष नहीं होने देना ।

टिप्पण—कई पूछते हैं कि—‘कान को बंद करने का उपाय क्या ?’ वस्तुतः कान में शब्द नहीं पडने देना कठिन है । किन्तु अपने कार्य की तल्लीनता, इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त होने से बहुत कुछ रोक सकती है । यदि कदाचित् प्रिय या अप्रिय शब्द कान में गिर भी गये हों तो उनके प्रति उदासीनता रखने से राग-द्वेष की प्रवृत्ति रुक सकती है ।

चक्खिन्द्रिय-विसय-पयार-निरोहो वा, चक्खिन्द्रिय-विसय-पत्तेसु अत्थेसु राग-दोस-निग्गहो वा ।

२ चक्षु इन्द्रिय (=ग्रांख) के विषय (रूप) में प्रवृत्ति को रोकना—अच्छे-बुरे रूप नहीं देखना अथवा चक्षुइन्द्रिय को प्राप्त हुए विषय में राग-द्वेष नहीं करना ।

घाणिदिय-विसय-पयार-निरोहो वा, घाणिदिय-विषय-पत्तेसु अत्थेसु राग-दोस-निग्गहो वा ।

३ घ्राणइन्द्रिय (=नाक) के विषय (गध) में प्रवृत्ति को रोकना अथवा घ्राणइन्द्रिय को प्राप्त हुए अर्थ (=गध) में राग-द्वेष नहीं करना ।

जिंभिदिय-विसय-पयार-निरोहो वा, जिंभिदिय-विसय-पत्तेसु अत्थेसु राग-दोम-निग्गहो वा ।

४ जिह्वा इन्द्रिय (=जीभ) के विषय में प्रवृत्ति को रोकना अथवा जिह्वाइन्द्रिय को प्राप्त हुए अर्थ (=रस) में राग-द्वेष नहीं करना ।

फासिंदिय-विमय-पयार-निरोहो वा, फासिंदिय-विसय-पत्तेसु अत्थेसु राग-दोस-निग्गहो वा । से तं इंदिय-पडिसंलीणया ।

५ स्पर्श इन्द्रिय (=त्वचा) के विषय (=स्पर्श) में प्रवृत्ति को रोकना अथवा स्पर्शइन्द्रिय को प्राप्त हुए अर्थ (स्पर्श) में राग-द्वेष नहीं करना । यह इन्द्रियप्रतिसलीनता का स्वरूप है ।

टिप्पण—इन्द्रियों के अर्थ (शब्दादि) के साथ होनेवाले सम्बन्ध को 'विषय' और उन विषयों में होनेवाली प्रीति-अप्रीति को 'विकार'

कहते हैं। इन्द्रियों को शून्य या स्तब्ध कर देना—यह साधना-मार्ग नहीं है। इन्द्रियों को प्रवृत्ति पर अंकुश रखना ही सही साधना है। इन्द्रियों को उनके अनुकूल विषयों को अधिक देने से उनपर काबू नहीं पाया जा सकता। इन्द्रियों का स्वच्छद विचरण वैषयिक प्रवृत्ति है। किन्तु उन्हें आत्महितकर कार्यों में लगाना साधना है। इन्द्रियों का स्वभाव चपल है। अतः वे विषय की ओर दौडती रहती हैं। उस दौड़ को तेज होने से रोकने को ही 'प्रचारनिरोध' कहते हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ तो अनायास ही 'विषययुक्त' बन जाती हैं। किन्तु उन विषयों के साथ आत्मा को नहीं जोड़ना चाहिए। अनुत्सुक भाव से इन्द्रियों को उनसे हटा लेना चाहिए। किन्तु अनायास ही जिन-अर्थों की प्राप्ति हुई है या लाचारी से अर्थ प्राप्ति करनी पडती है, उनमें प्रीति या द्वेष के भाव नहीं करने को ही 'इन्द्रियनिग्रह' कहते हैं। जब 'विकार' का विषय निकल जाता है, तब विषय 'अर्थ' मात्र रह जाते हैं। इन्द्रियप्रतिसंलीनता का आशय यही है कि 'अपने-अपने विषयों में दौडती हुई इन्द्रियों को खींच लेना' अर्थात् उनकी तल्लीनता के वेग को मोडकर आत्मस्थ कर देना। अतः इसके मुख्यतः दो भेद हैं—१ विषयों के प्रति अनुत्सुकता और २ प्राप्त अर्थों में उदासीनता।

से किं तं कषाय-पडिसंलीणया ?-कषायपडिसंलीणया चउ-
व्विहा पणत्ता ।

कषायप्रतिसंलीनता किसे कहते हैं ?-कषायप्रतिसंलीनता
के चार भेद कहे गये हैं ।

तं जहा-कोहस्सुदय- निरोहो वा उदय-पत्तस्स वा कोहस्स
विफलीकरणं ।

जैसे-१ क्रोध के उदय को रोकना या उदय में आये हुए क्रोध को निष्फल करना ।

माणस्सुदय-निरोहो वा उदय-पत्तस्स वा माणस्स विफली करणं ।

२ मान के उदय को रोकना या उदय में आये हुए मान को निष्फल करना ।

माया-उदय-निरोहो वा उदय-पत्ताए वा मायाए विफली करणं ।

३ माया के उदय को रोकना या उदय में आई हुई माया को निष्फल करना ।

लोहस्सुदय-निरोहो वा उदय पत्तस्स वा लोहस्स विफली करणं । से तं कसाय-पडिसंलीणया ।

४ लोभ के उदय को रोकना या उदय में आये हुए लोभ को निष्फल करना । यह कषाय प्रतिसंलीनता का स्वरूप है ।

टिप्पण-क्या ससारी और क्या साधक, सभी के जीवन में आवेशों को रोकने का प्रश्न उठता रहता है । क्योंकि आवेश, बनते हुए कार्यों को बिगाड़ देते हैं । आवेशों के वशीभूत नहीं होना सहज नहीं है । बड़े-बड़े साधक भी इनके चक्कर में फँस जाते हैं । फिर साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या ?—एक तरफ से इन्हें रोका जाता है, तो दूसरी तरफ से दूसरे विविध रूपों में प्रकट होते हैं । किन्तु दृढ़ मनोबली साधक इनसे हारता नहीं है । वह कषायों के विरोधी भावों में स्थिर होने का अभ्यास करता रहता है । उसे ही कषाय प्रतिसंलीनता कहते हैं ।

कषाय-प्रतिसंलीनता के साधारणतः दो रूप हैं—१ उदय-निरोध और २ उदय विफलोकरण । क्रोधादि की अनिष्टता के भावों का विचार करना, इन्हें नहीं करने का बार-बार सङ्कल्प करना, अक्रोधादि गुणों से होनेवाले लाभों की बार-बार याद करना, क्रोधादि के निमित्तों को सन्मूल नहीं आने देना, जैसे अपने आधीन व्यक्तियों को दृढ़ता पूर्वक आदेश दिये जाते हैं, वैसे ही अपने-आपको इन्हें नहीं करने का आदेश देना, त्रिकाल महापुरुषों की शरण-ग्रहण पूर्वक इन अघ्यात्म-दोषों की निन्दा-भर्त्सना करना और गुणोजनों के गुणों की प्रशंसा करते हुए, उन गुणों की प्राप्ति की कामना करना आदि को 'उदयनिरोध' कहते हैं । क्रोधादि का उदय होने पर, उन भावों से योगों को हटा लेना, उन भावों से विपरीत भावों को धारण करना, जैसे—क्रोध आने पर, क्षमा के—मंत्री के भाव धारण करना, इसी तरह मान के विरोधी मार्दव (=नम्रता विनय) भाव, माया के विरोधी ऋजुता (=सरलता) भाव और लोभ के विरोधी सतोष भाव से युक्त योगों को धारण करना आदि से 'उदय विफलोकरण' होता है ।

से किं तं जोग-पडिसंलीणया ?—जोग-पडिसंलीणया तिविहा पणत्ता । तं जहा-मण-जोगपडिसंलीणया, वय-जोगपडिसंलीणया, काय-जोगपडिसंलीणया ।

योग प्रतिसलीनता किसे कहते हैं ?—योग प्रतिसलीनता के तीन भेद कहे गये हैं । जैसे—१ मनोयोग-प्रतिसलीनता, २ वचन योग प्रतिसलीनता और ३ काय योग प्रतिसलीनता । से किं तं मण-जोगपडिसंलीणया ?—मण-जोगपडिसंलीणया अकुसल-मणणिरोहो वा, कुसल-मण-उदीरणं वा । से तं मण-जोगपडिसंलीणया ।

मनोयोग प्रतिसलीनता किसे कहते हैं ?—अकुशल मन का निरोध (=बुरे विचारो को नही आने देना) या कुशल मन की उदीरणा करना (=शुभ विचारो का अभ्यास करना)—यह मनोयोग प्रतिसलीनता (=मन की एकाग्रता का अभ्यास) है ।

से किं तं वय-जोगपडिसंलीणया ?—वय-जोगपडिसंलीणया अकुसल-वयणिरोहो वा, कुसल-वय-उदीरणं वा । से तं वय-जोगपडिसंलीणया ।

वचन योग प्रतिसलीनता किसे कहते हैं ?—अकुशल (=अशुभ) वचन का निरोध करना (=अशुभ वचन की प्रवृत्ति को रोकना) या कुशल वचन की उदीरणा करना (=शुभ वचन का अभ्यास करना)—यह वचन योग प्रतिसलीनता (=वाणी एक रूपता की साधना) है ।

से किं तं काय-जोगपडिसंलीणया ?—कायजोग-पडिसंलीणया जण्णं सुसमाहिय-पाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिदिए सव्व-गाय-पडिसंलीणे चिद्धइ । से तं कायजोगपडिसंलीणया । (से तं जोगपडिसंलीणया) ।

काय योग प्रतिमलीनता किसे कहते हैं ?—हाथ-पैर को स्थिर करके, कछुए के समान इन्द्रियो को गुप्त करके, सारें शरीर के अंगो को सदृत्त करके बैठना काय योग प्रतिसलीनता (=कायिक एकाग्रता की साधना है) ।

टिप्पण—दैनिक कार्यों में प्रायः योगी की प्रवृत्ति अस्त-व्यस्त और बिखरी हुई रहती है और कभी-कभी मनुष्य अनिद्रा आदि रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। क्योंकि गलत और वृथा प्रवृत्ति के कारण मन आदि को विश्रान्ति नहीं मिलती है। वैषीयकता के कारण योगों में तनाव बना रहता है। जिससे मनुष्य चिडचिडा, उतावला और वावला बन जाता है। तब वह अपने सासारिक कार्यों को भी ठीक से नहीं कर पाता—साधना की तो बात ही दूर रही। जीव अनादि काल से योग-प्रवृत्ति करता रहा है। प्रवृत्ति की अतिशयता में आत्मानुभव होना सहज नहीं है। अतः योगी के प्रवृत्ति-जनित तनाव को दूर करने के लिये—उनकी क्रिया व्यवस्थिता और शक्ति शालिनी बनाने के लिये—उन्हें शिथिल करना पडता है। यह कार्य 'योग-प्रतिसलीनता' से सम्पादित होता है। 'काययोग प्रतिसलीनता' के साथ साथ जब मन योग प्रतिसलीनता और वचन योग प्रतिसलीनता का अभ्यास दृढ होकर सहज बनने लगता है, तब अनुपम शान्ति का अनुभव होता है और प्रवृत्ति व्यवस्थित बनती जाती है। बड़े बड़े रोगों का भी शमन हो सकता है। आधुनिक मानस शास्त्रियों का 'शिथिलीकरण' इससे साम्य रखता है।

से किं तं विवित्त-सयणामण-सेवणया ?—विवित्त-सयणासण
सेवणयाए जं गं आरामेसु उज्जाणेषु देवकुलेसु सभासु पवासु
पणियगिहेसु पणियसालासु-इत्थी-पसु-पंडग-संसत्त-विरहि-
यासु वसहीसुफासुएसणिज्ज-पीठ फलग-सेज्जा-संधारगं उन्नसं-
पज्जित्ता णं विहरइ । से तं पडिसंलीणया । से तं बाहिरए तवे ।

विविक्त-शयनासन-सेवनता किसे कहते हैं ?—आराम
(=पुष्प प्रदानवन फूखवाडी) उद्यान (=फूल-फलादि से युक्त

महावृक्षों का समुदाय—बगीचा), देवकुल (=छतरियाँ या मन्दिर), सभगृह (लोगों के बैठने का स्थान) प्रपा (=जलदान स्थान—प्याउएँ), पणितगृह (=वतन आदि रखने के घर—गोदाम) पणितशाला (=बहुत-से ग्राहक=खरीदार और दायक=व्यापारी जनों के योग्य घर विशेष—जो कि स्त्री, पशु, पडग (=नपुसक) की ससक्तता अर्थात् युक्ततासे रहित हो, ऐसे स्थानों में निर्दोष-और निर्जीव अर्थात् सयमी जीवन में ग्रहण करने योग्य पीठ, फलक (=पटिये), झय्या (=पैर फैलाकर सो सके ऐसा विछौना) सस्तारक (=शय्या से छोटा तृणादि का विछौना) को प्राप्त करके विचरने को विविक्त-शयनासन-सेवनता कहते हैं। यह प्रतिसलीनता का स्वरूप है। यह बाह्य तप का स्वरूप पूर्ण हुआ।

टिप्पण—श्रमण भगवान् महावीर देव के शिष्यों के विशेषण रूप से इस सूत्र में बाह्य तप का विवेचन किया गया है।

आभ्यन्तर-तप

२०--से किं तं अर्भितरणे तवे?—अर्भितरणे तवे छन्विहे पणत्ते । तं जहा--पायच्छित्तं, विणओ, वेधावच्चं, सज्जाओ, भाणं, विउस्सगो ।

आभ्यन्तर तप किसे कहते हैं?—आभ्यन्तर तप के छह भेद कहे गये हैं। जैसे १ प्रायश्चित्त (=प्रतिचार आदि की

विशुद्धि), २ विनय (=कर्म दूर हटाने के लिये, प्रवृत्ति), ३ वैयावृत्य (=आहारादि से संयमियों की सेवा), ४ स्वाध्याय (शुद्ध ज्ञान का मर्यादा से युक्त पठन-पाठन), ५ ध्यान (=एकाग्र शुभ चिन्तन या चित्तवृत्ति-निरोध) और ६ व्युत्सर्ग (=हेय का त्याग) ।

टिप्पण—साधक के जागृत रहते हुए भी साधना में किसी न किसी प्रकार के दूषण लग ही जाते हैं। उन दोषों के कारण उसके हृदय में पश्चात्ताप होता है। उनकी शुद्धि करना चाहता है। अतः वह गुरुजनों के समक्ष नतगात होकर, शुद्धि के उपायो को पूछता है। इस प्रकार दो आभ्यन्तर तपों का क्रम बनता है। पहला प्रायश्चित्त और दूसरा विनय। जो विनयवान् होता है, वैयावृत्य कर सकता है। वैयावृत्य से इतर समय में स्वाध्याय की जाती है। स्वाध्याय करते हुए एकाग्र-चिन्तन होता है—ध्यान-दशा की प्राप्ति होती है। शुभध्यान से ही हेय का त्याग (=व्युत्सर्ग) होता है। यह आभ्यन्तर-तप के क्रम-विधान का रहस्य है। (-टी०)

से किं तं पायच्छिन्ते ?—पायच्छिन्ते दसविहे पण्णत्ते ।

प्रायश्चित्त किसे कहते हैं ?—प्रायश्चित्त के दस भेद / कहे गये हैं ।

तं जहा-आलोयणारिहे ?

जैसे—१ आलोचनाहं (=प्रकट करने से होनेवाला प्रायश्चित्त अर्थात् विशुद्धि के लिये गुरु से निवेदन करना) ।

टिप्पण—भिक्षा, स्थंडिल, गमनागमन, प्रतिलेखना आदि दैनिक कृत्यों में लगनेवाले दोषों के विषय में यह प्रायश्चित्त किया जाता है ।

गुरु या रत्नाविक के समीप में अपने दोषों को निष्कपट भाव से प्रकट किया जाता है। इसीलिये इससे होनेवाली विशुद्धि को भी 'श्रालोचनाहं' कहा है।

पडिक्कमणारिहे २,

प्रतिक्रमण (=मिथ्या दुष्कृत-पाप से पीछे लौटने) से होने वाला प्रायश्चित्त प्रतिक्रमणार्ह है।

टिप्पण-पाँच समिति, तीन गुप्ति के सम्बन्ध में सहसाकार आदि से लगनेवाले दोषों के विषय में यह प्रायश्चित्त है। इसमें 'मिच्छा मि वुक्कड' दिया जाता है अर्थात् 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो-निष्फल हो। आदि चिन्तन पूर्वक दोषों के विषय में पश्चात्ताप होता है।

तदुभयारिहे ३,

श्रालोचना और प्रतिक्रमण दोनों से होने वाला प्रायश्चित्त तदुभयार्ह होता है।

टिप्पण-निद्रावस्था में साधारण दुःस्वप्न से महाव्रतों में दोष लगे हैं-ऐसी शङ्का आदि दोषों के विषय में यह प्रायश्चित्त है। जिसमें गुरु के समक्ष श्रालोचना पूर्वक 'मिथ्यादुष्कृत' दिया जाता है।

विवेगारिहे ४,

त्याग के द्वारा होनेवाला प्रायश्चित्त विवेकाहं कहलाता है।

टिप्पण-अनजान में आघातकर्म आदि दोष से युक्त आहारादि आजाय और यह बात विदित हो जाय, तब उसे उपभोग में न लेकर, त्याग देने से यह प्रायश्चित्त होता है।

विउत्सर्गारिहे ५,

कायोत्सर्ग के द्वारा होनेवाला प्रायश्चित्त व्युत्सर्गाहं कहलाता है ।

टिप्पण—उच्चार आदि के परिष्ठापन में, नदी उतरने आदि में विवशतावश लगे हुए, दोषों की शुद्धि के लिये यह प्रायश्चित्त है । जिसमें विभिन्न दोषों के लिये, विभिन्न प्रमाणयुक्त श्वास-उच्छ्वास के कायोत्सर्ग विहित हैं । जैसे स्वप्नादि में लगे हुए दोषों के लिये १०० या १०८ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग (=शरीर को निश्चल रखना) ।

तवारिहे ६,

तप के द्वारा होने योग्य विशुद्धि तपाहं कहलाता है ।

टिप्पण—सचित्तवस्तु के स्पर्श से, आवश्यकी आदि समाचारी को नहीं करने से, प्रतिलेखना-प्रमार्जना आदि नहीं करने से लगे हुए दोषों की विशुद्धि के लिये बाह्यतप अनवानादि रूप प्रायश्चित्त होता है ।

छेदारिहे ७,

छेद (=दीक्षापर्याय को कम करने) से होनेवाली विशुद्धि छेदाहं कहलाती है ।

टिप्पण—सचित्त पृथ्वी आदि की विराधना और प्रतिक्रमण नहीं करने आदि से लगे हुए दोषों की शुद्धि के हेतु छेद (=दीक्षाकाल को घटा देना) दिया जाता है ।

मूलारिहे ८,

पुन. व्रतों की स्थापना के द्वारा होनेवाला प्रायश्चित्त मूलाहं कहलाता है ।

टिप्पण—तीन बार प्रायश्चित्त स्थान के सेवन, हस्तकर्म, मंथुन, रात्रीभोजन आदि के द्वारा चरित्र-भग और किसी भी महाव्रत का जानबूझ कर भग करने पर, जो पुन. नई दीक्षा दी जाती है, उसे 'मूलाहं' प्रायश्चित्त कहते हैं ।

अणवद्वृत्तपारिहे ६,

प्रायश्चित्त रूप में दिये हुए अमुक प्रकार के विशिष्ट तप को जबतक न करले तबतक उसका सम्बन्धविच्छेद रखना और गृहस्थभूत बनाकर वापिस दीक्षा भी नहीं देना—अनवस्थाप्याहं प्रायश्चित्त कहलाता है ।

टिप्पण—इस प्रायश्चित्त के आने के तीन बड़े कारण हैं जो कि ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे में और बृहत्कल्प के चौथे उद्देशे में बताये हैं ।

पारंचियारिहे १० । से तं पायच्छित्ते ।

सम्बन्ध विच्छेद करके तप विशेष कराने के बाद गृहस्थ-भूत बना कर व्रत-स्थापना के द्वारा होनेवाला प्रायश्चित्त—पारञ्चित्ताहं कहलाता है । यह प्रायश्चित्त का स्वरूप है ।

टिप्पण—इसके तीन कारण भी ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे में और बृहत्कल्प के चौथे उद्देशे में बतलाये गये हैं ।

से किं तं विणए ?—विणए सत्तविहे पण्णत्ते । तं जहा—णाण-विणए, दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए, वइविणए, कायविणए, लोमोवयारविणए ।

विनय किसे कहते हैं ? विनय के सात भेद कहे गये

है । जैसे-१ ज्ञानविनय, २ दर्शनविनय, ३ चारित्रविनय, ४ मनोविनय, ५ वचनविनय, ६ कायविनय और ७ लोकोपचार विनय (=लोकव्यवहार से सम्बन्धित आत्मगुण-पोषक मृदु आचरण) ।

से किं तं णाणविणए ?-णाणविणए पंचविहे पणत्ते । तं जहा-आभिणिबोहियणाणविणए, सुयणाणविणए, ओहिणाण-विणए, मणपञ्जवणाणविणए, केवलणाणविणए । (से तं णाणविणए ।)

ज्ञानविनय किसे कहते हैं ? ज्ञानविनय के पाँच भेद कहे गये हैं । जैसे-१ आभिनिबोधिक ज्ञान (=मतिज्ञान) विनय, २ श्रुतज्ञान विनय, ३ अवधिज्ञान विनय, ४ मनःपर्यवज्ञान विनय और ५ केवलज्ञान विनय (इन ज्ञानों को यथार्थ मानते हुए इनके लिए यथा शक्ति पुरुषार्थ करना)

से किं तं दंसणविणए ?-दंसणविणए दुविहे पणत्ते । तं जहा-सुस्सुसणाविणए, अणच्चासायणाविणए ।

दर्शन विनय किसे कहते हैं ?-दर्शन विनय के दो भेद कहे गये हैं । जैसे-१शुश्रूषाविनय और २ अनत्याशातना विनय ।

से किं तं सुस्सुमणाविणए ?-सुस्सुणाविणए अरोगविहे पणत्ते । तं जहा-अब्भुट्ठाणे इ वा, आसणाभिग्गहे इ वा, आसणप्पदाणे इ वा,

शुश्रूषणाविनय (=सम्यक् श्रद्धा का अविरोधी सेवा रूप विनम्र आचारण) किसे कहते हैं ? शुश्रूषणाविनय के अनेक भेद कहे गये हैं । जैसे—१ गुरुजन या गुणाधिक के अपने समीप आने पर, उन्हें आदर देने के लिये खड़े होना, २ जहाँ जहाँ गुरुजन की बैठने की इच्छा हो, वहा वहा आसन ले जाना, ३ और उन्हें आसन देना,

सक्कारे इ वा, सम्माणे इ वा किङ्कम्मे इ वा, अञ्जलीपग्गहे इ वा,

४ सत्कार देना (=वस्त्रादि से निमन्त्रित करना), ५ सम्मान (=वडप्पन) देना, ६ विधि सहित वन्दना-नमस्कार करना, ७ स्वीकृति या अस्वीकृति करते समय हाथ जोड़ना,

एंत्स्स अणुगच्छणया, ठिअस्स पज्जुवासणया, गच्छंतस्स पडिसंसाहणया । से तं सुस्सुसणाविणए ।

आते हुए गुरुजन के सामने जाना, ९ बैठे हुए की पर्युपासना और १० जाते हुए को पहुँचाने जाना । यह शुश्रूषा-विनय है ।

से किं तं अणच्चासायणा विणए?—अणच्चासणा विणए पणतालीसविहे पणत्ते । तं जहा—अरहंताणं अणच्चासायणया, अरहंतपणत्तस्स धम्मस्स अणच्चासायणया,

अनत्याशातना विनय किसे कहते हैं ? अनत्याशातना विनय के पैंतालीस भेद कहे गये हैं । १ अरिहन्त की आशातना (=आत्मगुण घातक आचरण) नहीं करना, २ अरिहन्त के

द्वारा कहे गये धर्म की आशातना नहीं करना,
आयरियाअणच्चासायणाया, एवं उवज्झायाणं थेराणं कुलस्स
गणास्स संघस्स क्रिरियाणं संभोगिअस्स

३ आचार्यों की आशातना नहीं करना, इसी प्रकार ४ उपाध्यायो की, ५ स्थविरो (ज्ञानचारित्रवय वृद्धो) की, ६ कुल की, ७ गणकी, ८ संघ (=साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) की, ९ क्रियावान् की, १० साभोगिक (=जिसके साथ वन्दना आदि व्यवहार किया जाता हो, उस गच्छ के साधु या एक समाचारी वाले) की ।

आभिणिवोहियणाणस्स सुयणाणस्स ओहिणाणस्स मण-
पज्जवणाणस्स केवलणाणस्स ।

११ मतिज्ञान की, १२ श्रुतज्ञान की, १३ अवधिज्ञान की, १४ मन-पर्यवज्ञान की और १५ केवलज्ञान की आशातना नहीं करना ।

एएसिं चेव भत्ति-बहुमाणे, एएसिं चेव वण्णसंजलणया ।
से तं अणच्चासायणा-विणए ।

१६ से ३० इन पन्द्रह की भक्ति (सेवा-पूजा)-बहुमान (=गुणानुराग का ऐसा तीव्र भावावेश—जिसमें पूज्य के प्रति सर्वस्व समर्पण कर देने की भावना रहती है) करना और ३१ से ४५ इन पन्द्रह के यश को प्रकाशित करना-फैलाना । यह अनत्याशातना या अनाशातना विनय का स्वरूप है ।

से किं तं चरित्तविणए ?-चरित्तविणए पंचविहे पएणत्ते ।

चारित्र विनय किमे कहते है ?-चारित्र विनय के पांच भेद कहे गये है ।

तं जहा-समाइय-चरित्तविणए, छेओवडावणिय-चरित्त-विणए, परिहारविसुद्धि-चरित्तविणए, सुहुम-संपराय चरित्त-विणए, अहक्खाय-चरित्तविणए । से तं चरित्तविणए ।

जैसे-१ सामायिक चारित्र विनय, २ छेदोपस्थापनीय चारित्र विनय, ३ परिहार-विसुद्धि चारित्र विनय, ४ सूक्ष्म सम्पराय चारित्र विनय और ५ यथाख्यात चारित्र विनय । यह चारित्र विनय है ।

से किं तं मणविणए ?-मणविणए दुविहे पएणत्ते । तंजहा-पसत्थमणविणए, अपसत्थमणविणए ।

मनोविनय किसे कहते है ?-मनोविनय के दो भेद कहे गये है । जैसे-१ प्रशस्त (अच्छा) मनोविनय और २ अप्रशस्त (=बुरा) मनोविनय ।

से किं तं अपसत्थमणविणए ?-अपसत्थमणविणए जेअ मणे सावज्जे सकिरिए सकक्कसे कडुए णिड्डुरे फरुसे अएहय करे छेयकरे भेयकरे परितावणकरे उद्वगणकरे भूओवघाइए, तहप्पगारं मणो णो पदारेजा । से तं अपसत्थ मणोविणए ।

अप्रशस्त मनोविनय किसे कहते हैं ? जो मन
 १ सावद्य (=पापमय), २ सक्रिय (=कायिकी आदि क्रियायुक्त),
 ३ सकर्कश, ४ कटुक, ५ निष्ठुर (=कठोर-अक्रोमल),
 ६ परुष (=स्नेहरहित), ७ आश्रवकारी (=अशुभ कर्म को
 ग्रहण करनेवाला), ८ छेदकर (=अगादि को काटने के भाव
 करनेवाला), ९ भेदकर (अंगादि को विधने के भाव)
 १० परितापन कर, (=प्राणियों को सतापित करने के भाव)
 ११ उद्रवण कर (=मारणान्तिक वेदनाकारी या घनहरणादि
 उपद्रवकारी) और १२ भूतोपघातिक (=जीवों के घात की
 भावनावाला) हो-ऐसे मन को धारण नहीं करना, अप्रशस्त
 मनोविनय है। यह अप्रशस्त मनोविनय है।

से किं तं पसत्थमणोविणए ?-पसत्थमणोविणए तं चेव
 पसत्थं शेयव्वं । एवं चेव वइविणओ वि एएहिं पएहिं चेव
 शेअव्वो । से तं वइविणए ।

प्रशस्त मनोविनय किसे कहते हैं ?-इसी प्रकार प्रशस्त
 मनोविनय का स्वरूप भी समझना चाहिए। इसी प्रकार वचन-
 विनय भी इन्हीं पदों के द्वारा समझ लेना चाहिए। यह वचन-
 विनय है।

टिप्पण-प्रशस्त मनोविनय, अप्रशस्त से विपरीत स्वरूपवाला
 है। अर्थात् १ असावद्य २ निष्क्रिय, ३ अकर्कश, ४ अकटुक (=मधुर),
 ५ अनिष्ठुर (कोमल), ६ अपरुष (=करुणामय), ७ अनाश्रवकारी,
 ८ अछेदकर, ९ अभेदकर, १० अपरितापनकर, ११ दयार्द्र और १२ जीवों

के प्रति शाताकारी मन को धारण करना—प्रशस्त मनो-विनय है । मन-विनय की तरह वचनविनय के भी भेद समझ लेना चाहिए अर्थात् सावदचादि वचन छोटना और असावदचादि वचन बोलना ।

से किं तं कायविणए ? कायविणए दुविहे पणएत्ते । तंजहा-
पसत्थकायविणए अपसत्थकायविणए ।

कायविनय किसे कहते हैं ? कायविनय के दो भेद कहे गये हैं । जैसे—१ प्रशस्त कायविनय और २ अप्रशस्त । कायविनय

से किं तं अपसत्थकायविणए ?--अपसत्थकायविणए सत्तविहे पणएत्ते ।

अप्रशस्त कायविनय किसे कहते हैं ? अप्रशस्त काय-विनय के सातभेद कहे गये हैं ।

तं जहा--अणाउत्तं गमणे, अणाउत्तं ठाणे, अणाउत्तं निसीयणे, अणाउत्तं तुयट्टणे, अणाउत्तं उल्लंघणे, अणाउत्तं पल्लंघणे, अणाउत्तं सन्विदिय--काय जोग- जुंजणाया । से तं अपसत्थ-कायविणए ।

जैसे— १ बिना उपयोग (=असावधानी) से चलना, २ ठहरना, ३ बैठना, ४ सोना, ५ लाँघना, ६ बारम्बार लाँघना या कूदना और ७ बिना यत्न के सभी इन्द्रियो और काया को प्रवृत्ति में लगाना । यह अप्रशस्त काय विनय है । इन असाव-धानी की प्रवृत्तियो को छोडना विनय है ।

टिप्पण—अप्रशस्त मनविनय में 'तहृष्पगारं मणो णो पहारेज्जा' पाठ आया है। उसकी भलामण अप्रशस्त वचन विनय के लिए भी दी है। अप्रशस्त काय विनय में ऐसी भलामण नहीं दी है, तथापि उसी प्रकार समझ लेना चाहिए, क्योंकि उत्तराध्ययन के चौबीसवें अध्ययन की पचीसवीं गाथा से यह बात स्पष्ट होती है। उस अध्ययन में संरम्भादि में प्रवृत्त होते हुए मन वचन काया को रोकने के लिए समान रूप से पाठ आया है।

से किं तं पसत्थकायविणए ?—पसत्थकायविणए एवं चेव पसत्थं भाणियव्वं । से तं कायविणए ।

—प्रशस्त कायविनय किसे कहते हैं ?—इसी प्रकार प्रशस्त कायविनय के विषय में कहना चाहिए (=अर्थात् उपयोग पूर्वक सातो क्रियाएँ करना—प्रशस्त कायविनय है)। यह कायविनय है।

से किं तं लोकोवयारविणए ? लोकोवयारविणए सत्तविहे परणत्ते ।

लोकोपचारविनय किसे कहते हैं ? लोकोपचारविनय के सात भेद कहे गये हैं।

तं जहा—अब्भास वत्तियं १, परच्छंदाणुवत्तियं २, कज्जहेउं ३, कयपडिकिरिया ४, अत्त-गवेसणया ५, देस-काल-एणुया ६, सव्वट्ठेसुअपडिलोमया ७। से तं लोकोवयार-विणए । से तं विणए ।

जैसे-१ गुरु आदि के समीप बैठना, २ गुरुजन की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना, ३ ज्ञानादि के लिये सेवा-भक्ति करना, ४ कृतज्ञता से (=अपने ऊपर किये हुए उपकारों का स्मरण में रखकर) सेवाभक्ति करना, ५ बृद्ध-रोगी आदि पीडित सयतियों से, उनके सुख-दुःख की बात पूछना या उनकी सार-सम्हाल करना, ६ देश और काल को जानकर, अपने ध्येय को हानि न पहुँचे, इस प्रकार से आचरण करना और ७ सभी विषयों में-आराध्य सम्बन्धी सभी प्रयोजनों में-विपरीत आचरण का निवारण करना-अनुकूल बनना। यह लोकोपचार विनय है। यह विनय का स्वरूप है।

टिप्पण-लौकिक प्रवृत्ति की सदृशता होने के कारण, इसे लोकोपचार विनय कहा गया है। गुरुओं के समीपवर्ती रहने पर, उनके सेवा का योग साधा जा सकता है। गुरुजन की इच्छानुसार प्रवृत्ति करने से अपनी इच्छा का निरोध होता है। स्वच्छन्दता नश्रता में परिणत होती है और गुरुजन प्रसन्न रहते हैं। ज्ञानादि के लिये सेवाभक्ति करने पर, गुरुजनों को और स्वयं को चित्त-प्रसाद होता है। जिससे ज्ञानादि की प्राप्ति सुगम बनती है। आर्त्त से सुख-दुःख की बात पूछने पर, उन्हें अनायता की अनुभूति नहीं सताती है और स्वयं को भी, उनके दुःख में हिस्सा बंटाने से, मधुर शान्ति का अनुभव होता है। देश-कालज्ञता और सर्वार्थ में अप्रतिलोमता से स्व-पर का कल्याण, सहज में साधा जा सकता है।

से किं तं वेयावच्चे ?-वेयावच्चे दसविहे पण्णत्ते ।

वेयावृत्य (=भात-पानी आदि से सेवा करना) किसे कहते हैं ?-वेयावृत्य के दस भेद कहे गये हैं ।

तं जहा-आयरियवेयावच्चे १, उवज्झायवेयावच्चे २, सेह-वेयावच्चे ३, गिलाणवेयावच्चे ४, तवस्सिवेयावच्चे ५, थेर-वेयावच्चे ६ साहम्मियवेयावच्चे ७, कुलवेयावच्चे ८, गण-वेयावच्चे ९, संघवेयावच्चे १०, से तं वेयावच्चे ।

जैसे-१ आचार्य की वैयावृत्य, २ उपाध्याय की ३ शैक्ष (=नवदीक्षित) की ४ ग्लान (=पोडित) की ५ तपस्वी (=अष्टम आदि करनेवाले) की ६ स्थविर (=वय आदि से बृद्ध) की ७ सार्धमिक (=साधु या साध्वी) की ८ कुल (=गच्छों के समुदाय की ९ गण (=कुलों के समुदाय) की और १० सघ (=गणों के समुदाय) की वैयावृत्य (=सेवा) । यह वैयावृत्य का स्वरूप है ।

टिप्पण-भगवती सूत्र आदि में बतलाया गया है कि एक आचार्य के या एक गुरु के शिष्यों को कुल कहते हैं ।

से किं तं सज्झाए ?-सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते ।

तं जहा-वायणा १, पडिपुच्छणा २, परियट्टणा ३, अणु-प्पेहा ४, धम्मकहा ५ । से तं सज्झाए ।

स्वाध्याय किसे कहते हैं ? स्वाध्याय के पाच भेद कहे गये हैं । जैसे-१ वाचना (=सूत्रों का पढ़ना-पढ़ाना), २ प्रति-पृच्छना (शका-समाधान), ३ परिवर्तना (=जाने-सीखेहुए ज्ञान की पुनरावृत्ति, ४ अनुप्रेक्षा (=सूत्र के अवलम्बन से युक्त चिन्तन-मनन) और ५ धर्मकथा । यह स्वाध्याय का स्वरूप है ।

से किं तं भाणो ?-भाणो चउव्विहे पण्णात्ते । तं जहा-अट्ट-
ज्भाणो १, रुद्धभाणो २, धम्मज्भाणो ३, सुक्कज्भाणो ४ ।

ध्यान (=एकाग्रचिन्तन) किसे कहते हैं ?-ध्यान चार
तरह का कहा गया है । जैसे-१ आर्त्त (=रागादि भावना से
युक्त) ध्यान, २ रौद्र (=हिंसाभावना से रञ्जित) ध्यान,
३ धर्म (=धर्मराग से रञ्जित) ध्यान और ४ शुक्ल
(=निरञ्जन-शुद्ध) ध्यान ।

अट्टज्भाणे चउव्विहे पण्णात्ते । तं जहा-अमणुण्ण-संपओग-
संपउत्ते, तस्स विप्पओग-स्सइ-समण्णागए यावि भवइ १,
मणुण्ण-संपओग-संपउत्ते, तस्स अविप्पओग-स्सइ-समण्णागए
यावि भवइ २,

आर्त्तध्यान के चार भेद कहे गये हैं । जैसे १ अमनोज्ञ
(=मन को नहीं भानेवाले) साधनों के प्राप्त होने पर, उनके
वियोग की स्मृति (=दूर हटाने के लिये लगातार चिन्तन)
करना, २ मनोज्ञ (=मन को प्रिय लगनेवाले) साधनों के
प्राप्त होने पर, उनके अवियोग की स्मृति (=सदा अपने पास
सुरक्षित बने रहने का लगातार चिन्तन) करना,

आयंक्क-संपओग-संपउत्ते, तस्स विप्पओग-स्सइ-समण्णागए
यावि भवइ ३, परि-जूसिय-काम-भोग संपओग-संपउत्ते,
तस्स अविप्पओग-स्सइ-समण्णागए यावि भवइ ४ ।

३ आतङ्क (=रोगो) के आने पर, उनके वियोग की स्मृति से युक्त होना और ४ सेवित और प्रीतिकर काम भोगों की प्राप्ति होने पर, उनके अवियोग की स्मृति से युक्त होना ।

अट्टस्स णं भाणस्स चत्तारि लक्खणा पणत्ता । तं जहा-
कंदणया १, सोयणया २, तिप्पणया ३, विल्लवणया ४ ।

आर्त्तध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं । जैसे-१ क्रन्दनता (=जंरो से रोना), २ शोचनता (=दीनता), ३ तेपनता (=आंसू गिराना) और ४ विलपनता (=विलखना, चित्त को क्लेश पहुँचानेवाले वचन बारम्बार बोलना) ।

रुद्धभाणे चउव्विहे पणत्ते । तं जहा-हिंसाणुवंधी १,
मोसाणुवंधी २, तेणाणुवंधी ३, सारक्खणाणुवंधी ४ ।

रौद्रध्यान के चार भेद कहे गये हैं । जैसे-१ हिंसानु-
बन्धी (=हिंसा से सम्बन्धित एकाग्र चिन्तन). २ मृषानुबन्धी
(=असत्य से सम्बन्धित एकाग्र चिन्तन), ३ स्तेनानुबन्धी
(=चौर्य कर्म से सम्बन्धित एकाग्र चिन्तन) और ४ सरक्षणा-
नुबन्धी (=धनादि के रक्षण से सम्बन्धित भयङ्कर चिन्तन या
किसी को कंदखाना आदि में डलवाने सम्बन्धी चिन्तन ।)

रुद्धस्स भाणस्स चत्तारि लक्खणा पणत्ता । तं जहा-
उसण्णदोसे १, बहुदोसे २, अण्णाणदोसे ३, आमरणंत-
दोसे ४ ।

रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं । यथा—१ ओसन्न दोष (=हिंसा आदि दोषों में से किसी भी दोष में, अधिकता से लगातार लगे रहना—उनसे जरा भी अप्रति नहीं होना), २ बहुदोष (=हिंसादि बहुत-से या सभी दोषों में प्रवृत्ति), ३ अज्ञानदोष (=कुणास्त्र के सम्कार से, धर्म स्वरूप हिंसादि में, धर्मवृद्धि से प्रवृत्ति करना), ४ आमरणान्तदोष (=मरण पर्यन्त दोषों के प्रति अनुताप नहीं होना) ।

टिप्पण—भार्त श्रीर रौद्र ध्यान-अशुभ ध्यान है । यहाँ भगवान् के अमर्णों के विशेषणों के रूप में तप का वर्णन हो रहा है । अतः इन ध्यानों के वर्णन से यह आशय लेना चाहिए कि—'इन अशुभ ध्यानों को छोड़कर, धर्म-शुक्ल रूप प्रशस्त ध्यान के ध्याता थे ।' इसीप्रकार अशुभ वित्त के विषय में यही समझना चाहिए । तपोवर्णन में अप्रशस्त का वर्णन इसीलिये है कि इनका स्वरूप समझकर, प्रशस्त ध्यान को अप्रशस्त ध्यान होने से रोका जा सके । क्योंकि जरा-से लक्ष्य-भेद से क्रिया-भेद उपस्थित हो जाता है । अतः अप्रशस्त को छोड़ना और प्रशस्त को स्वीकार करना, ये दोनों ही निर्जरा हैं ।

धम्मज्झारो चउन्विहे चउप्पडोयारे पएणत्ते ।

धर्मध्यान का चार भेदवाला चार प्रकार का स्वरूप कहा गया है ।

तं जहा—आणाविजए १, अत्रायविजए २, विवागविजए ३
संठाणविजए ४ ।

धर्मध्यान के चार भेद हैं । जैसे—१ आजाविचम

(=चिन्तन के द्वारा-सूत्रज्ञान के द्वारा जिनेन्द्र की सूत्रधर्म और चारित्रधर्म सम्बन्धों आज्ञा का निर्णय करना), २ अपायविचय (=चिन्तनादि के द्वारा राग-द्वेषादि से होनेवाले अनर्थों का निर्णय करना या स्मृतिकोष में उन निर्णयों का संग्रह करना), ३ विपाकविचय (=चिन्तन आदि के द्वारा कर्म-फल का निर्णय करना और ४ सस्थान विचय (=लोक-द्वीप आदि पदार्थों की आकृतियों का चिन्तन करना) ।

टिप्पण-आज्ञा के दो भेद हैं-१ स्वरूपज्ञापनी आज्ञा और २ आवेश आज्ञा । वस्तु-स्वरूप का जो कथन, वीतरागों के द्वारा कहा गया हो-उसे स्वरूपज्ञापनी आज्ञा कहते हैं और आचरण से सम्बन्धित वचनों को आवेश-आज्ञा कहते हैं ।

धर्मध्यान के चारों भेदों का स्वरूप-

आप्तवचन प्रवचनं, आज्ञाविचयस्तदर्थ-निर्णयनम् ।

आश्रव-विकथा-गौरव-परीषहाद्येष्वपायस्तु ॥२४७॥

अशुभ-शुभ-कर्म-विपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचयः स्यात् ।

द्रव्य-क्षेत्राकृत्यनुगमनं सस्थानविचयस्तु ॥२४८॥

-प्रशमरती

-आप्तवचन प्रवचन है । उसके अर्थ के निर्णय को आज्ञाविचय कहते हैं । आश्रव, विकथा, गौरव, परीषहादि में दोषभावना के चिन्तन को अपायविचय, अशुभ-शुभ कर्म के विपाक के बार बार चिन्तनरूप अर्थ को विपाकविचय और द्रव्य-क्षेत्र आदि की आकृतियों में वृत्तियों को रमाने को सस्थानविचय कहते हैं ।

धम्मस्स णं भाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता । तं जहा-
आणारुई १, णिसग्गारुई २, उवएसरुई ३, सुत्तरुई ४ ।

धर्मध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं। जैसे—१ आज्ञा-रुचि (=तीतराग की आज्ञा में श्रद्धा-रुचि), २ निसर्गरुचि (=स्वभावत ही धर्म में रुचि होना), ३ उपदेशरुचि (=साधु आदि के उपदेश में धर्म में रुचि होना या धर्म-उपदेश सुनने में रुचि) और ४ सूत्ररुचि (=आगमों से तत्त्वरुचि होना या आगमों में श्रद्धा होना)।

धम्मस्स णं भ्माणस्स चत्तारि आलंबणा पण्णत्ता ।

तंजहा-वायणा १, पुच्छणा २, परियट्टणा ३, धम्मकहा ४ ।

धर्मध्यान के चार आलम्बन (=धर्मध्यान के शिखर पर चढ़ने के लिये, सहायता लेने योग्य साधन) कहे गये हैं। यथा—१ वाचना (=जीव-अजीव के वास्तविक स्वरूप को बतानेवाले आगम, ग्रन्थ, शास्त्रादि को पढ़ना), २ पृच्छना (=शका-समाधान या पढ़े हुए-जाने हुए विषय के सम्बन्ध में विविध प्रश्न उठाना और स्वत ही समाधान करना या दूसरों से उत्तर प्राप्त करके, जिज्ञासावृत्ति का संस्कार करना अथवा अपने आपके विषय में, अपने आपसे, पूर्ण जिज्ञासा के साथ उत्तर की राह देखते हुए, प्रश्न करना), ३ परिवर्तना (=सीखे हुए ज्ञान की पुनरावृत्ति करना-घुमा-फिराकर बार बार एक ही विषय पर, योगो-मन, वचन और काया की क्रिया-को लगाना) और ४ धर्मकथा (=उपदेश देना, आप्तपुरुषों की जीवनियों, उपदेशप्रद गाथाओं के द्वारा आत्मानुशासन करना-अपने आपको आदेश देना)।

धम्मस्स णं भाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पणत्ताओ ।
तं जहा-अणिच्चाणुप्पेहा १, असरणाणुप्पेहा २ एगत्ताणु-
प्पेहा ३, संसाराणुप्पेहा ४ ।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ(=भावनाएँ-ध्यान साधनें के लिये विचारो के अभ्यास) कही गई है । यथा-१ अनित्यानुप्रेक्षा (=इष्टजन- सातादि के सयोग, ऋद्धि, विषयसुख, सम्पद्, आरोग्य, देह, यौवन और जीवन अर्थात् जितने भी इन्द्रिय-गम्य पदार्थ हैं वे सभी अनित्य हैं-ऐसे विचारो का अभ्यास करना ।), २ अशरणानुप्रेक्षा (=जन्म, जरा और मरणादि के भय में-व्याधि और वेदना में-जिनवर के वचन के सिवाय, लोक में कही पर कोई भी शरण नहीं है अथवा हे 'आत्मन् ! बाहरी पदार्थों से रक्षित होने की तेरी आशा व्यथ है । कोई किसी को कर्मभोग से बचा सके-ऐसा वस्तु स्वरूप ही नहीं है । तू अपने आपमें पूर्ण है । निजबल के विकास के द्वारा ही कष्टसागर से पार पहुँच सकता है । अतः हे आत्मन् ! तू अपने-आपमें स्थित हो जा । वीतराग-वचन मार्ग-प्रदर्शन कर रहे है'..... आदि विचारों का अभ्यास ।), ३ एकत्वानुप्रेक्षा (=जन्म-मरण में और शुभ अशुभ भवरूपी भँवर में अकेले का ही गमन होता है । अतः अकेले से ही आत्मा का हित करना योग्य है अथवा हे आत्मन् ! तू अपनी वृत्तियों को अनेकधा क्यों बना रहा है ! तू अकेला है-एक है; अतः इन वृत्तियों को अपने से बाहर मत जाने दे । आत्मा ही

कर्ता है । आत्मा ही भोक्ता है आदि अकेलेपन के आत्मा-
दलम्बी विचारो का अभ्यास करना ।) और ४ ससारानुप्रेक्षा
(=जीव ने सभी जीवों के साथ सभी तरह के सम्बन्ध किये
हैं । जीव माता होकर पुत्री, पत्नी होकर बहिन, पुत्र होकर
पिता और पिता होकर पुत्र-इस ससार में हो जाता है आदि
ससार के स्वरूप सम्बन्धी विचारो का अभ्यास करना) ।

सुककञ्जाणे चउन्विहे चउप्पडोयारे पणत्ते । तं जहा-
पुहुत्तवियक्के सवियारी १, एगत्तवियक्के अवियारी २, सुहु-
मकिरिए अप्पडिवाई ३, समुच्छिन्नकिरिए अनियट्ठी ४ ।

शुक्लध्यान चार-चार भेदों से युक्त चार समवतार
वाला कहा गया है । यथा-शुक्लध्यान के चार प्रकार
१ पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी (=अर्थादि में योगो के विचरण से
युक्त भेद सहित वितर्क-विकल्प अर्थात् ऐसा ध्यान जिसमें एक
द्रव्य के आश्रित उत्पाद आदि पर्यायो के भेद से युक्त, पूर्वगत
श्रुत के आलम्बन से विविध नयों का अनुसरण करने वाला
विकल्प हो और अर्थ से व्यजन में और व्यजन से अर्थ में तथा
मन आदि योगो का एक से दूसरे में विचरण हो), २ एकत्व-
वितर्क अविचारी (=शब्दार्थ और योगो के निज-सक्रमण से
रहित अभेद-विकल्प अर्थात् ऐसा ध्यान, जिसमें किसी भी एक
योग में स्थित ध्याता का, भेद से रहित-द्रव्य के एक पर्याय
का अनुसरण करनेवाला,-पूर्वगत शब्द या अर्थ रूप विकल्प
हो ।), ३ सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती (=निर्वाण काल के समय,

योग-निरोध करते हुए, अर्द्धनिरुद्ध काययोग की स्थिति में, उन्नति की गतिशील उर्ध्वमुखी अवस्था ।) और ४ समुच्छिन्न-क्रिया अनिवर्ती (=तीनों योगों के निरुद्ध हो जाने पर शैलेश-सी निष्कम्प-निष्क्रिय स्थिति, जहां से फिर लौटना नहीं होता है ।)

सुककस्स णं भाणस्स चत्तारि लक्खणा पणत्ता । तंजहा-
विवेगे १, विउसग्गे २, अव्वहे ३, असम्मोहे ४ ।

शुक्लध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं । यथा—
१ विवेक (=देह से आत्मा का और आत्मा से सभी सयोगिक पदार्थों का, बुद्धि से पृथक्करण), २ व्युत्सर्ग (=नि.संगता से देह और उपधि का त्याग), ३ अव्यथा (=देवादि के उपसर्ग से चलित नहीं होना—पीडा का आत्मा पर असर नहीं होने देना) और ४ असमोह (=देवादिकृत माया और जिनप्रणीत सूक्ष्म पदार्थों के विषयो में मुग्ध नहीं होना अर्थात् भ्रात नहीं होना)।

टिप्पण—कभी कभी ध्यान करते समय-जब कि ध्यान में कुछ स्थिरता आने लगती है, तब-पांचों इन्द्रियों के लिये लुभावने वृश्य खड़े हो जाते हैं, संभवतः उन्हें 'सूक्ष्मपदार्थविषय' कहा गया हो या दूरश्रवण आदि शक्तियों को यह संज्ञा प्रदान की गई हो ।

सुककस्स णं भाणस्स चत्तारि आलंबणा पणत्ता तंजहा--
खंती १, मुत्ती २, अज्जवे ३, मद्द्वे ४ ।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन कहे गये हैं। जैसे—
 १ क्षान्ति (=अक्रोध-सहिष्णुता), २ मुक्ति (=निर्लोभता),
 ३ आर्जव (=कपट-त्याग) और ४ मार्दव (=मानत्याग)।

सुक्लरुस्स गं भाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पणत्ताओ ।
 अवायाणुप्पेहा १, असुभाणुप्पेहा २, अणंत-वत्तियाणुप्पेहा
 ३, विप्परिणामाणुप्पेहा ४ । से तं भाणे ।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ (=चिन्तन प्रणालियाँ)
 कही गई हैं। यथा—१ अपायानुप्रेक्षा (=आत्मा में कर्म-प्रवेश
 से होनेवाले अनर्थों का बार बार चिन्तन), २ अशुभानुप्रेक्षा
 (=ससार की अशुभता का पुन पुन. चिन्तन), ३ अनन्तदृत्तितानु-
 प्रेक्षा (=भव-परम्परा के अनन्त चक्र का चिन्तन) और
 ४ विपरिणामानुप्रेक्षा (=प्रतिक्षण पलटते हुए वस्तु के विविध
 परिणामों के चिन्तन का अभ्यास)। यह ध्यान(का स्वरूप) है।

से किं तं विउस्सग्गे ?—विउस्सग्गे दुविहे पणत्ते । तं जहा-
 दव्वविउस्सग्गे भावविउस्सग्गे य ।

व्युत्सर्ग (=आत्मा से भिन्न पदार्थों का त्याग) किसे
 कहते हैं ?—व्युत्सर्ग के दो भेद कहे गये हैं—१ द्रव्यव्युत्सर्ग और
 २ भावव्युत्सर्ग ।

से किं तं दव्वविउस्सग्गे ?—दव्वविउस्सग्गे चउव्विहे पणत्ते ।
 तं जहा—सरीरविउस्सग्गे १, गणविउस्सग्गे २, उव्हिविउस्सग्गे
 ३, भत्तपाणविउस्सग्गे ४ । से तं दव्वविउस्सग्गे ।

द्रव्यव्युत्सर्ग (=आत्मा से भिन्न द्रव्यो का त्याग) किसे कहते है ?—द्रव्यव्युत्सर्ग के चार भेद कहे गये है । जैसे— १ शरीरव्युत्सर्ग (=शरीर का और देह की ममता के वर्धक साधनो का त्याग), २ गणव्युत्सर्ग (=गण का और गण के मिथ्याभिमान-वर्धक साधनो का त्याग), ३ उपधिव्युत्सर्ग (=साधन-सामग्रियो का और उनको मोहक बनाने के साधन आदि का त्याग) और ४ भक्तपानव्युत्सर्ग (=आहार-पानी का और उनकी आसक्ति का त्याग) । यह द्रव्यव्युत्सर्ग का स्वरूप है ।

से किं तं भाव-विउत्सर्गे ?—भाव-विउत्सर्गे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-कसायविउत्सर्गे १, संसारविउत्सर्गे २, कम्म-विउत्सर्गे ३ ।

भावव्युत्सर्ग (=आत्मभाव से भिन्न भावों का त्याग) किसे कहते है ?—भावव्युत्सर्ग के तीन भेद कहे गये है । जैसे— १ कषायव्युत्सर्ग, २ ससारव्युत्सर्ग और ३ कर्मव्युत्सर्ग ।

से किं तं कसायविउत्सर्गे ?—कसायविउत्सर्गे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-कोह-कसाय-विउत्सर्गे १, माण-कसाय-विउत्सर्गे २, माया-कसाय-विउत्सर्गे ३, लोह-कसायविउत्सर्गे ४ । से तं कसाय-विउत्सर्गे ।

कषायव्युत्सर्ग किसे कहते है ?—कषायव्युत्सर्ग (=आत्म-भाव से भिन्न आवेशात्मक भावो के त्याग) के चार भेद कहे

गये है। यथा-१ क्रोध कषाय व्युत्सर्ग २ मान क० ३ माया (=छल कपट) और ४ लोभ कषाय व्युत्सर्ग । यह कषाय-व्युत्सर्ग का स्वरूप है ।

से किं तं संसारविउस्सग्गे ? -संसारविउस्सग्गे चउव्विहे पणत्ते । तं जहा-नेरइय-संसार-विउस्सग्गे १, तिरिय-संसार-विउस्सग्गे २, मणुय-संसार-विउस्सग्गे ३, देव-संसारविउस्सग्गे ४ । से तं संसारविउस्सग्गे ।

ससारव्युत्सर्ग (=आत्म दशा से विपरीत परिणति का त्याग) किसे कहते है ? ससारव्युत्सर्ग के चार भेद कहे गये है । यथा-१ नैरयिक ससारव्युत्सर्ग (=नरकगति के बन्ध के कारणों, का त्याग), २ तिर्यञ्च ससार व्युत्सर्ग (=आत्मा के तिर्यञ्च अवस्था में परिणत होने के कारणादि का त्याग ३ मनुष्य ससार व्युत्सर्ग (=मनुष्यगति के बन्ध के कारणों का त्याग) और ४ देव ससार व्युत्सर्ग (देवगति के बन्ध के कारणों का त्याग) । यह ससारव्युत्सर्ग का स्वरूप है ।

से किं तं कम्मविउस्सग्गे ? -कम्मविउस्सग्गे अट्ठविहे पणत्ते तंजहा-णाणावरणिज्जकम्मविउस्सग्गे १, दरिसणावरणिज्ज-कम्मविउस्सग्गे २ वेयणीयकम्मविउस्सग्गे ३, मोहणीय-कम्मविउस्सग्गे ४, आऊयकम्मविउस्सग्गे ५, णामकम्म-विउस्सग्गे ६, गोयकम्मविउस्सग्गे ७, अंतराय कम्म-विउस्सग्गे ८ । से तं कम्म विउस्सग्गे । से तं विउस्सग्गे ।

कर्मव्युत्सर्ग (आत्मा के बन्वक भावों का त्याग) किसे कहते हैं ?—कर्मव्युत्सर्ग के आठ भेद कहे गये हैं। जैसे—१ ज्ञानावरणीय कर्म व्युत्सर्ग (—ज्ञानगुण के आवरण रूप में कर्मपुद्गलों का जीव प्रदेशों के साथ सम्बन्धित होजाने के कारणों का त्याग), २ दर्शनावरणीयकर्म व्युत्सर्ग (सामान्य ज्ञान गुण के आवरण रूप में, कर्मपुद्गलों का जीवप्रदेशों के साथ बँध जाने के कारणों का त्याग), ३ वेदनीय कर्म व्युत्सर्ग (=साता असाता की वेदना के कारण रूप कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ बद्ध होने के हेतुओं का और साता-असाता से आत्म-अभेदता की प्रतीति का त्याग), ४ मोहनीय कर्म व्युत्सर्ग (=स्व-प्रतीति और स्वभाव-रमण में बाधक कर्म-पुद्गलों का जीव के साथ बद्ध होने के हेतुओं का त्याग), ५ आयुष्य कर्म व्युत्सर्ग (=जीव की अमरत्व शक्ति के बाधक कर्मपुद्गलों का जीव के साथ बद्ध होने के हेतुओं का और उस कर्म के उदय से होनेवाली अवस्थाओं में अपनेपन के भान का त्याग), ६ नाम कर्म व्युत्सर्ग (=आत्मा के अमूर्तता-गुण को विकृत करनेवाले कर्म पुद्गलों का जीव से बद्ध होने के कारणों का और उस कर्म के उदय से होनेवाली दशाओं में अपनेपन की भ्रान्ति का त्याग), ७ गोत्र-कर्म-व्युत्सर्ग (=जीव के अगुरु लघु-न हलकापन और न भारीपन रूप-गुण को विकृत करनेवाले कर्मपुद्गलों के जीव के साथ बद्ध होने के कारणों का और उस कर्म के उदय से होनेवाली दशाओं

मे अपनेपन की भ्रान्ति का त्याग) और ८ अतरायकर्म व्युत्सर्ग (= जीव के अनन्त शक्ति गुण को सीमित करनेवाले कर्म-पुद्गलो का जीव से बद्ध होने के कारणों का त्याग) । यह कर्मव्युत्सर्ग है । यह भावव्युत्सर्ग का स्वरूप है ।

टिप्पण-योग के पहले अंग 'यम' को छोड़कर, शेष २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम (=प्राण+आयाम=प्राणों का व्यायाम अर्थात् श्वास-उच्छ्वास के नियमन के द्वारा मानसिक और कायिक शिथिलीकरण की साधना), ५ प्रत्याहार (=प्रति+आहार=चिषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों को रोकना), ६ धारणा, ७ ध्यान और ८ समाधि-इन सप्तांगों का समावेश दोनों प्रकार के तपों में हो सकता है । किन्तु जैनशासन में प्राणायाम अंग, जिस रूप में योग ग्रंथों में वर्णित है, उस रूप में मान्य नहीं है । क्योंकि प्राण-निर्वहन से आर्तता उत्पन्न होती है और वहिर्दृष्टि का भी आविर्भाव होजाता है । काय-प्रतिसलीनता और ध्यानासन में श्वास की सहज गति में ही ध्यान लगाना विहित है । उसका भी अलग से विधान नहीं है । क्योंकि एकाग्रतापूर्वक अनुप्रेक्षादि की साधना करते हुए, प्राण की गति स्वभावतः ही अनुलोम हो जाती है । योगांगों की अपेक्षा इनमें विशेषता भी है । योगांगों में दोषों की शुद्धि के लिये स्पष्टरूप से विधान नहीं है । उनमें व्यक्ति के निज के प्रति किये जानेवाले व्यवहारों पर ही अधिक जोर देते हुए, ध्यान के विकास का मार्ग ही सूचित किया है । किन्तु इस तपोवर्णन में जीवन के समस्त व्यवहारों को ही तपरूप से परिवर्तित कर देने की विधि बतलाई गई है । जिससे साधना समस्त जीवन-स्पर्शा और सर्वकालिकी होकर, साध्य से सहज ही मिला दे । अर्थात् इस तपोविधान का यही ध्येय है कि साधक बलभर के लिये भी साध्य-भान से मुक्त होकर, तप से शन्य न बने ।

व्युत्सर्ग तप में ममकार-त्याग का चरम विकास हुआ है। इसकी व्याख्या सब तप के अन्त में हुई है। शास्त्रकार कहीं-कहीं ऐसी शैली का अवलम्बन लेते हैं, कि-जिसमें व्याप्यभावों का वर्णन पहले और व्यापक भावों का वर्णन बादमें आता है। जैसे पञ्च-परमेष्ठी के वर्णन में अन्त में साधुपद, सम्यक्त्व के लक्षणों में अन्त में आस्तिक्य लक्षण। जिस प्रकार साधुत्व के बिना आचार्यत्व-उपाध्यायत्व नहीं आ सकता है और न अर्हद्-दशा एवं सिद्ध दशा ही प्राप्त हो सकती है तथा आस्तिक्य के बिना प्रशमादि की वास्तविक स्वरूप में प्राप्ति ही नहीं हो सकती है, आते भी हैं तो स्थिर नहीं रह सकते हैं। उसी प्रकार व्युत्सर्ग के अभाव में कोई भी तप, मुक्तिमार्ग के अनुकूल साधना संभव नहीं है। अतः तप का सार व्युत्सर्ग है। क्योंकि व्युत्सर्ग की साधना सम्पूर्ण होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। व्युत्सर्ग की साधना से साधक परमोज्ज्वल दशा को प्राप्त कर लेता है।

भगवान् महावीर के शिष्यों का जीवन तप की सुवासना से सुवासित था।

अनगारों की सक्रियता

२१—ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भग-
वओ महावीरस्स बहवे अणगारा भगवंतो—

उस काल और उस समय में (=जब चम्पा में पधारे थे तब) श्रमण भगवान् महावीर के (साथ) बहुत से अनगार भगवन्त थे।

अप्पेगइया आयारधरा जाव विवागसुयधरा + ।

+ क्वचिद् दूश्यते-तत्य तत्य तर्हि तर्हि गच्छागच्छि गुम्मागुम्नि फड्डाफड्डि च ।

उनमें कई आचारश्रुत के धारक यावत् विपाकश्रुत के धारक थे । अर्थात् आचाराग से लेकर विपाकश्रुत तक ग्यारह अगो के धारक थे ।

अप्पेगइया वायंति । अप्पेगइया पडिपुच्छंति । अप्पेगइया परियट्टंति । अप्पेगइया अणुप्पेहंति ।

ऐसे उन अनगारो में से, वहा कई वाचना करते थे । कई प्रतिपृच्छा (=प्रश्नोत्तर-शका समाधान) करते थे । कई पुनरावृत्ति करते थे और कई अनुप्रेक्षा करते थे ।

अप्पेगइया अक्खेवणीओ विक्खेवणीओ संवेयणीओ णिव्वेयणीओ चउच्चिहाओ कहाओ कहंति ।

कई आक्षेपणी (=मोह से हटाकर, तत्त्व की ओर आकर्षित करनेवाली), विक्षेपणी (=कुमार्ग से विमुख बनाने वाली), सवेगनी (=मोक्षसुख की अभिलाषा उत्पन्न करनेवाली) और निर्वेदनी (=ससार से उदासीन बनानेवाली)—ये चार प्रकार की धर्मकथाएँ कहते थे ।

अप्पेगइया उड्डं जाणू अहोसिरा भाणकोट्टोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।

कई ऊँचे घुटने और नीचा शिर रखकर, ध्यानरूप कोष्ठ (=कोठे) में प्रविष्ट होकर, समय और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते थे ।

संसार-सागर में तैरना

संसार-भउव्विग्गा भीया

वे संसार के भय से उद्विग्न और डरे हुए थे ।

जन्मण-जर-मरण-करण-गंभीर-दुख-पक्खुब्भिय-पउर-सलिलं

संसार-सागर जन्म, जरा और मरण के द्वारा उत्पन्न हुए गंभीर दुख रूप क्षुब्धित अपार जलसे भरा हुआ है ।

संजोग-विओग-विची - चिंता-पसंग-पसरिय-वह-बंध-महल्ल-विउल-कल्लोल-कलुण-विलविय-लोभ-कलकलंत-बोल-बहुलं

उस दुख रूप जल में संयोग-वियोग रूप लहरे पैदा होती है ! वे तरंगों चिन्ता-प्रसंगों से फैलती है । बध और बन्धन रूप बड़ी मोटी कल्लोले है, जो कि करुण विलाप और लोभ रूप कलकलायमान ध्वनि की अधिकता से युक्त है ।

अवमाणण-फेण-तिव्व-खिसण-पुलंपुल-प्पभूअ-रोग-वेयण-परिभव विण्णिय-फरुस-धरिसणा-समावडिय-कट्ठिण-कम्म-पत्थर-तरंग-रंगंत-निच्च-मच्चुभय तोयपट्टं-कसाय-पायाल-संकुलं

भवसागर में भरे हुए दुख रूप जल का ऊपरी भाग नित्य मृत्युभय है । वह तिस्कार रूप फेन से फेनिल रहता है । क्योंकि तीव्र निन्दा, निरन्तर होनेवाली रोग-वेदना, पराभिभव के सम्पर्क, कठोर वचन और भर्त्सना से बद्ध-मजबूत बने हुए

कर्मोदय रूप कठिन पत्थरो पर (सयोग-वियोगादि रूप) तरंगे टकराती रहती है। भवसागर चार कषाय रूप पाताल कलशों से (अथवा तले की भूमि से) व्याप्त है।

भव-सय-सहस्र-कलुस-जल-संचयं पद्भयं

ससार सागर में सैकड़ों-हजारों लाखों भवों के कलुष (=पाप) जल संचय (=जल-राशि की वृद्धि के कारणों से युक्त) है। वह प्रत्यक्ष भयङ्कर है।

**अपरिमिय-महिच्छ-कलुस-मइ-वाउ-वेग- उद्धुम्म - माण-दग-
रय-रयंधयार-वर-फेण-पउर-आसा-पिवास-धवलं**

ससारसागर अपार महेच्छा से मलिन बनी हुई मति रूप वायु के वेग से ऊपर उठते हुए जलकणों के समूह के वेग (=रय=आवेश) से अन्वकार युक्त और (वायु वेग से उत्पन्न होते हुए) सुन्दर (अवमाननादि रूप) फेन से छाई हुई (या फेन के सदृश) आशा (=अप्राप्त पदार्थों के प्राप्ति की समावना) और पिपासा (=अप्राप्त पदार्थों के प्राप्ति की आकांक्षा) से धवल है। इसलिये—

**मोह-महावत्त-भोग, भममाण-गुप्पमाणुच्छलंत -पच्चोणियत्त-
पाणिय-पमाय चंड-वहुदुडु-सावय-समाहउद्वायमाण-पब्भार-
घोर-कंदिय-महारव-रवंत-भेरव-रवं ।**

(ससारसागर) में मोह रूप बड़े बड़े आवृतं है। आवृतं में भोग रूप भँवर (=पानी के गोल घुमाव) उठते हैं। अत

दुःख रूप पानी चक्कर लेता हुआ, व्याकुल होता हुआ, ऊपर उछलता हुआ और नीचे गिरता हुआ दिखाई देता है । वहा प्रमाद रूप भयंकर एव अतिदुष्ट जलजन्तु है । जल के उठाव गिराव और जल जन्तुओं से घायल होकर, इधर उधर उछलते हुए (क्षुद्र जीवों के) समूह है, जो क्रन्दन करते रहते हैं । इस प्रकार संसारसागर गिरते हुए दुःख रूप जल, प्रमाद रूप जलजन्तु और आहत ससारी जीवों के प्रतिध्वनि सहित होते हुए महान् कोलाहल रूप भयानक घोष से युक्त है ।

अण्णाण-भमंत-मच्छ-परिहत्थ-अणिहुयिंदिय-महामगर-तुरिय
चरिय-खोखुवभमाण- नच्चंत-चवल-चंचल -चलंत- घुम्मंत-
जल-समूहं

संसारसागर में भमते हुए अज्ञान रूपी चतुर मत्स्य है और अनुपशान्त इन्द्रियाँ रूप महामगर है । ये (मत्स्य-मगर) जल्दी-जल्दी हलन-चलन करते हैं । जिससे (दुःख रूप) जल समूह क्षुभित होता है—नृत्य-सा करता हुआ चपल है—एक स्थान से दूसरे स्थान पर चलता हुआ एव घूमता हुआ चञ्चल है ।

अरइ-भय-विमाय-सोग मिच्छत्त-सेल-संकडं

अरति (=अरुचि—सयम स्थानों में निरानन्द का भाव), भय, विषाद, शोक और मिथ्यात्व (=मिथ्याभाव=कुश्रद्धा) रूप पर्वतों से भवसागर व्याप्त है ।

अणाइ-संताण-कम्म-बंधण-किलेस-चिक्खिल-सुदुत्तारं

वह भवसागर अनादि कालीन प्रवाहवाले कर्मबन्धन और बलेश रूप कीचड से अति ही दुस्तर बना हुआ है ।

अमर-नर-तिरिय-निरय-गङ्-गमण-कुटिल-परिवत्त-विउल-वेलं

वह देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गति में गमन रूप कुटिल परिवर्तन (भँवर) से युक्त विपुल ज्वारवाला है ।

चउरंत-महंत-मणवदग्गं + रुदं संसारसागरं

चार गतिरूप चार अन्त (=दिशा) वाला महान्, अनन्त और विस्तीर्ण (या रौद्र) संसारसागर है ।

भीमदरिसणिज्जं तरंति धीई-धणिय-निप्पकंपेण तुरिय चवलं संवर-वेरग-तुंग-कूवय-सुसंपउत्तेणं णाण-सित-विमल-मूसिएणं समत्त-विसुद्ध-लद्ध-णिज्जामएणं धीरा संजमपोएण सीलक-लिया ।

वे धीर और शीलवान् अनगार, भयकर दिखाई देने-वाले संसारसागर को सयम रूपी जहाज से शीघ्रगति से पार कर रहे थे । वह सयमयान घैर्यरूप रस्सी के बन्धन से बिलकुल निष्कम्प बना हुआ था । सवर (=हिंसादि से विरति) और वैराग्य (=ऋषायनिग्रह) रूप ऊँचा कूपक (=मस्तूल, स्तम्भ विशेष) उस सयम पोत में सुन्दर ढग से जुडा हुआ था । उस यान में ज्ञान रूप सफेद विमल वस्त्र ऊँचा किया हुआ (=तना हुआ) पाल था । विशुद्ध सम्यक्त्व रूप निर्यामक (=कर्णधार या कप्तान) प्राप्त हुआ था ।

पसत्थ-ज्झाण-तव-वाय-पणोल्लिअ-पहाविणं

वह समयपोत प्रशस्त ध्यान और तपरूप वायु की प्रेरणा से शीघ्रगति से चलता था ।

उज्जम-ववसाय-भगहिय-निज्जरण-जयण-उवओग-^{*}णाण-दंसण-विसुद्ध-वय-भंड-भरिय-सारा

उसमें उज्जम (=अनालस्य) और व्यवसाय (=वस्तुनिर्णय या सद्व्यापार) से गृहीत (=क्रीत=खरीदे हुए) निर्जरा, यतना, उपयोग, ज्ञान, दर्शन और विगुद्ध व्रत रूप सार पदार्थ भाण्ड (=क्रयाणक), अनगारो द्वारा भरे गये थे ।

जिणवर-वयणोवदिट्ठ-मग्गेणं अकुडिलेण सिद्धि-महा-पट्टणाभिमुहा समण-वर-सत्थवाहा

जिनवर (=राग द्वेष से रहित व्यक्तियों में श्रेष्ठ) के वचनों से उपदिष्ट मार्ग के द्वारा, वे श्रेष्ठ श्रमण साथवाह सिद्धि रूप महापट्टण (=बड़े बन्दरगाह) की ओर मुख रखकर सीधी गति से समय पोत के द्वारा जा रहे थे ।

सुसुइ-सुसंभास-सुपण्ह-सासा

वे सम्यक्श्रुत (=सत्सिद्धान्त ग्रन्थ), सुसभाषण, सुप्रश्न और शोभन आशावाले थे अथवा सम्यक्श्रुत, सुसभाषण और सुप्रश्न के द्वारा शिक्षा के दाता थे ।

गामे गामे एगरायं, नगरे नगरे पंचशायं दूइज्जंता जिइंदिया

* 'णाण-दंसण-चरित्त-विसुद्ध-वर-भंड-भरिय-सारा'-इति पा० ।

शिबभया गयभया, सचित्ताचित्त-मीसिएसु दब्बेसु विरागयं
गया संजया विरया + मुत्ता लहुया णिरवकंखा साह् णिहुया
चरंति धम्मं ।

वे अनगार, गाँवों में एक रात्रि और नगरो में पांच रात्रि तक निवास करते हुए, जितेन्द्रिय (=इन्द्रियो को जीतने वाले), निर्भय (=भय मोहनीय के उदय को रोकने वाले), गत भय (=भय के उदय को निष्फल करनेवाले) होकर, सचित (=जीव सहित), अचित्त (=निर्जीव) और मिश्र (=सजीव और निर्जीव अश वाले) द्रव्यो में वैराग्यवान, सयत (=सम्यक् यत्न वाले), विरत (=हिंसादि से निवृत्त), मुक्त (=ग्रन्थि रहित-अनासक्त), लघुक (=हलके, अल्प उपधिवाले), निरवकाक्ष (=अप्राप्त पदार्थ की आकाक्षा से रहित), साधु (=मोक्ष के साधक) और निभृत (=प्रशान्त वृत्तिवाले होकर, धर्म का आचरण करते थे ।

टिप्पण—इस सूत्रमें संसार सागर का और उसे तैरने का सागोपाग वर्णन किया गया है । पहले सूत्रों में जितेन्द्रियादि विशेषण आ चुके हैं । पुन इस सूत्र में भी ये विशेषण आये हैं । किन्तु इसे पुन-रुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए । क्यों कि यह अनगार के गुणों का कीर्तन है । गुणवर्णन या स्तुति आदि में पुन. पुन. गुणवर्णन दूषण नहीं माना जाता है । जैसा कि कहा है—

सज्जाय-ज्ञाण-तव-ओसहेसु, उवएस थुइ-पयाणेसु ।

संत-गुण-कित्तणासु य, न ह्वति पुनरुत्त दोसा उ ॥ (टीका)

+ सचयाओ विरया

दूसरी बात, कहीं भ्रमणत्व गुणके व्याख्यान में तो कहीं स्वविरों के लक्षणों के कथन में ये विशेषण आये हैं। अतः थोड़ा बहुत अर्थ में अन्तर अवश्य रहता है और भिन्न व्यक्तित्वों के विषय में कथन होने से भी पुनरुक्ति दोष नहीं माना जा सकता है।

देवों का आगमन

२२—ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स
भगवओ महावीरस्स बहवे असुरकुमारा देवा अंतिअं पाउ-
भवित्था ।

उस काल और उस समय में भ्रमण भगवान् महावीर के समीप बहुत से असुरकुमार देव प्रकट हुए ।

देवों का शरीर और शृङ्गार

काल-महाणील-सरिम-णील-गुलिय-गवल - अयसि - कुसुम-
प्पगासा

उनका वर्ण—काली महानील मणि के समान था और नीलमणि, गुलिका, भैसे के सींग और अलसी के फूल के समान दीप्ति थी ।

वियसिय-सयपत्तमिव पत्तल-निम्मल-ईसिं-सितरत्त-तंब गायणा
गरुलायत-उज्जु-तुंग-णासा

विकसित शतपत्र (=कमल) के समान निर्मल पक्ष्मल (=बरौनीवाले) कुछ-कुछ सफेद, लाल और ताम्रवर्णवाले

उनके नयन थे । उनकी नासिका गरुड़ की नाक-सी लम्बी,
सीधी और ऊँची थी ।

उश्चिअ-सिल-प्पवाल-विंवफल-सण्णिभाहरोट्टा ।

सस्कारित शिला प्रवाल और विम्बफल के समान
लाल अधरोष्ठ थे ।

पंडुर-ससि-सकल-विमल-णिम्मल्ल संख गोकखीर-फेण-दगरय
मुणालिया-धवल-दंत सेठी

उनके दातों की पडिक्त निष्कलङ्क चन्द्र के टुकड़े,
निर्मल शख, गाय के दूध, फेन, जलकण और कमलनाल के
समान सफेद थी ।

हुयवह णिद्धंत-धोय-तत्त-तवणिज्ज-रत्त-तल-तालु-जीहा अंजण
घण-कसिण-रुयगं-रमणिज्ज-णिद्धकेसा

उनके हाथ-पैर के तलवे, तालु और जीभ, अग्नि से
निर्मल बने हुए तपे हुए स्वर्ण के समान लाल थे । अञ्जन
और मेघ के समान काले और रुचक मणि के समान रमणीय
और स्निग्ध बाल थे ।

वामेग कुंडलधरा अद्दचंदणाणुलित्त गत्ता ।

उनके बायें कानमें एक-एक कुण्डल था । उनके शरीर
पर चन्दन का गीला लेप लगा हुआ था ।

ईसिं-सिलिंध-पुप्फ-प्पगासाइं सुहुमाइं असंफिलिद्धाइं वत्थाइं
पवर-परिहिया ।

वे शिलिघ्रा पुष्प के समान दीप्तिवाले क्रोमल-पतले और दूषण रहित वस्त्रों को उत्तम ढग से पहने हुए थे ।

टिप्पण—यहां मूल में 'सिलिघ' शब्द है । जिसका अर्थ टीकाकार ने 'ईषत् सित्' अर्थात् 'कुछ सफेद' किया है । और मतान्तर में 'असुरेसु' होति रत्ता' ऐसा दिया है सो यह पाठ पन्नवणा सूत्र के दूसरे पद का है जिसका अर्थ टीकाकार ने 'ईषत् रक्तानि' अर्थात् 'साधारण लाल' बताया है । यह लाल वस्त्र अर्थ ठीक मालूम पड़ता है ।

वयं च पठमं समङ्कंता, वितियं च वयं असंपत्ता, भदे जोव्वणे वट्टमाणा ।

वे पहली वय (=बाल अवस्था) से पार चहुँचते हुए और दूसरी वय (=यौवन अवस्था) को नहीं पाये हुए—भद्र-यौवन (=कुमार अवस्था) में स्थित थे ।

टिप्पण—वय के विषय में टीकाकार ने निम्न लिखित श्लोक उद्धृत किया है—

आषोडशाद्भवेद्वालो, यावत् क्षीराघ्ननिवर्तकः ।
मध्यम सप्तर्ति यावत्, परतो वृद्ध उच्यते ॥

अर्थात् १६ वर्ष की वय तक बाल, ७० वर्ष की वय तक मध्यम और इसके बाद वृद्ध अवस्था कही जाती है ।

तलभंगय-तुडीय-पत्रर-भूसण - निम्मल-मणि - रयण - मंडिय-भुया (दस-मुद्दा मंडियग्ग-हत्था)

उनकी भुजाएँ मणिरत्नों से बने हुए अति श्रेष्ठ तल भगक (=बाहु के आभरण), त्रुटिका (=बाहु=रक्षिका या तोडे) और निर्मल भूषणों से सुशोभित थी । दसो अंगुलियों में पहनी हुई अंगुठियों से उनके हाथ सुशोभित थे ।

चूलामणि चिधगया

उनके चूडामणि (=शिरोमणि) रूप में चिन्ह थे अर्थात् उनके मुकुट में चूडामणि का चिन्ह था ।

सुरूत्रा महिड्डिया महज्जुइया महव्वला महायसा महासोक्खा
महाणुभागा

वे सुरूप, महद्विक (=विशिष्ट भवन परिवारादि वाले) महती द्युति के धनी, महाबली, महासोस्य के स्वामी और महानुभाग (=अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न) थे ।

* (हार विराइय वच्छा कडग-तुडिय थंभिय-भुया अंगय-कुंडल-मट्ट-गंडतल-कण्ण-पीठ-धारी विचित्त वत्थाभरणा विचित्त-माला-मउलि-मउडा कल्लाण-कय-पवर-वत्थ-परि-हिया कल्लाण-कय-पवर-मल्लाणुलेवणा भासुरवोदी पलंब वण मालधरा)

उनके वक्षस्थल हार से सुशोभित थे । उनकी भुजाएँ ककणो और बाहुरक्षिका से स्तभित (=स्थिर) बन रही थी । वे भुजवध, कुण्डल, सुन्दर स्वच्छ कपोल या कस्तुरी से चित्रित गण्डस्थल वाले और कर्णपीठ (=कान के आभूषण) के धारक थे । उनके वस्त्राभरण या हस्ताभरण विचित्र थे । उनके मस्तको पर विचित्र पुष्पमालाओं से युक्त मुकुट थे ।

* () इस कोष्टक गत पाठ को टीकाकार ने गमान्तर का बतलाया है ।

वे कल्याणकारी श्रेष्ठ फूलों और विलेपनों से युक्त, झुलती हुई मालाओं और सभी ऋतुओं के पुष्पों से बनी हुई घुटनों तक लटकती हुई मालाओं से विभूषित प्रकाशमान् देह वाले थे।

दिव्हेणं वरणेणं, दिव्हेणं गंधेणं दिव्हेणं रूपेणं दिव्हेणं फासेणं दिव्हेणं संघाएणं दिव्हेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्डिए दिव्वाए जुत्तीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्हेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जो-वेमाणा पभासेमाणा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिअं आगम्मागम्म, रत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आया-हिणं पयाहिणं करेइ ।

वे देव दिव्य वर्ण, दिव्य गन्ध, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श, दिव्य संहनन (=शारीरिक गठन), दिव्य सस्थान (=आकार), दिव्य ऋद्धि, दिव्य युक्ति (=विवक्षित अर्थ के योग से), दिव्य प्रभा, दिव्य छाया (=कान्ति), दिव्य अर्चि (=शरीरस्थ रत्नादि की तेजोज्वाला), दिव्य तेज और दिव्य लेश्या (=शारीरिक वर्ण) से दशो दिशाएँ प्रकाशित करते हुए—शोभायमान करते हुए, भगवान् महावीर के समीप में आ-आकर, अनुराग सहित श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा करते थे।

टिप्पण—यहाँ देवों में 'दिव्य संहनन' कहा है, उसका आशय यहाँ पर यह है—हड्डियों की रचना विशेष को संहनन कहते हैं। देवों का शरीर

वैक्रिय होने से उसमें हड्डियां नहीं होती हैं । अतः यहाँ हड्डियों की रचना रूप सहनन नहीं समझना चाहिए, किन्तु उनकी शक्ति विशेष की अपेक्षा शरीर की दृढता होने से सहनन की तरह दिखाई देने से 'दिव्य सहनन' बतलाया है । टीकाकार ने 'वज्र पञ्चभनाराच' अर्थ किया है, इसका यही अर्थ समझना चाहिए कि वज्ररूपभनाराच की तरह दृढ़ ।

करेत्ता वंदन्ति णमंसन्ति । वंदित्ता णमंसित्ता + णच्चासणो
णाडदूरे सुस्सुसमाणा णमंसमाणा अभिसुहा विणएणं पंज-
लिउडा पज्जुवासन्ति ।

वन्दना नमस्कार करते थे । फिर न अधिक नजदीक न अधिक दूर (स्थित रहकर,) भगवान् की ओर मुख रखकर, विनय सहित दोनों हाथ जोड़कर, पर्युपासना कर रहे थे ।

२३--ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भग-
वओ महावीरस्स बहवे असुरिंदवज्जिया भवणवासी देवा
अंतियं पाउब्भवित्था-णागपइणो सुवण्णा, विज्जू अग्गीया
दीवा उदही दिसाकुमारा य पवण-थणिया य भवणवासी ।
णागरुडा - गरुल-वयर-पुण्णकलस-सीह-^x हय - गय-मगर-
मउड-वद्धमाण-ण्णित्त-विचित्त चिंधगया * सुरूवा महिड्डिया

+ वाचनान्तरे दृश्यते-साहं साहं नाम गोयाहं सार्विति ।

x टीकाया दृश्यते-'हयवर, गयङ्क मयरक वरमउड'-इति ।

* इह सूत्रे 'पुण्णकलस सकिण्ण उप्फेस सीहे' त्येवं क्वचिद्
विशेषो दृश्यते ।

सैसं तं चैव जाव पञ्जुवासंति ।

उस काल और उस समय में, श्रमण भगवान् महावीर के समीप, असुरेन्द्र को छोड़कर, अन्य बहुत से नागकुमार, सुवर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधि-कुमार, दिशाकुमार, पवनकुमार और स्तनितकुमार जाति के भवनवासी देव प्रकट हुए । उनके यथा स्थान से विचित्र (=विविध) चिन्ह नियुक्त थे, यथा-१ नागफण, २ गरुड, ३ वज्र, ४ पुण्यकलश, ५ सिंह, ६ अश्व, ७ हाथी, ८ मगर, और ९ वर्द्धमानक (=शराव) चिन्ह से अङ्कित मुकुट थे । वे सुरूप, महर्द्धिक आदि असुरकुमार देवों के वर्णन के समान हैं, यहा तक-‘पर्युपासना कर रहे थे’ ।

२४--तेषां काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वहवे वाणमंतरा देवा अंतियं पाउव्ववित्था ।

उस काल और उस समय में, श्रमण भगवान् महावीर के समीप, बहुत से वाणव्यन्तर देव प्रकट हुए ।

पिसाया १, भूया य २, जक्ख ३, रक्खस ४, किंनर ५, किंपुरिस ६, भुयगवड्ढणो य महाकाया ७, †गंधव्वणिक्काय-गणा-णिउणगंधव्वगीयरड्ढणो ८, अणपणिय ९, पण-पणिय १०, इसिवाइय ११, भूयवाइय १२, कंदिय १३, महाकंदिया य १४, कुहंड १५, पयए य १६, देवा ।

† गधव्व पइ गणा-पा०

वाणव्यन्तर देव निम्न लिखित जाति के थे—१ पिशाच, २ भूत, ३ यक्ष, ४ राक्षस, ५ किन्नर, ६ किंपुरुष, ७ महाकाय महोरग, ८ अति ललित गधर्व (=नाट्य गीत) और गीत (=नाट्य वर्जित गेयगीत या सगीत) में रति (=आसक्ति-प्रीति) रखनेवाले गधर्वनिकाय (=गधर्व जाति) के गण, ९ अण-पण्णिय, १० पणपण्णिय, ११ ऋषिवादिक, १२ भूतवादिक, १३ ऋदित, १४ महाऋन्दित, १५ कुण्माण्ड और १६ प्रयत देव ।

चंचल-चवल-चित्त-कीलण-दव-पिया * गंभीर-हसिय-भणिय-पीय-गीय-णच्चण-रई

वे देव चञ्चल-चपल (=प्रति चञ्चल) चित्तवाले, क्रीडा और परिहास प्रिय थे । उन्हें गंभीर हास्य और वाणी का प्रयोग प्रिय था । वे गीत और नृत्य में रतिवाले (=आसक्ति) थे ।

वणमाला मेल-मउड-कुंडल -सच्छंद-विउच्चिया-भरण-चारू-विभूषण-धरा सव्वोउय-सुरमि-कुसुम-सुरहय-पलंब-सोहंत-कंत-वियसंत-चित्त-वणमाल-रइय-वच्छा कामगमी कामरूवधारी

वे वनमाला, फूलों का सेहरा (=आमेलक), मुकुट, कुण्डल, अपनी इच्छा के अनुसार विकुर्वित्त (=विविध रूप बनाने की शक्ति से निर्मित) अलंकार और सुन्दर आभूषणों

को पहने हुए थे । सभी ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले सुगन्धित फूलों से सुन्दर ढग से बनी हुई लम्बी मालाओं और शोभित, कान्त, विकसीत एवं विचित्र वनमालाओं से उनके वक्षस्थल सुशोभित थे । वे इच्छागामी (=जहा जाने का हो, वहां जाने की इच्छा करते ही उस स्थान पर पहुँच जानेवाले या इच्छित स्थान पर जानेवाले) और काम रूपधारी (=इच्छा होते ही रूप को पलटने की शक्तिवाले या इच्छित रूप के धारक) थे ।

शाणाविह-वरण-राग-वर-वत्थ-चित्त-चिल्लिय - शियंसणा
विविह-देसी-शेवत्थ-ग्गहिय-वेसा

वे नाता भाँति के वर्ण-रगवाले श्रेष्ठ वस्त्र और विविध भडकीले परिधान (=पहनावा) के धारक थे । विविध देशरूढ वेश-भूषाएँ, उन्होंने ग्रहण कर रखी थी ।

प्रमुइय-कंदप्प-कलह - केलि-कोलाहल - प्पिया हास - बोल-बहुला +

वे प्रमुदित कन्दर्प (=काम प्रधान क्रोडा), कलह (=राटी-रार), केलि (क्रोडा) और कोलाहल में प्रीति रखने वाले थे । वे बहुत हँसनेवाले और अधिक बोलनेवाले थे ।

अरोग-मणि-रयण-विविह-निजुत्त-विचित्त - विंधगया सुखा
महिद्धिआ जाव पज्जुवासंति ।

उनके अनेक मणि-रत्नमय नियुक्त विविध एवं विचित्र चिन्ह थे । वे सुरूप, महर्द्धिक थे—यावत् पर्युपासना करने लगे ।

टिप्पण—पहले के आठ जाति के वाणव्यन्तर देवी के चिन्ह—
१ कदम्नध्वज, २ सुलस, ३ वट, ४ खट्वाण, ५ अशोक, ६ चम्पक,
७ नाग श्रीर ८ तुम्बरी ।

ॐ—ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ
महावीरस्स जोइसिया देवा अंतियं पाउब्भवित्था; विहस्सती
चंद सूर सुक्क सण्णिच्चरा राहू धूमकेतू बुहा य अंगारका
य तत्त तवण्णिज्ज-कण्ण-वण्णा जे गहा जोइसंमि चारं चरंति ।

उस काल और उस समय में भगवान् महावीर के समीप ज्योतिष्क देव प्रकट हुए । बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र, शनिश्चर, राहू, धूमकेतु, वृष और अगारक (=मंगल)—जो कि तपे हुए स्वर्णबिन्दु के समान वर्ण वाले हैं—एवं वे ग्रह, जो ज्योतिश्चक्र में भ्रमण करते हैं वे भगवान् महावीर के समीप प्रगट हुए ।

टिप्पण—‘जे य गहा’ . इस सूत्र में ‘ज’ पद से बृहस्पति आदि नवग्रहों के सिवाय अन्य ग्रहों को ग्रहण किया गया है । (-टो०) क्योंकि मनुष्य लोक में और मनुष्य लोक के बाहर एक एक चन्द्र सूर्य रूप युगल के द्वादश-द्वादश ग्रह होते हैं ।

केरु य गइरइया । अट्टावीसविहा य णक्खत्त-देवगणा ।
णाणासंठाण-संठियाओ पंचवण्णाओ ताराओ । ठियलेस्सा

चारिणो य अविस्साम-मंडल गई । पत्तेयं णामंक्र-पागडिय-
चिंध-मउडा । महिड्डिया जाव पज्जुवासंति ।

गतिशील केतु, नाना आकार वाले अट्टावीस प्रकार के नक्षत्र देवगण और पाँचो वर्ण के तारा जाति के देव प्रकट हुए । उनमें स्थित (=गति रहित) रहकर प्रकाश करनेवाले और निरन्तर (=अविश्राम) मण्डलाकार गति से चलनेवाले दोनो तरह के ज्योतिष्क देव थे । प्रत्येक ने स्वनामाङ्कित विमान के चिन्ह से मुकुट धारण किये थे । वे महर्द्विक थे... यावत् पर्युपासना करने लगे ।

टिप्पण—‘धूमकेतु’ के अतिरिक्त ‘जलकेतु’ आदि केतुओं का ‘केऊ य गइरइया’ पदों के द्वारा उल्लेख किया गया है । ‘गइरइया’ (=गति में आनन्दानुभव करनेवाले) विशेषण मनुष्य लोक की अपेक्षा से दिया गया है । नक्षत्रों के लिये ‘देवगण’ विशेषण प्रयोग हुआ है । क्योंकि कई नक्षत्र अनेक ताराओं के समूह के रूप में हैं । अतः वे नाना सस्यान वाले हैं । यह बात पन्नवणा के दूसरे स्थानपद से भी स्पष्ट होती है ।

२६—ते णं काले णं ते णं समए णं भगवओ महा-
वीरस्स वेमाणिया देवा अंतियं पाउब्भवित्था । सोहम्मीसाण-
सणंकुमार-माहिंद-वभ-लंतक-महासुकक-सहस्साराणय-पाणया-
रण-अच्चुयवई पहिड्डा देवा ।

उस काल और उस समय मे अमण भगवान् महावीर के समीप में सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लातक,

महाशुक्र, सहस्र, आणत, प्राणत, आरण और अच्युत देव लोको के पति (=इन्द्र) आये । वे सब देव अत्यन्त प्रसन्न थे ।

जिण-दंसणुस्सुगागमण-जणिय-हासा

वे जिन (=रागद्वेष विजेता तीर्थङ्कर भगवान्) के दर्शन पाने को उत्सुक और आगमन से उत्पन्न हुए हर्ष से युक्त थे ।

पालक-पुष्पक-सोमणस - सिरिवच्छ - शंदि यावत्त - कामगम-
पीङ्गम-मणोगम-विमल-सव्वओभद्-णामधिज्जेहिं विमाणेहिं
ओइण्णा वंदका जिण्दिं ।

वे जिनेन्द्र के वन्दक (=वन्दना करनेवाले) देव १ पालक २ पुष्पक ३ सोमनस ४ श्रीवत्स ५ नन्द्यावर्त ६ कामगम ७ प्रीतिगम ८ मनोगम ९ विमल और १० सर्वतोभद्र नाम के विमानों से अवतीर्ण हुए (=जमीन पर आये) ।

टिप्पण—चारह देवलोक के दस इन्द्र माने गये हैं । पालक आदि जो दस विमानों के नाम ऊपर बताये गये हैं, वे इन दस इन्द्रों के क्रमशः यान विमान हैं, जिनका अर्थ है जाने आने के लिए काम में आने वाले विमान ।
मिग-महिस-वराह-छगल-ददुर-हय-गयवइ-भुयग-खग्ग-उस-
भंक-विडिम-पागडिय-चिंध-मउडा पसिठिल-वर-मउड-तिरीड
धारी कुंडल-उज्जोवियाण्णा मउड-दित्त-सिरया ।

वे इन्द्र १ मृग २ महिष (=भैंसा) ३ वराह ४ छगल (=वकरा) ५ मँढक ६ घोड़ा ७ गजपति (=श्रेष्ठ हाथी)

८ भुजंग (=सर्प) ९ खग (=गेंडा) और १० वृषभ (=साड) के चिन्हों से विस्तृत मुकुटों को पहने हुए थे। वे मुकुट ढीले बन्धनवाले थे। कानों के कुण्डलों की प्रभा से उनके मुख उद्योत से युक्त हो रहे थे और मुकुटों से उनके शिर दीप्त थे।

रत्ताभा पउमपम्हगोरा सेया सुभ-त्रण-गंध-फासा-उत्तम-विउव्विणो विविहवत्थगंधमल्लधरा महिड्डिआ महज्जु-इआ जाव पंजलिउडा पज्जुवासंति ।

वे लाल वर्णवाले, कमलगर्भ के समान पीले वर्णवाले (=पद्मगीर) और सफेद वर्णवाले थे। वे उत्तम वैक्रिय करने की शक्तिवाले थे। विविध वस्त्र, गन्ध, और माल्य के धारक, महर्द्धिक, महातेजस्वी . यावत् हाथ जोड़कर, पर्युपासना करने लगे ।

टिप्पण—वैमानिक देवों के देहों के तीन रंग हैं। पहले और दूसरे स्वर्ग के देवों के शरीर का लाल, तीसरे चौथे और पाचवे स्वर्ग के देवों के शरीर का वर्ण पीला और आगे के स्वर्गों के देवों के शरीर का सफेद वर्ण है।

चम्पा नगरी में लोकवार्ता

२७—ते णं काले णं ते णं समए णं चम्पाए नयरीए

सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु * महया

*अथवा 'सहेइ वा' । क्वचित्—'बहुजण सहे इ वा' ।

जणसदे इ वा, जणवूहे इ वा +, जणवोले इ वा, जण कल-
कले इ वा, जणुम्मी ति वा, चणुक्कलिया इ वा, जणसन्नि-
वाए इ वा ।

उस काल और उम समय में चम्पा नगरी के सिंघाटकों में (=सिंघाडे के से आकारवाले तिकोन स्थानों में), त्रिको (=जहा तीन मार्ग मिलते है ऐसे स्थानों) में, चतुष्को (=चौक, चार रास्ते मिलते है ऐसे स्थानों) में, चत्वरों (=बहुत से मार्ग मिलते है ऐसे स्थानों) में, चतुर्मुखों (=चौमुखे देवकुलों) में, महापथ (=गजमार्ग) में और पथों (बाजार-गलियों) में मनुष्यों का (आपसी बातचीत से) बहुत ही शब्द हो रहा था। वहा बहुत जनवृन्द था (अथवा आपस में विचार-विमर्श हो रहा था)। फुपफुमाहट की आवाज (अव्यक्त ध्वनि) आ रही थी। जनता में कलकल ध्वनि हो रही थी। लोक लहरिया उमड रही थी। छोटे छोटे झुण्ड के रूप में जन घूम रहे थे और एक स्थान से हटकर, दूसरे स्थान पर इकट्ठे हो रहे थे।

टिप्पण—बोल=ऐसी ध्वनि, जिसमें वर्णों का स्पष्ट उच्चारण नहीं हो। कलकल=ऐसी ध्वनि, जिसमें वर्ण-विभाग जाने जा सकते हों।

(-टी०)

‘जणुल्लावे इ वा’ पाठान्तरकी व्याख्या करते हुए, दो गई परिभाषाएँ—सभाषण को आलाप, निरर्थक वाणी को प्रलाप, ‘कौन, किस प्रकार, क्या’ आदि प्रश्न पूर्वक किये जानेवाले वर्णन को उल्लाप और

आपसी बातचीत को संलाप कहते हैं । (-टी०) ।

बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्ण-
वेइ, एवं परूवेइ-‘एवं खलु देवाणुप्पिआ ! समणे भगवं
महावीरे, आइगरे तित्थगरे सयंसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे जाव संपा-
विउकामे, पुव्वाणुपुत्वि चरमाणे, गामाणुगामं दूइज्जमाणे,
इहमागए, इह संपत्ते, इह समोसडे; इहेव चम्पाए णयरीए
बाहिं पुण्णभदे चेइए अहापडिरूवं उगहं उग्गिण्हत्ता संज-
मेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ’ ।

उनमें बहुत से मनुष्य एक दूसरे को इस प्रकार सामान्य
रूप से कहते थे, विशेष रूप से कहते थे,...प्रकट रूप से एक
ही आशय को भिन्न भिन्न शब्दों के द्वारा प्रकट करते थे, इस
प्रकार कार्य-कारण की व्याख्या सहित-तर्क युक्त कथन करते
थे- हे देवानुप्रिय ! बात ऐसी है कि-श्रमण भगवान् महावीर-
जो कि स्वयं सम्बुद्ध आदिकर्त्ता और तीर्थङ्कर हैं, पुष्टोत्तम
हैं .यावत् सिद्धि गति रूप स्थान की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति
करनेवाले हैं-वे क्रमशः विचरण करते हुए, एक गाँव से दूसरे
गाँव को पावन करते हुए, यहां पधारें हैं, यहां ठहरे हैं, यहां
विराजमान हैं । इसी चम्पा नगरी के बाहर, पूर्णभद्र चैत्य में,
सयमियों के योग्य स्थान को ग्रहण करके, सयम और तप से
भावित आत्म-विहार कर रहे हैं’ ।

तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं अरहंताणं

भगवंताणं णामगोयस्स वि सवणयाए, किमंग पुण
अभिगमण वंदण णमंसण पडिपुच्छण पज्जुवासणयाए ?

‘हे देवानुप्रिय ! तथारूप-महाफल की प्राप्ति कराने
रूप स्वभाववाले अर्थात् अरिहन्त के गुणों से युक्त अर्हन्त
भगवान् के नाम (=पहचान के लिये बनी हुई लोक में रूढ
सज्ञा)-गोत्र (=गुण के अनुसार दिया हुआ नाम) को भी
सुनने से महत्फल की प्राप्ति होती है, तो फिर पास में जाने
से, स्तुति करने से, नमस्कार करने से, समय यात्रादि की
समाधिपृच्छा करने से और उनको सेवा करने से होनेवाले
फल की तो बात ही क्या ?’ अर्थात् निश्चय ही महत्फल की
प्राप्ति होती है ।

‘एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए,
किमंग पुण विउलस्स अत्थस्स गहणयाए ?

उनके एक भी आर्य (=श्रेष्ठ गुणों को प्राप्त कराने
वाले और धार्मिक (=निज स्वरूप को प्राप्त करानेवाले मार्ग
के लक्ष्यवाले) उत्तम वचन को सुनने से, और विपुल अर्थ के
ग्रहण करने से होनेवाले फल की तो बात ही क्या है ?

‘तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं, वंदामो
णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो, कन्त्ताणं मंगलं देवयं
चेइयं [विणएणं] पज्जुवासामो ।

‘इसलिए हे देवानुप्रिय ! चलो हम सब-श्रमण भगवान्

महावीर के पास चले । उनकी स्तुति करे । उन्हें नमस्कार करे । उनका सत्कार करे । सन्मान करे । उन कल्याण के हेतु-रूप, दुरितशमन (=पापनाश) के हेतुरूप, दिव्य स्वरूप (अथवा दिव्य स्वरूप की प्राप्ति में हेतुरूप) और ज्ञान स्वरूप (अथवा ज्ञान प्राप्ति के हेतुरूप या निज स्वरूप की स्मृति के हेतुरूप) की विनय से पर्युपासना (=सेवा) करे' ।

एयं शो पेच्चभवे इहभवे × य हियाए सुहाए खमाए निस्से-
यसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ'-

'वह (=हमारे द्वारा की गई भगवद् वंदना आदि) परभव में और इस भव में पथ्य अन्त के समान हित के लिये, सुख के लिये, परिस्थितियों को साधना के अनुकूल बना लेने के लिये और मोक्ष के लिये या भव-परम्परा में मोक्षमार्ग में बाधक नहीं होनेवाले सुखलाभ के लिये, हमें कारण रूप बनेगी ।

भगवान् के पास जनसमूह का गमन

-त्ति कड्डु बहवे उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता-एवं दुपडो-
यारेणं * राइण्णा खत्तिआ माहणा भडा जोहा पसत्थारो
मल्लई-लेच्छई लेच्छईपुत्ता, अण्णे य बहवे राईसर-तलवर-
माडंवि-कोडुंवि-इभ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाह-पभिइओ,
अप्पेगइया वंइणावत्तियं, अप्पेगइया पूअणावत्तियं-एवं

सककारवत्तियं सम्माणावत्तियं दंमणावत्तियं क्कोऊहलवत्तियं ।

इस कारण बहुत से उग्र (=आदिदेव के द्वारा स्थापित आरक्ष के वंशज), उग्रपुत्र (=कुमार श्रवस्थावाले उग्रवशी), भोग (=प्रादिदेव के द्वारा गुरु रूप से स्थापित व्यक्तियों के वंशज अर्थात् पुरोहित), भोगपुत्र, राजन्य (=भगवान् के वंशजों के वंशज), राजन्यपुत्र, क्षत्रिय (=मामान्य राजकुलीन), क्षत्रियपुत्र, ब्राह्मण, ब्राह्मणपुत्र, भट (शूर), भटपुत्र, योद्धा, योद्धापुत्र, प्रशास्ता (=वर्मशाम्त्र पाठक), प्रशास्तृपुत्र, मल्लकी (=राजविशेष), मल्लकिपुत्र, लेच्छकी, लेच्छकिपुत्र, और भी बहुत से माण्डलिक राजा, युवराज, तलवर (=पट्टवध-विभूषित राजस्थानीय पुरुष), माडम्बिक (=एक जाति के नगर के अधिपति), कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठि (=‘श्री देवता’ अंकित मुवर्ण-पट्ट-विभूषित धनपति), सेनापति, सार्थवाह आदि में से कई वन्दना करने के लिये, कई पूजा करने के लिये, कई सत्कार-सन्मान करने के लिये, कई दर्शन करने के लिये, तो कई कुतूहलवश भगवान् के पास जाने को तैयार हुए ।

अप्पेगइया अट्टविणिच्छय हेउं—अस्सुयाइं सुणोस्सामो, सुयाइं
‘निस्संक्रियाइं करिस्सामो; अप्पेगइया अट्टाइं हेऊइं कारणाइं
वागरणाइं पुच्छिस्सामो

कई लोग अर्थ निर्णय के लिये—‘नही सुने हुए भाव सुनेंगे, सुने हुए भावों को सशय-रहित बनाएँगे’, कई—‘जीवादि अर्थ, पदार्थों में रहे हुए धर्म और नहीं रहे हुए धर्म से

सम्बन्धित (=अन्वय-व्यतिरेक) हेतु, कारण (=तर्क सगत या युक्तियुक्त व्याख्या) और व्याकरण (=दूसरो के द्वारा पूछे गये अर्थों के उत्तर) पूछेंगे'—

अप्येगइया सव्वओ समंता मुण्डेभवित्ता, अगाराओ अणगा-
रिअं पव्वइस्सामो, पंचाणुवइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं
गिहि धम्मं पडिवज्जिस्सामो, अप्येगइया जिण भत्तिरागेणं,
अप्येगइया जीयमेयं,

कई—'सभी से अपने सब भाति के सम्बन्धों का विच्छेद करके, गृहवास से निकलकर, अनगारधर्म को स्वीकार करेगे' या पाच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप गृहिधर्म को स्वीकार करेगे, कई जिनभक्ति के राग से और कई—'यह (=दर्शन करने को जाना) हमारी वंश-परम्परा का व्यवहार है'—

ति कडु ण्हाया कयवलिकम्मा कयकोऊयमंगलपायच्छित्ता,
सिरसाकण्ठेमालकडा आविद्ध-मणिसुवणणा कप्पियहारऽ-
द्धहार-तिसरय-पालंब-पलंबमाणकडिसुत्तय-सुकय-सोहाभरणा
पवरवत्थपरिहिया चंदणोलित्तगायसरीरा ।

इस प्रकार विचार करके स्नान किया, बलिकर्म, कौतुक और मंगल रूप प्रायश्चित्त करके, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित हुए । उन्होंने शिर पर और कण्ठ में मालाएँ धारण की । मणि-सुवर्ण जडित अलंकार पहनें । सुन्दर हार, अर्द्धहार, तीन लडियोवाले हार, कटिसूत्र और अन्य भी शोभा बढ़ानेवाले

आभरण धारण किये । देह के अवयवों पर चन्दन का लेप लगाया ।

अप्येगइया ह्यगया, एवं गयगथा रहगया +सिवियागया
संदमणियागया, अप्येगइया पायविहारचारिणो पुरिस-
वग्गुरापारिक्खित्ता + महया उक्किट्ठ-सीहनायवोलकल-
कलरवेणं पक्खुविभय-महासमुद्वरवभूयंपिव करेमाणा *

कई घोड़े पर बैठे । इसी प्रकार हाथी, रथ, शिविका (=कूटाकार ढँकी हुई पालखी) और स्यदमाणिका (=पुरुष प्रमाण लम्बी पालखी) पर सवार हुए, तो कई पैदल ही चारों ओर पुरुषों से घिरे हुए, आनन्द-महाध्वनि, सिंहनाद, बोल और कलकल महान् शब्द से सारी नगरी को, घोष से युक्त क्षुभित महासमुद्र के तुल्य-सी करते हुए चले ।

चंपाए णायरीए मज्झमज्जेणं णिगच्छंति । णिगच्छित्ता
जेणोव पुण्णभदे चेइए, तेणोव उवागच्छंति ।

चम्पा नगरी के मध्य से होकर निकले । फिर जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था वहाँ आये ।

+वाचनान्तरे ऽधिकं पदपञ्चकं—जाणगया जुग्गया गिल्लिगया थिल्लिगया पव्हणगया ।

+वग्गावग्गि गुम्माग्गिम्म-ति क्वचिद्दश्यते ।

*पायदद्वरेणं भूमिं कपेमाणा अंवरत्तलमिव फोडेमाणा एगदिसिं एगाभि-
मुहा—इति क्वचिद् ।

उवागच्छिता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते
छत्ताईए तित्थयराइसेसे पासंति ।

कुछ नजदीक आने पर श्रमण भगवान् महावीर के,
तीर्थंङ्कर रूप से परिचय देनेवाली छत्र आदि विशेषताएँ
(=प्रतिशय) देखी ।

पासित्ता जाण वाहणाइं ठावइंति* । ठावइत्ता जाणवाहणे-
हितो पच्चोरुहंति । पच्चोरुहित्ता जेणेव समणे भगवं महा-
वीरे, तेणेव उवागच्छंति ।

प्रतिशयो को देखकर, यान (=गाड़ी, रथ आदि)

*'विट्ठभति'-इति क्व. दू. । इतो वाचनान्तरगतं बहु लिख्यते-
'जाणाइं सुयंति । वाहणाइं विसज्जेति । पुष्क तबोलाइयं आउहमाइयं
सच्चित्तालंकारं पाहणाओ य । एगसाडिय उत्तरासंग (करंति), आयता
ओक्खा परमसुईभूया अभिगमेण अभिगच्छति ।.. चक्खुप्फासे मणसा एगत्ती-
भावकरणेणं ।... (काइयाए-) सुसमाहिय पसतसाहरियपाणिपाया
अंजलिमउलिहत्था (पज्जुवासति । वाइयाए-) एवमेयं भते ! अचित्त-
हमेयं... असविद्धमेयं...इच्छियमेयं ..पडिच्छियमेयं... इच्छियपडिच्छियमेयं...
सच्चे णं एसमट्ठे... (पज्जुवासति । माणसियाए -) तच्चित्ता तम्मणा
तल्लेस्सा तयज्जवसिया तत्तिव्वज्जवसाणा तदप्पियकरणा तयट्ठोवउत्ता
तन्भावणाभाविया एगमणा जिणवयण धम्मणुरागरत्तमणा वियसियवर
कमलनयणवयणा (पज्जुवासति) ।. समोसरणाइं गवेसह आगंतारेसु
वा आरामागारेसु वा आएसणेसु वा आवसहेसु वा पणियगेहेसु वा पणिय-
सालासु वा...एवं जाणगिहेसु जाणसालासु कोट्टागारेसु सुसाणेसु सुत्तागा-
रेसु परिहंढमाणे परिघोलेमाणे...।

ओर वाहन (=बल, अश्व आदि) को ठहराये और उनमे नीचे उतरे । फिर जहा श्रमण भगवान् महावीर थे वहां आये ।

उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिवखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति । करित्ता वंदंति णमंसंति ।

वहां आकर, श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा की, स्तुति की और उन्हे नमस्कार किया । वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे नाइदूरे सुस्सममाणा णमंसमाणा अभिमुहा विण्णणं पंजलिउडा पज्जुवासंति ।

स्तुति-नमस्कार करके, भगवान् की ओर मुख रखकर, विनय से दोनो हाथ जोडकर, न अधिक नजदीक और न अधिक दूर ऐसे स्थान पर स्थित होकर, नमस्कार मुद्रा से श्रवण करते हुए, पर्युपासना (=सवा) करने लगे ।

कृणिक को भगवद् चर्या का निवेदन

२६-तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धडे समाणे हद्धतुडे जाव हियए । एहाए जाव अप्पमहग्घाभरणा लंकिअसरीरे, सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ ।

तब (भ. महावीर के आगमन की बात विदित होने पर) वह प्रवृत्तिव्यापृत (भगवान् की विहारचर्या की खबर रखने वाला मुख्य अधिकारी) इस बात को जानकर, बहुत खुश

हुआ ..यावत् विकसित हृदय हुआ । उसने स्नान किया .. अल्प भारवाले, किन्तु मूल्यवान् आभरणों से शरीर को अलंकृत किया, फिर वह अपने घर से बाहर निकला ।

सयात्रो गिहात्रो पडिणिकखमित्ता चंपाणयरिं मज्झंमज्जेणं जेणेव वाहिरिया...सव्वेव हेट्टिल्ला वत्तव्वया जाव णिसीयइ ।

वह चम्पा नगरी के मध्य बाजार से होता हुआ जहा कूणिक राजा की वाहरी राजसभा थी . (इसके बाद का सभी वर्णन—जो कि पहले कहा जा चुका है—यहा तक कहना चाहिए, कि—‘कूणिक राजा भ. महावीर को वदना-नमस्कार करके, सिंहासन पर बैठा’) ।

णिसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउअस्म अद्दतेरससयसहस्साइं पीइदाणं दलयति । दलयित्ता सक्कारेइ सम्माणेइ । सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ ।

कूणिक राजाने सिंहासन पर बैठकर, उस प्रवृत्तिव्यापृत को साढे बारह लाख (चाँदी की मुद्राओं का) प्रीतिदान दिया; सत्कार-सन्मान किया और उसे विसर्जित किया ।

टिप्पण—इस मूल सूत्र में तो चाँदी या स्वर्ण के सिक्कों का उल्लेख नहीं है । किन्तु ग्रन्थान्तर में चक्रवर्त्यादि के प्रीतिदान का उल्लेख है । यथा—

वित्ती उ सुवण्णस्सा बारस अद्धं च सय सहस्साइं ।

तावइय चिय कोडी पीईदाण तु चक्किस्स ॥

एयं चेव पमाण नवरं रययं तु केसवा दिति ।

मंडलियाण सहस्सा, पीईदाण सयसहस्सा ॥

इसके अनुसार ही यहा 'चादी के सिक्के' अर्थ किया है । सुना जाता है कि—सवा सोलह मासे की एक मुद्रा होती है । कोई कोई 'स्वर्ण मुद्रा'—रूप अर्थ भी करते है ।

कूणिक राजा का आदेश

ॐ हि--तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते वल-
वाउयं । आमंतेत्ता एवं वयासी-

तव भभसार के पुत्र कूणिक राजा ने वलवाउय (=वल-
व्यापृत=सैन्यव्यापार में कुशल या सैन्य कर्मचारी) को बुलाया
और वह उससे इस प्रकार बोला-

खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडि-
कप्पेहि । ह्यगयरहपवरजोहकलिअं च चाउरंगिणि सेणं
सएणाहेहि ।

हे देवानुप्रिय ! आभिषेक्य (=अभिषेक के योग्य
अथवा विधिपूर्वक प्रधानपद पर स्थापित) हस्तिरत्न (=श्रेष्ठ
हाथी) को सजाकर तैयार करो । घोड़े, हाथी, रथ और प्रवर
योद्धाओं सहित चार अगोवाली सेना को तैयार करो—सजाओ ।

सुभदापमुहाण य देवीयां वाहरिया उवट्ठाणसालाए पाडि-
एक्कपाडिएक्काइं जत्तामिमुहाइं * जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह ।

सुभद्रा आदि देवियों के, प्रत्येक के लिये गमन करने को तैयार, जुते हुए यानों को बाहरी सभाभवन में उपस्थित करो ।

चंपं नयरिं सञ्चितर-वाहिरिञ्चं [आसित्त-संमञ्जिओवलित्तं सिंघाडग तिग चउक्कचच्चर-चउम्मुह महापहेसु] * आसित्त-सित्तसुइसम्मट्ट-रत्थंतरावणवीहिञ्चं मंचाइमंचकलिञ्चं ।

चम्पा नगरी को बाहर और भीतर से [जल से सिञ्चित, कूड़ेककंट से रहित बनवाकर और गोबर आदि से लिपवाकर सघाटग, त्रिक, चौक, चत्वर, चतुर्मुख और महा-पथों को] छिटकाव, जलसिञ्चन और कूड़े-ककंट से रहित स्वच्छता से गलियों के मध्यभागों को (=रथ्यान्तर) और बाजार के मार्गों (=प्रापणवीथि) को (मनोरम) बनाओ । (प्रेक्षकों के बैठने के लिये) मञ्चातिमञ्च (=सीढ़ियों के आकार के प्रेक्षकासनो) की रचना करो ।

णाणाविहरागउच्छियज्झयपडागाइपडागमंडिञ्चं लाउल्लोइय-महियं गोसीससरसरत्तचंदणजावगंधवट्टिभूयं करेह-कारवेह ।

विविध रंगों के, ऊँचे किये हुए, सिंह, चक्र आदि चिन्हों से युक्त ध्वज, पताकाएँ और अतिपताकाएँ (=ऐसी झण्डियाँ, जिनके आसपास और भी छोटी छोटी झण्डियाँ लगी हों) लगाओ । आंगन आदि लिपवाओ-पुतवाओ और गोशीर्ष

* क्वचिन्नोपलभ्यते इदम् ।

चदन, लालचदन आदि सुगन्धित द्रव्यों की महक से मार्ग भर दा । ऐसा करो और करवाओ ।

टिप्पण—‘करो’ क्रियापद के द्वारा राजकर्मचारियों के लिये आदेश दिया गया है और ‘करवाओ’ क्रियापद के द्वारा प्रजा के लिये ।

करिता कारवेत्ता एवमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि । निज्जाइ-
स्सामि समणं भगवं महावीरं अभिवंदए ।

इस आज्ञा का पालन करके, मुझे इसकी सूचना दो ।
मैं श्रमण भगवान् महावीर की अभिवन्दना के लिये जाऊँगा ।

अभिवन्दना की तैयारी

३०—तए णं से बलवाउए कूणिएणं रण्णा एवं
बुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठजावहियए, करयल-परिग्गहिअं सिरसा-
वत्तं, मत्थए अञ्जलिं कट्ठु, एवं वयासी—‘सामित्ति’ ।

तब कूणिक राजा के इस प्रकार कहने पर, उस बलवाउय (=सेनानायक) का चित्त प्रसन्न हुआ यावत् हृदय विकसित हुआ । उसने हाथ जोड़कर, शिर के चारो ओर घुमाये, अञ्जली को शिरपर लगाई और फिर वह यो बोला—
‘जी स्वामिन् !’

आणाइ विणएणं वयणं पडिसुणेइ । पडिसुणित्ता हत्थिवाउयं
आमंतेइ ।

यो उसने विनय सहित आज्ञा के वचन सुने । सुनकर, 'हत्थिवाउय' (=हस्तिव्यापृत=महावत) को बुलाया ।

आमंतेत्ता एवं वयासी- 'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कूणि-
अस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि

उसने महामात्र (=महावत) को बुलाकर, इस प्रकार कहा- 'जल्दी ही हे देवानुप्रिय! भभसार के पुत्र कूणिक राजा के आभिषेक्य (=विधि सहित प्रमुख बनाये गये) हस्तिरत्न को सजाकर, तैयार करो ।

हयगयरहपवरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेहि ।
सण्णाहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि ।

और हाथी, घोड़े, रथ एवं श्रेष्ठ योद्धाओं से बनी चार अंगवाली मेना को तैयार करो । ऐसा करके, फिर मुझे आज्ञा-पालन की सूचना दो ।

तए णं से हत्थिवाउए बलवाउस्स एअमट्ठं सोच्चा, आणाए
विण्णणं वयणं पडिसुणेइ ।

तब महामात्र ने सेनानायक की यह बात सुनकर, आज्ञा के वचन विनय सहित स्वीकार किये ।

पडिसुणित्ता छेआयरियउवएसमइविकप्पणा-विकप्पेहिं सुणि-
उणेहिं उज्जलनेवत्थ + -हत्थपरिवत्थिअं ।

फिर निपुण छेकाचार्य (=शिल्पाचार्य) के उपदेश से मँजी हुई वृद्धि और कल्पना के विकल्पो (=विविध विचारों) से युक्त उस अति चतुर (महामात्र) ने (उस हस्ति रत्न को) उज्ज्वल नेपथ्य (=साजशृंगार, वेशभूषा) से शीघ्र ही ढँक दिया ।

सुसज्जं धम्मिअमएणद्धवद्धकवइयउप्पीलियकच्छ[×] -वच्छ
गेवेयवद्धगलवरभूमणविरायंतं * [अहियतेअजुत्तं] †

उस हाथी को सुन्दर ढग से सजाया । घाँसियों से वह सन्नद्ध (=कवच से युक्त-तैयार), वद्ध (=कवच से बंधा हुआ) और कवच से युक्त किया गया अथवा घाँसित (=कवच के पहनने योग्य हिस्से पहनाये गये), सन्नद्ध (=कवच के जोड़ने योग्य भागों को जोड़कर पहनाये गये) और वद्ध (=बान्धने योग्य कवच के भाग कसे गये) कवचवाला उसे बनाया । बाँधने की रस्सी (=कक्षा) को वक्षस्थल पर कसी । गले में मालाएँ बाँधी और अन्य श्रेष्ठ आभूषणों से उसकी शोभा बढ़ाई । [अतः वह अत्यन्त तेजस्वी हो गया] ।

+सललिअवरकण्णपूरविराइअं पलंबउच्चूल-महुअरकयंधयारं
चित्तपरिच्छेअ-पच्छअं ।

× ...वच्छ कच्छ....इति पा० ।

* (गेवेयवद्ध भूषणविराइयं) इति क्व. ।

† क्वचिद्दृश्यते इदम् ।

+ (विरइयवरकण्णपूरं सललियपलंबउच्चलं) इति वा. ।

सूक्ष्म कलामय सुन्दर कर्णपूरो (= कान के आभूषणों) से उसे सुशोभित किया। कान के पास लटकाये हुए लम्बे भूमको से और मदजल से आकर्षित बने हुए भ्रमरो से (हस्ति के लिये) अन्धकार-सा होगया था। उसपर सुन्दर छोटा प्रच्छद (= झूल) डाला गया।

● पहरणावरणभरिअजुद्धमञ्जं सच्छतं सज्भयं सघटं⁺
[सपडागं] पंचामेलअपरिमंडिआभिरामं

अस्त्र, कवच आदि युद्धसज्जा से युक्त किया। छत्र, ध्वज और घण्टा को यथास्थान योजित किये। फिर उसे पाँच कलंगियो (= आमेलक = चूडा) से विभूषित करके, रम्य बनाया।

ओसारिअजमलजुअलघटं, विज्जुपणद्धं व कालमेहं,
* उप्पाइयपव्वयं व चंक्रमंतं, मत्तं गुलगुलतं⁺ मणपवण-
जइणवेगं, भीमं संगामिया योग्गं, × आभिसेक्कं हत्थिरयणं
पडिकप्पइ।

उसके दोनो तरफ समरूप से दो घण्टाएँ लटकाईं।

● (सचावसरपहरणा..) इति पा.।

⁺ क्व. दृ इ.

* उप्पाइय पव्वयमिव सक्ख-ति पा०।

+ महामेहंमिव-इति क्व. दृ.।

×या ओज्ज-इति पा०।

(शस्त्र, अस्त्रादि की उज्ज्वल दीप्ति से युक्त होने से) वह विजली सहित काले मेघ के समान दिखाई दे रहा था । (उसका देह इतना विशाल था कि) मानो वह, अपने स्थान से ऊँचा उठा हुआ कोई चलता-फिरता हुआ पर्वत हो । इस प्रकार मन और पवन की गति को भी मात करनेवाले वेग से युक्त, मत्त और गुलगुल शब्द करते हुए उस प्रधान हस्ति-रत्न को, सग्राम की सभी सामग्रियों से युक्त बनाकर, तैयार किया ।

पडिक्रप्पेत्ता ह्यगयरहपन्नरजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं
सण्णाहेइ । सण्णाहित्ता जेणोव बलवाउए तेणोव उवागच्छइ ।
उवागच्छित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणइ ।

महामात्र ने हस्तिरत्न को तैयार करके, अश्व, गज, रथ और श्रेष्ठ योद्धाओंवाली चतुरगिनी सेना को सजाई । फिर वह 'हत्थिवाउय' (=महामात्र) 'बलवाउय' (=सेना-नायक) के पास गया और आज्ञा-पालन की सूचना दी ।

तए णं से बलवाउए जाणमालिअं सदावेइ । मदावित्ता एवं
वयासी-‘खिप्पामेव भो देवाणुप्पिआ ! सुभदापमुहाणं
देवीणं बाहिरियाएउवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं
जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह । उवट्ठवित्ता एअमा-
णत्तिअं पच्चप्पिणाहि’ ।

तव सेना नायक ने यानशालिक (=रथादि यान और

वाहनो का सरक्षक) को बुलाया और उससे इस प्रकार कहा—
‘हे देवानुप्रिय ! जल्दी ही सुभद्रा आदि देवियों के लिये,
प्रत्येक के अलग-अलग गमन करने को उद्यत-जुते हुए यानों
को बाहरी सभामवन में उपस्थित करो और आज्ञापालन की
सूचना दो’ ।

टिप्पण—इस वर्णन-क्रम से ऐसा प्रतीत होता है कि—हस्तिरत्न
और सेना की सजावट की सूचना मिलने के बाद, यानशालिक को
आज्ञा दी गई । किन्तु इसे वर्णनशैलीगत भास मात्र ही मानना चाहिए ।
क्योंकि एक-एक कार्य के पूरा होने के बाद यदि आज्ञा प्रदान होता रहे
तो समय बहुत ही अधिक बीत जाता है । अतः यहाँ ‘तए ण’ पद से
‘कूणिक राजा के आज्ञा देने के बाद’—यह आशय लेना चाहिए ।

तए णं से जाणसालिए वलवाउअस्स एअमट्ठं आणाए
विणएणं वयणं पडिसुणेइ । पडिसुणित्ता जेणेव जाणसाला
तेणेव उवागच्छइ ।

तब यानशालिक ने सेनानायक को आज्ञा के वचन
विनय से सुने । इसके बाद जहाँ यानशाला थी वहाँ आया ।
तेणेव उवागच्छित्ता जाणाइं पच्चुवेक्खइ । पच्चुवेक्खित्ता
जाणाइं संपमज्जेइ । संपमज्जेत्ता जाणाइं णीणेइ । * जाणाइं
णीणित्ता जाणाइं संवट्ठेइ । जाणाइं संवट्ठित्ता जाणाणं दूसे
पवीणेइ ।

* ‘संपमज्जेत्ता जाणाइं संवट्ठेइ संवट्ठित्ता जाणाइ णीणेइ णीणेइ-
त्ता’-इति क्व. ।

उसने यानशाला में आकर, यानों का निरीक्षण किया ।
 उनके ऊपर की घूलि पोछी । यानों को बाहर निकाले । . . . योग्य स्थान पर इकट्ठे किये । . उनके ऊपर के ढँके हुए वस्त्रो (=दूष्यो) को अलग हटाए । अथवा उन्हें झूल से ढँके ।

...पवीणत्ता जाणाइं समलंकरेइ समलंकरेत्ता जाणाइं वर-भण्डगमंडियाइं करेति ।

. . यानों को यन्त्र आदि से अलकृत किये । . . उन्हें श्रेष्ठ भूषणों से भूषित किये ।

...करेत्ता जेणैव वाहणशाला तेणैव उवागच्छइ । तेणैव उवा-गच्छित्ता वाहणाइं पच्चुवेक्खइ ।

वह. . . जहाँ वाहनशाला थी वहाँ गया ।.. उसने वाहनों का निरीक्षण किया ।

...पच्चुवेक्खित्ता वाहणाइं संपमज्जेइ ।..संपमज्जेत्ता वाहणाइं णीणैइ ।...णीणत्ता वाहणाइं अप्फालेइ ।...अप्फालेत्ता दूसे पवीणेइ ।.....पवीणेत्ता वाहणाइं समलंकरेइ । समलं-करेत्ता वरभण्डगमंडियाइं करेइ ।

. . . वाहनो का सप्रमार्जन किया ।... ..उन्हे बाहर निकाले ।.....हाथ से थपथपाये । . .मच्छर आदि से रक्षा के लिये उनपर ढँके हुए वस्त्र अलग हटाये अथवा उन्हे वस्त्र से ढँके ।,, .उन्हे अलकृत किये ।...श्रेष्ठ आभरणों से सजाए ।

....करेत्ता वाहणां जाणां जोएइ ।....जोएत्ता पत्रोयलट्टि पत्रोयधरे य समं आडहई ।

. वाहनो (=बैल आदि) को यानो (=गाड़ी, रथ आदि) में जोड़े । ... पयोयलट्टि (=वाहनो को हाँकने की लकड़ी आदि अथवा चाबुक) और पयोयधरो (=गाड़ी खेड़ने-वाले या गाड़ीवान्) को साथ में नियुक्त किये ।

....आडहिता वट्टं* गाहेइ ।.....गाहेत्ता जेणेव बलवाउए तेणेव उवागच्छइ ।....उवागच्छित्ता बलवाउअस्स एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणइ ।

... (उन जूतेहुए यानों को) मार्ग पर खड़े किये । फिर वह जहा सेनानायक था वहाँ आया और उसकी आज्ञा के पालन की सूचना दी ।

तए एां से बलवाउए णयरगुत्तिए आमंतेइ ।....आमंतेत्ता एवं वयासी-‘खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! चंपं णयरिं सन्भितरवाहिरियं आसित्त....जाव कारवेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि’ ।

तब सेनानायक ने नगरपाल (=नगरगुप्तिक=नागरिक स्वच्छता के तत्र सचालक या नगर रक्षक) को बुलाया....और इस प्रकार कहा-‘जल्दी ही हे देवानुप्रिय ! चम्पानगरी को

बाहर और भीतर से स्वच्छ, जलसिञ्चित कराओ ।.....यावत्
ऐसा करवाकर, मुझे आज्ञापालन की सूचना दो ।

तए एां णयरगुत्तिए वलवाउअस्स एअमहुं आणाए विणएणं
पडिसुणेइ ।.....पडिसुणित्ता चंपं णयरिं सविंभतरवाहिरियं
आसित्त....जाव कारवेत्ता जेणेव वलवाउए तेणेव उवागच्छइ ।
उवागच्छित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणइ ।

तब नगरपाल ने 'बलवाउय' (=सेनानायक) की इस
आशय की आज्ञा विनय से सुनी । वह.....चम्पानगरी को भीतर
और बाहर से सिञ्चित, स्वच्छ आदि....करवाकर....सेनानायक
के पास आया.. ..और आज्ञापालन की सूचना दी' ।

तए एां से वलवाउए क्कोण्णिअस्स रएणो भंभसारपुत्तस्स
आभिसेकं हत्थिरयणां पडिकप्पिअं पासइ । हयगय...जाव
सएणाहिअं पासइ । सुभदापमुहाणां देवीणां पडिजाणाइं
उवट्टुविआइं पासइ । चंपं णयरिं सविंभतर....जाव गंधवट्टि-
भूअं कयं पासइ ।

इसके बाद सेना नायक ने भमसारपुत्र कूणिक राजा
के आभिषेक्य हस्तिरत्न को सजाहुआ देखा । घोड़े, हाथी
आदि....सेना को सजी हुई देखी । सुभद्रा आदि देवियों के
जुते हुए यान देखे और बाहर-भीतर से स्वच्छ.. यावत्
सुगन्धि से महकती हुई चम्पानगरी को देखी ।

.....पासित्ता हट्टुट्टुचित्तमाणांदिए पीयमणे जाव हियए

जेणेव कूणिए राया भंभमारपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ । उवा-
गच्छित्ता करयल जाव एवं वयासी—

... देखकर, वह हृष्ट-तुष्ट चित्तवाला, आनन्दित, प्रीति-
युक्त मनवाला यावत् विकसित हृदयवाला हुआ और जहाँ
भभसारपुत्र कूणिक राजा था, वहाँ उसके पास आया । फिर
हाथ जोड़कर, यावत् इस प्रकार बोला—

कप्पिए एं देवाणुप्पियाणं आभिसेक्के हत्थिरयणे, हयगय-
रहपवरजोहकलिआ य चाउरंगिणी सेणा सएणाहिआ,
सुभद्दापमुहाणं च देवीणं बाहिरियाए य उवट्ठाणसालाए
पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठा-
वियाइं, चंपा णयरी सत्थिभतरबाहिरिया आसित्त.....जाव
गंधवट्ठिभूआ कया । तं निजंतु एं देवाणुप्पिया ! समणं
भगवं महावीरं अभिवंदआ ।

देवानुप्रिय का आभिषेक्य (=प्रधान) हाथी तैयार है ।
घोड़े, हाथी, रथ और श्रेष्ठ योद्धाओं से कलित चतुरगिणी
सेना सजादी गई है । सुभद्रा आदि देवियों के लिये जुते हुए
यान बाहरी सभाभवन में खड़े हैं और चम्पानगरी बाहर-
भीतर से स्वच्छ, सिञ्चित....यावत् महक से युक्त बना दी है ।
तो हे देवानुप्रिय ! अब श्रमण भगवान् महावीर की अभि-
वन्दना के लिये प्रस्थान करे ।'

३१—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते वल-
वाउअस्स अंतिए एयमडं सोच्चा णिसम्म हट्टतुट्ट जाव
हियए जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता
अट्टणसालं अणुपविसइ ।

तब भभसारपुत्र कूणिक राजा 'वलवाळअ' से यह
बात सुनकर, अवधारण करके, हृष्ट-तुष्ट यावत् विकसित हृदय
हुआ और जहा व्यायामशाला (=अट्टणशाला) थी वहा
आया ।... व्यायामशाला में प्रवेश किया ।

अणुपविसित्ता अणेगवायामजोगवग्गणवामइणमन्ल जुद्ध-
करणेहिं संते परिस्संते;

वहां व्यायाम के लिये अनेक योग्या, वल्गन (=उछलना
-कूदना), व्यामर्दन (=परस्पर के अगो को मोडना), मल्लयुद्ध
और करण (=मल्लशास्त्र में प्रसिद्ध अगभग विशेष) के द्वारा
थके (=श्रान्त), शिथिल (=परिश्रान्त) हुए ।

टिप्पण—इस सूत्र में व्यायाम के लिये की गई पाँच प्रकार की
चेष्टाओं का वर्णन है । टीका से इन प्रकारों के विषय में विशेष प्रकाश
नहीं मिलता । 'योग्या' का पर्यायवाची शब्द 'गुणनिका' मात्र दिया गया
है । जिससे विशेष स्पष्ट आशय समझ में नहीं आता । प्रसंगवशात् यह
अनुमान होता है कि—'ऐसी चेष्टाएँ, जिसमें श्रंशों के खिचाव और शिथि-
लीकरण की क्रियाएँ मुख्य हो या आकुञ्चन-प्रसारण के योग से कियेजाने
वाले व्यायाम' । ऐसा आशय हो ।

सयपागसहस्सपागेहिं सुगंधतेल्लमाइएहिं + पीणणिज्जेहिं
दप्पणिज्जेहिं मयणिज्जेहिं विहणिज्जेहिं सच्चिदियगाय-
पल्हायणिज्जेहिं अग्निभगेहिं अग्निभगए समाणे;

(फिर) रस रुधिर आदि घातुओं के समताकारी (=प्रीणनीय), बलकारी (=दर्पणीय), कामोत्तेजक (=मदनीय), मासवर्द्धक (=बृहणीय) और सभी इन्द्रियो एव सम्पूर्ण शरीर के लिये आनन्दकारी (=प्रह्लादनीय) शतपाक-सहस्रपाक नामक सुगन्धित तेल आदि अभ्यंगो (=मालिस के साधनों) के द्वारा मर्दन कराने के बाद,

टिप्पण—इस सूत्र में औषधिपक्वादि विषयो को ग्रहण करके, संक्षेप में अभ्यंगशास्त्र का सार रख दिया है। 'सुगंध...' इस सूत्र में आये हुए आदि शब्द से घृतकपूरपानीय आदि ग्रहण करना चाहिए।

तेल्लचम्मंसि पडिपुएणपाणिपायसुकुमालकोमलतलेहिं पुरि-
सेहिं छेएहिं दक्खेहिं पत्तट्ठेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं निउण-
सिप्पोवगएहिं अग्निभगणपरिमद्दणुवल्लणक्करणगुणणिम्मा-
एहिं अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउ-
व्विहाए संवाहणाए संवाहिए समाणे,

तैलचर्म (=आसन विशेष) पर स्थित होकर, हाथ-पैर के अत्यन्त कोमल तलेवाले पुरुषों के द्वारा अस्थिसुखा (=हड्डियो

+ 'पीण...पल्हायणिज्जेहिं' एतानि पदानि वाचनान्तरे क्रमान्तरे-
णाधीयन्ते ।

के लिये सुखकर), माससुखा, त्वक्सुखा (=चमड़ी के लिये सुखकर), और रोमसुखा—इन चार प्रकार की सम्बाधना (=चँपी) से सम्बाधित (=चँपी की गई है, जिनकी ऐसे) हुए। (वे चँपी करनेवाले पुह्व) छेक (=प्रवसरज्ञ-टी०, वहांतर कला में पण्डित-वृ०), दक्ष (=जल्दी कार्य करनेवाले), प्राप्तार्थ (=उस विषय के आचार्य से उस कला को सीखे हुए), कुशल (=सम्बाधना कर्म में श्रेष्ठ या साधक), मेधावी (=अपूर्व विज्ञान को ग्रहण करने की शक्तिवाले), अगमर्दन आदि सूक्ष्म कलाओं के ज्ञाता और अभ्यगन (=तैलादि मर्दन), परिमर्दन (=तैलादि को अगो में पहुँचाने के लिये किये जानेवाले मर्दन विशेष) और उद्वलन (=उलटे रोएँ से किया जानेवाला मर्दन या मर्दन के बाद मल उतारने की क्रिया विशेष) के करने में जो गुण हैं उनको निपजाने की शक्तिवाले थे।

टिप्पण—इस सूत्र में अभ्यगनकला और सम्बाधनाकला का संक्षेप में वर्णन है। इन कलाओं की भी शिक्षा ली जाती थी और उसके शिक्षण में भी पात्र-अपात्र का विचार किया जाता था।

तैलचर्म=तैलमर्दन के बाद जिसपर स्थित रहकर चँपी करवाई जाती है, उसे तैलचर्म कहते हैं।

अवगयखेयपरिस्समे अट्टणसालाउ पडिणिकखमइ ।

कूणिक राजा इस प्रकार खेद (=दीनता या अनुत्साह) और परिश्रम (=व्यायाम-जनित शरीर की अस्वस्थता विशेष) के दूर हो जाने पर व्यायामशाला से बाहर निकला।

.....पडिणिकखमिक्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ ।
तेणेव उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुपविसइ ।

. जहाँ स्नानागार था वहाँ आया.....उसमें प्रवेश किया ।

.....अणुपविसित्ता * समत्तजालाउलाभिरामे विचित्तमणि-
रयणकुट्टिमत्ते रमणिज्जे ण्हाणमंडवंसि णाणामणिरयण-
भत्तिचित्तंसि ण्हाणपीढंसि सुहणिसण्णे, × सुहोदएहिं
गंधोदएहिं पुप्फोदएहिं + सुद्धोदएहिं पुणो पुणो कल्लाणग-
पवरमज्जणविहीए मज्जिए;

.....स्नानागार में प्रवेश करके, चारो ओर जाली
(अथवा मुक्ताजाली) से व्याप्त अभिराम और विचित्र मणि-
रत्नो से बने हुए रमणीय आंगनवाले तथा नाना मणि-रत्नो
से चित्रमय बनी हुई भित्तिवाले स्नानमण्डप मे स्नानपीठ
(=स्नान के लिये बैठने की चौकी) पर सुख से बैठा । फिर
तीर्थ आदि के जल अथवा सुखोदक (=जिसका स्पर्श सुखकर
बनाया गया हो ऐसा जल), गन्धोदक (=श्रीखण्ड=चन्दन
आदि रस से मिश्रित जल), पुष्पोदक (=पुष्परस मिश्रित जल)
और शुद्धोदक (=स्वाभाविक जल) से कल्याणक (=आनद-
कारी) और अतिश्रेष्ठ स्नान की विधि से स्नान किया ।

* समुत्तजालाइति पा० ।

× सुद्धोदएहिं-ति पा० ।

+ सुहोदएहिं-ति पा० ।

तत्थ कोउयसएहिं बहुविहेहिं कल्लाणगपवरमज्जणावसाणे
पम्हलसुकुमालगंभ्रकासाइयलूहिअंगे[†] सरससुरहिगोसीसचंद-
णाणुलित्तगत्ते ।

वहाँ बहुत प्रकार से रक्षादि की सैकड़ों कौतुक विधियों के द्वारा श्रेष्ठ कल्याणक मज्जन को समाप्त करने के बाद रोएँदार, मुकोमल, मुगन्धित और काषायित (=हरड़े, बहेडा आदि कसीली औषधियों से रञ्जित अथवा काषाय-लाल) वस्त्र से अग पोछा । फिर सरस सुरभित गोरोचन और चदन से गात्र को लिप्त किया ।

अइयसुमहग्घदूमरयणसुमंबुए सुइमालावण्णगविलेवणेआदि-
द्धमणिसुवण्णे कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंब माणक-
डिसुत्तसुकयमोभे ।

मल-मूर्षिकादि से अदूषित (=ग्रहत) और बहुमूल्य दूप्यरत्न (=प्रधानवस्त्र) को उत्तम ढग से पहना । पवित्र पुष्पमाला धारण की । कुकुमादि के शोभनीय विलेपन किये । मणिजटित सुवर्णलिङ्गार पहने । गठित हार, अर्द्धहार (=नवलडी का हार), त्रिमरक (=तीन लडिया हार), लम्बी सटकती हुई फूलमाला और कटिसूत्र (=कंदोरा) से शोभा की सुन्दरता से वृद्धि की ।

पिणद्धगेविज्जगअंगुलिज्जगललियंगयललियकयाभरणे वरकडग-
तुडियथंभिअभुए ।

कण्ठले बाँधे । अगुठियाँ पहनी । इस प्रकार सुन्दर शरीर पर सुन्दर आभूषणों को धारण किये अथवा 'ललिताग' नामक देव के समान कूणिक राजा के केश और आभरण ललित थे । श्रेष्ठ कङ्कणों और तोडों से भुजाएँ स्तम्भित हो गई थी ।
अहियरूत्रसस्सिरीए + कुंडलउज्जोविआणणे मउडदित्तसिरए
हारोत्थयसुकयरइयवच्छे ।

इस प्रकार वह बहुत अधिक शोभा से युक्त हो गया । कुण्डलों की प्रभा से मुख दमकने लगा । मुकुट की कान्ति से शिर दीप्त हो रहा था । हार के आच्छादन से वक्षस्थल रुचिर बना हुआ था ।

पालंबपलंबमाणपडसुकयउत्तरिज्जे णाणा-मणि-कणग-रयण-
विमल-महरिह-निउणोविअमिसिमिसंत -विरइय - सुसिलिड्ड-
विसिड्ड-लड्ड-आविद्ध-वीरवलए ।

लम्बे लटकते हुए या भुम्बमान वस्त्र के उत्तरीय (=ऊपर का वस्त्र) को सुन्दर ढँग से धारण किया । श्रेष्ठ शिल्पी के द्वारा निर्मल और बहुमूल्य विविध मणि, स्वर्ण और रत्नों से चतुराई से परिकर्मित (=कलात्मक बनाये गये), सुश्लिष्ट (=जहा मजबूत जोड़ चाहिए वहा मजबूत जोड़वाले), विशिष्ट मनोहर और देदीप्यमान वीर वलय (=वीरत्व सूचक कडे पहने ।

टिप्पण—‘यदि अन्य कोई भी सुभट वीर है, तो वह इन वलियों का मोचन करके भुक्तको हराये’—इस प्रकार स्पर्धा करते हुए जिन कडों को पहना जाता है उन्हें ‘वीर वलय’ कहते हैं । —टी०

किं बहुणा ? कप्परुक्खए चेव अलंक्रियविभूसिए णरवई
सकौरंटमल्लदामेणां छत्तेणां धरिज्जमाणेणां + चउचामरवाल-
वीजियंगे • मंगलजयसद्दकयालोए मज्जणघराओ पडि-
निकखमइ ।

अधिक क्या ? कल्पवृक्ष के समान अलंकृत और विभू-
षित होकर, जब नरपति मज्जनगृह से बाहर निकले उस समय

+ वाचनान्तरे पुनश्छत्रवर्णक एवं दृश्यते—अभपठलपिगलु-
ज्जलेण अविरलसमसहियचदमडलसमप्पभेण मंगलसयभत्तिछेयविचित्तिय
खिखिणिमणिहेमजालविरइयपरिगपेरंतकणगघटिया पयलियकिणिकिणित-
सुइमुहसुमहुरसद्दालसोहिएणं सप्पयरवरमुत्तदामलंवंतभूसणेण नरिदवामप्प-
माणरुंदपरिमण्डलेणं सोयायववायवरिसविसदोसनासणेणं तमरयमलवहल-
पडणघाडणप्पभाकरेण उउसुहसिवच्छायसमणुवद्धेणं वेरुलियदडसज्जिएण
वइरामयवत्थिनियण-जोइयअट्ठसहस्सवरकचणसलागनिम्मिएणं सुनिम्मल-
रययसुच्छएणं निउणोविय मिसिमिसतमणिरयणसूरमंडलवित्तिमिरकरनिग्ग-
यग्ग पडिहयपुणरविपच्छायडंतचचलमिरिइकवय विणिमुयंतेण सपडिदंडेणं
धरिज्जमाणेणं आयवत्तेण विरायते ।

● वाचनान्तरे तु—चउहियपवरगिरिकुहरविचरणसुमुइय निरुवहय-
चमर-पच्छिम-सरीर-संजायसंगयाहिं अमलियसियकमल विमलुज्जलियरय-
यगिरिसिहरवि मलससिक्करणसरिसकलघोय-निम्मलाहिं पवणाहयचवलल-

कोरट पुष्प की मालाओं से युक्तछत्र धारण किये हुए थे और आजुबाजु चार चामर डुलाये जा रहे थे । मनुष्यों को उसके दर्शन होने पर उन्होंने मंगल के लिए जयध्वनि की ।

मञ्जणधराउ पडिणिक्खमिता अणोग-गणनायग-दंडनायग-
राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इम्भसेट्टि-सेणावइ-सत्थवाह-
दूय-संधिवाल-सद्धि-संपरिवुडे धवल-महामेह-णिग्गए इव गंह-
गण-दिप्पंतरिक्ख-तारागणाण मज्जे ससिच्च पियदंसणे

मज्जनगृह से निकलकर, अनेक गणनायक, दंडनायक, राजा, ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, माथं-वाह, दूत और सधिपाल से घिरे हुए, सफेद महामेघ से निकले हुए-से ग्रहगण, नक्षत्र और तारागण के मध्य में चन्द्र के समान प्रिय दर्शनवाला—

एरवई जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला जेणेव आभिसेक्के
हत्थिरयणे तेणेव उवागच्छइ ।

लियतरंगहत्थनच्चंत-वीइपसरिय-खीरोदग-पवरसागरुप्पूरचंचलाहि माणस-
सरपरिसरपरिचियावासविसयवेसाहि कणगगिरिसेहरससियाहि उवइय-
उप्पइय-तुरिय-चवल-जइण-सिग्घ-वेगाहि हंसवधूयाहि चेव कलिये णाणा-
मणि-कणग-रयण-विमल-महरिह तवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाहि चिल्लियाहि
नरवइसिरिसमुदयपगासण-करीहि वरपट्ठणुग्गयाहि समिद्धरायकुलसेवियाहि
कालागुरु-पवर-कदरुक्क-तुरुक्क-वर-वण्णवासगंधुद्धुयाभिरामाहि सललियाहि
उभओ पासं पि उक्खिप्पमाणाहि चामराहि सुहसीयलवायवीइयंगे ।

नरपति (=गजा) जहां बाहरी मभाभवन था, जहां
आभिषेक्य (=प्रधान) श्रेष्ठ हस्ति था वहा आया ।

अभिवन्दना के लिए प्रस्थान

...उवागच्छिता अंजगगिरिकूडमणिगभं गयत्रह्णारवईदूस्ते ।

वहा आकर, अञ्जगिरि (=काजल के पर्वत) के शिखर
के समान गजपति पर नरपति मवार हुआ ।

तए णं तस्स कूणियस्स रणो भंभमारपुत्तस्स आभिसिक्कं
हत्थिरयणं दुरुद्धस्स समाणस्स तप्पढमयाए इमे अट्टुडुमंग-
लया पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्टिआ ।

उस भभसारपुत्र कूणिक राजा के आभिषेक्य हस्ति-
रत्न पर मवार हो जाने पर सर्व प्रथम ये आठ मंगल क्रमश
रवाना किये गये ।

तं जहा-सोवत्थिय १, सिरिवच्छ २, णंदियावत्त ३, वद्ध-
माणक ४, भद्दासण ५, कलस ६, मच्छ ७, दप्पण ८ ।

वे इस प्रकार हैं-१ स्वस्तिक, २ श्रीवत्स, ३ नन्द्यावत्तं
४ वद्धमानक, ५ भद्रासन, ६ कलश, ७ मत्स्य और ८ दर्पण ।
तयाऽणं रं च णं पुण्ण-कलम-भिगारं, दिव्वा य छत्त-
पडागा सचामरा दंसणरइअआलोयदरिमणिजा वाउद्धूय-
विजयवेजयंती * उस्सिया गगणतलमणुलिहंती पुरओ अहा-

गुणुञ्चीए संपट्टिया ।

इसके बाद जल से परिपूर्ण कलश एवं झारो और दिव्य छत्र पताका—जो कि चामर से युक्त, राजा के दृष्टिपथ में स्थित, वायु से फहराती हुई विजय सूचक 'वैजयन्ती' नामक लघुपताकाओं से युक्त और ऊँची उठाई हुई थी, वह—गगन तल को स्पर्श करती हुई—सी आगे रवाना हुई ।

तथाऽऽंतरं च णं वेरुलियभिसंतविमलदंडं पलंबकोरंट-
मल्लदामोवसोभियं चंदमंडलनिभं समूसियविमलं आयवत्त-
पवरं सीहासणं वरमणिरयणपादपीठं सपाउयाजोयसमाउत्तं
बहुकिंकरकम्मकरपुरिसपायत्तपरिक्खत्तं * पुरओ अहा-
गुणुञ्चीए संपट्टिय ।

इसके बाद वैडूर्य (=लहसुनिया) रत्न के देदीप्यमान विमल दण्डवाला, कोरण्ट पुष्प की लम्बी लटकती हुई मालाओं से सुशोभित, चन्द्रमण्डल के समान ऊँचा तना हुआ श्रेष्ठ आत-पत्र (=धूप से रक्षा करनेवाला—छत्र), सिंहासन और श्रेष्ठ मणिरत्नों का पादपीठ (=पैर रखने की चौकी)—जिस पर राजा की पादुका की जोड़ रखी हुई थी और जो अनेक किङ्करो (=प्रत्येक कार्य पृच्छापूर्वक करनेवाले सेवक या किसी खास कार्य-विभाग में नियुक्त वैतनिक सेवक) और पदातियों =पैदल सैनिकों से घिरा हुआ था—आगे आगे क्रमश रवाना किया गया ।

* ववच्चिद्वुशते—'दासीदास किंकरकम्म.....' ।

तयाऽणंतरं बहवे लट्टिग्गाहा कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामर-
ग्गाहा पासग्गाहा पोत्थयग्गाहा फलकग्गाहा पीठग्गाहा वीण-
ग्गाहा कूयग्गाहा हडप्फग्गाहा पुरओ अहाणुपुन्वीए संपट्टिया ।

इसके बाद बहुत-से लट्ठधारी, कुत्त (=भाला विशेष)
धारी, धनुर्धारी, चामरधारी, पाशा (=धूल सामग्री) धारी,
पुस्तक (=आय- के ज्ञान के लिए रखी जानेवाली नोंध या
पण्डित के उपकरण) धारी, फलकधारी, पीठ (=आसन विशेष)
धारी, वीणाधारी, कुतुप (=पक्व तैलादि के भाजन या
सुगन्धित तैल के शीशे) धारी और हडप्फ (=द्रम्मादि सिक्के
के भाजन या सुगन्धित चूर्ण-ताम्बूल आदि के लिए सुपारी
आदि के डिब्बे) धारी पुरुषो को खाना किये ।

तयाऽणंतरं बहवे ङडिणो मुंडिणो सिंहडिणो जडिणो पिच्छिणो
हासकरा डमरकरा दवकरा[†] चाटुकरा वादकरा कंदप्पकरा
कोक्कुइआ किट्टिकरा वायंता गायंता हसंता णच्चंता भासंता
सावेता[†] रक्खंता आलोयं च करेमाणा, जयजयसदं पउं-

+ व्युत्क्रम षव० ।

† षवच्चिदिमे सप्रहगाथाइच वृश्यन्ते-गसिलट्टिकुंतचावे चामरपासे
य फलगपात्येय । वीणकूयग्गाहे तत्तो य हडप्फगाहेय ॥१॥

दंडो मुंडो सिंहडो पिच्छी जडिणो य हासकिट्टा य । दवकारा
चट्टकारा कवप्पिय कोक्कुइयगाहा ॥२॥

गायंता वायता नच्चंता तह हसंत हासिता । सावेता रावेता
आलोय जयं पउंजंता ॥३॥

जमाणा •, पुरओ अहाणुपुञ्चीए संपड्डिया ।

फिर बहुत-से दण्डी, मुण्डी (=मुण्डे हुए शिरवाले), शिखण्डी (=शिखाधारी), जटो (जटाधारी), मयूरपिच्छ आदि के धारक, हास्यकर (=विदूषक), डमरकर (=हुल्लड़बाज) चाटुकर (खुशामदिये या प्रियवादी), दक्कर (=मजाकिये), वादकर (=विवादी), कन्दर्पकर (काम प्रधान क्रीड़ा करनेवाले या शृंगारिक चेष्टाएँ करनेवाले), कोत्कुचिक (=भाँड) और कीर्तिकर (=भाट) बजाते हुए, गाते हुए, हँसते हुए, नाचते हुए, बोलते हुए, शिक्षा देते हुए, रक्षा करते हुए, (राजादि का) अवलोकन करते हुए, और ध्वनि करते हुए क्रमश आगे रवाना हुए ।

तयाऽणान्तरं जच्चाणं तरमल्लिहायणाणं * [हरिमेलामउल
मल्लियच्छाणं चंचुच्चियललियपुलियचलचवलचंचलगईणं
लंघणवग्गणधावणधोरणतिवईजइणसिक्खियगईणं ललंत-
लामगललायवरभूसणाणं मुहभंडग- * ओचूलगथासग-
+ मिलाणां चमरीगंडपरिमंडियकडीणं किंकर-वर-तरुण-
परिग्गहियाणं] थासग अहिलाणचामरगंडपरिमंडियकडीणं-

● रावेता ष्व० ।

* कोष्ठकान्तर्गतपदानि वाचनान्तरस्य सूचितानि टीकाकारेण ।

× ...'उच्चूलग ...' इति पा० ।

+ .. अहिलाण...इति पा० ।

† ...चामर...इति पा० ।

अट्टसयं वरतुरगाणं पुरञ्चो अहाणुपुञ्चीए संपट्टियं ।

इसके बाद वेगादिकारक वर्ष वाले (योवन वयवाले), स्थासक (=आभूषण विशेष), अहिलाण (=मुख सयमन =लगाम) से युक्त और चामरदण्ड से सजी हुई कटिवाले एक सी आठ श्रेष्ठ घोड़े क्रमशः आगे रवाना किये । [हरिमेला (=वनस्पति विशेष) की नवकालिका और मल्लिका-सी उनकी आंखें थी-सफेद आंखें थीं । उनकी चाल बाकी, विलास युक्त. (=ललित) और कोतल (=पुलित=नृत्यमय) थी, उनके अस्थिर शरीर की चपलता से चञ्चल थी और लांघने, कूदने, दौड़ने, गति की चतुराई, त्रिपदी (=चलते हुए भूमि पर तीन पैरों का ही टिकना), जय या वेग से युक्त और शिक्षित थी । उनके गले में हिलते हुए रम्य श्रेष्ठ भूषण पड़े हुए थे । त्रिमुख-भण्डक (=मुख का भूषण=मोरा आदि) अवचूल (=लम्बे गुच्छक), स्थासक, पलाण से युक्त और चामर दण्ड से सजी हुई कटिवाले थे । उन्हें श्रेष्ठ तरुण किङ्करो ने धाम रखे थे ।]

तयाऽण्ठांतरं च णां ईसीदंताणां ईसीमत्ताणं ईसीतुंगाणं
ईसीउच्छंग-विमाल-धवल-दंताणां कंचणकोसी-पविट्ट-दंताणां
कंचण-मणिरयण-भूसियाणां अट्टसयं गयाणां पुरञ्चो अहा-
णुपुञ्चीए संपट्टियं ।

उनके बाद एक सी आठ हाथी क्रमशः आगे

‡ 'वर-पुरिसा-रोहग-सुसंपत्ताणं' ति इव० दृ० ।

रवाना किये गये । उन कुछ मत्त और ऊँचे हाथियों के दात कुछ बाहर निकले हुए थे । वे दाँत पिछले हिस्से में कुछ विशाल थे, सफेद थे और स्वर्ण खोल से युक्त थे । वे हाथी स्वर्ण और मणि रत्नों से भूषित थे ।

तयाऽऽतंरं सच्छत्ताणं सज्भयाणं सघंटाणं सपडागाणं सतो-
रणवराणं सनंदिघोसाणं सखिखिणीजालपरिब्लित्ताणं हेम-
वधचित्तेणिसक्कणग-णिज्जुत्तदारुयाणं कालायससुकय रोमि-
जंत-कम्माणं सुसिलिद्धवत्तमंडलधुराणं * आइण्ण-वरतुरग-
सुसंपउत्ताणं कुसलनरच्छेयसारहि-सुसंपग्गहिआणं * वत्तीस-
तोणपरिमंडियाणं • सकंकडवडेंसगाणं सचावसर-पहरणा-
वरण-भरिय-जुद्ध-सज्जाणं अट्टसयं रहाणं पुरओ अहाणु-
पुव्वीए संपट्टियं ।

इसके बाद एक सौ आठ रथ यथाक्रम आगे बढ़ाये गये । वे रथ, छत्र, ध्वज, घण्टा, पताका, तोरण और नंदिघोष (=बारह प्रकार के बाजो की ध्वनि) से युक्त थे । छोटी घण्टियों या घूघरियों के जाल से ढँके हुए थे । उनमें हिमवान् पर्वत पर उत्पन्न हुए विविध प्रकार के तिनिश (=शीशम की जाति के)

× क्व० दू०—सुसंविद्ध-वत्तमंडलधुराणं ।

* क्व० प०—हेमजाल गवक्षजाल खिखिणिघण्टाजाल परि-
ब्लित्ताणं ।

• क्व० प०—वत्तीस तोरण.... ।

वृक्ष की स्वर्ण खचित लकड़ी लगी हुई थी। 'कालायस' (=एक जाति का लोहा) से नेमि (=पहिये की परिनी=पाटे) को वन्धन-क्रिया (=यन्त्र कर्म) के द्वारा सुन्दर बनाई गई थी। उन रथो की घुराएँ सुश्लिष्ट (=उत्तम रीति से संघी हुई) और विलकुल गोल थी। उनमें जातिवान् सुन्दर घोड़े जुते हुए थे और उनकी बागडोर, सारथि-कला में कुशल पुरुष थामे हुए थे। वे बत्तीस तोणो (=तरकशो) से मुसज्जित थे। कवचों और टोपो से युक्त थे। उनमें धनुष्य, वाण, खड्ग आदि युद्ध की सामग्री भरी हुई थी।

टिप्पण-नंदिघोष अर्थात् बारह प्रकार के तूर्यों (=बाजों) का घोष। बारह तूर्य ये हैं-

भंभा १, मउंद २, महल ३, कडंब ४, झल्लरि ५, हूडुक्क ६, कंसाला ७। काहल ८, तलिमा ९, वंसो, १०, सखो ११, पणवो १२, य वारसमो ॥

तयाऽणंतरं च णं असि-सत्ति-कौत-तोमर-सूल-लउड-भिण्डिमाल-
धणु-पाणिसज्जं पायत्ताणीयं * पुरत्रो अहाणुपुव्वीए संपट्टियं।

उन रथो के पीछे तलवार, शक्ति, कुन्त (भाला), शूल, लकुट (लट्टियाँ), भिण्डिमाल और धनुष हाथ में लिये हुए, पदातिदल (=पैदल कटक) आगे आगे क्रमश चल रहा था।

* वाचनान्तरे-'सनद्धवद्धवम्मियकवयाणं उप्पीलियत्तरासण वट्टि-
याणं पिनद्धगेथेज्जविमलवरवद्धचिघपट्टाणं गहियाउहप्परणाणं-' इति विशेषः।

तए णं से कूणिए राया हारोत्थय-सुकयरययवच्छे कुंडल-
उज्जोविआणणे मउडदित्तसिए णरसीहे णरवई णरिंदे णर-
वसहे मणुय-राय-वसभकप्पे अब्भहिय-राय-तेयलच्छीए दिप्प-
माणे हत्थिक्खंधवरगए

उनके बाद थे वह कूणिकराजा । उनका वक्षस्थल हारो से सुशोभित था । कुण्डलो से मुख द्युतिमान हो रहा था । मुकुट से शिर देदीप्यमान था । वह नरो में सिंह, नरो के स्वामी नरो के इन्द्र, नरो में (लिए हुए भार के निर्वाहक) वृषभ और नृपतियो के नायक (=चक्रवर्ती) के तुल्य थे । हाथी के श्रेष्ठ स्कंध (=खन्धे) पर स्थित अत्यधिक राजतेज रूप लक्ष्मी से देदीप्यमान थे ।

सकोरंटमल्लदामेणं छत्तणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं
उद्धुवमाणीहिं उद्धुवमाणीहिं वेसमणे * चेव णरवई अमरवई-
सणिएभाए इड्डीए पहियकित्ती

कोरट पुष्प की माला से युक्त छत्र को धारण किये हुए थे । श्रेष्ठ सफेद चामर डूलाये जा रहे थे । वैश्रमण, नर-पति (=चक्रवर्ती) और अमरपति (=इन्द्र) के तुल्य ऋद्धि से प्रसिद्ध कीर्तिवाले थे ।

हयगयरहपवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए समणु-
गम्ममाणमग्गे जेणेव पुण्णभदे चेइए तेणेव पहारेत्थ गमणाए ।

* 'वेसमणो'-अपि दृश्यते ।

तए णं तस्स कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स पुरओ महंआसा
आसधरा†, उभओ पारिं शागा णागधरा, पिट्ठओ रह-
संगेल्लि ।

वह अश्व, गज, रथ और श्रेष्ठ योद्धा रूप चतुरगिणी
सेना से अनुगम्यमान (=अनुगमन किये जाते हुए) मार्ग मे
जहाँ पूर्णभद्र चैत्य (=उद्यान) था वहाँ जाने के लिए, इच्छा
सहित प्रवृत्त हुए । तब भभसारपुत्र कूणिक राजा के आगे
बड़े बड़े घोड़े और घुड सवार थे, आजु वाजु हाथी और हाथी
सवार थे और पीछे रथ समुदाय था ।

तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते अब्भुग्गयभिंणारे पग्ग-
हियतालियंटे उच्छियसेयच्छत्ते पवीइयवालवीयणीए सव्वि-
ड्डीए सव्वजुत्तीए सव्ववत्तेणं सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्व-
विभूर्इए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं * सव्वपुप्फ गंध (वास)
मल्लालंकारेणं † सव्वतुडिअसदसएणणाएणं, महया इड्डीए
महया जुत्तीए महया वत्तेणं महया समुदएणं महया
वरतुडिअजमगसमगपवाइएणं संख-पणव-पडह-भेरि-भल्लरि-

† आसधरा-त्ति पा० ।

* पदचतुष्कमिदं अधिकमपि दृ०—‘सव्वपगईहि सव्वनायगेहि
सव्वतालापरेहि सव्वोरोहेहि’ ।

+ इव० दृ०—‘सव्वपुप्फवत्थगंधमल्लालकारविभूसाए’ त्ति ।

खरमुहि-हुडुक्क-मुरव-मुडंग-दुंदुभि-शिग्घोसणाइयरवेणं चंपाए
णयरीए मज्जेणं मज्जेणं णिगच्छइ ।

वह भभसारपुत्र कूणिक राजा चम्पानगरी के मध्य से होकर जा रहा था । उसके सामने सोवनभारी (पुरुष के द्वारा) उठाई हुई थी । (किसी के द्वारा) पंखा झला जा रहा था । (किसी के हाथ में) सफेद छत्र थमा हुआ था । इस प्रकार झली जाती हुई वालव्यजनिका (=छोटे पखे या चँवरी), सर्व ऋद्धि (=आभरणादि रूप लक्ष्मी), सर्व युक्ति (=परस्पर उचित पदार्थों के संयोग), सर्व बल (=सेना), सर्व समुदय (=परिवारादि समुदाय), सर्व आदर (=प्रयत्न), सर्व विभूति सर्व विभूषा, सर्व सभ्रम (=भक्ति जन्य उत्सुकता), सर्व पुष्प, वास, माल्य और अलंकार और सर्व बजते हुए बाजों से युक्त एव महती ऋद्धि, महती युक्ति, महती सेना, महान् समुदय, और एक साथ बजते हुए बहुत-से बाजे के साथ थे । शख, भाण्डो के ढोल, नगाडे, भेरी, झल्लरी, खरमुही (=काहला), हुडुक्का, मुरज, मूदंग और दुंदुभि के निर्घोष की ध्वनि गूँज रही थी ।

टिप्पण—ऋद्धि आदि पदार्थों की सर्वता होने पर भी महत्ता नहीं भी हो, अतः उनकी महत्ता दिखाने के लिये उन्हीं पदार्थों का 'महत्' विशेषण के साथ पुनः कथन किया गया है । —टीकाकार

इति चंपाए णं कूणियस्स रणो चंपा नगरिं मज्जेणं
मज्जेणं णिगच्छमाणस्स वव्वे अत्थत्थिया कामत्थिया

भोगत्थिया लाभत्थिया किञ्चिसिया क्रोडिया कारवाहिया
 संखिया चक्किया गंगलिया मुहमंगलिया वद्धमाणा पूम-
 भाणवा खंडियगणा ताहि इट्ठाहि कंताहि पियाहि मणुणाहि
 मणामाहि मणोभिरामाहि • वग्गूहि जयविजयमंगलसएहि
 अणवरयं अभिणंदंता य अभियुणंता य । एवं वयासी-
 'जय जय गुंदा ! जय जय भदा ! भदं ते । अजियं जिणाहि ।
 जियं (च) पालेहि । जियमज्जे वसाहि ।'

चम्पानगरी के मध्य से होकर निकलते हुए कूणिक
 राजा की बहुत से अर्थार्थी (=धन-प्राप्ति के अभिलाषी),
 कामार्थी (=मनोज्ञ शब्द और रूप की प्राप्ति के अभिलाषी),
 भोगार्थी (मनोज्ञ गंध, रस और स्पर्श की प्राप्ति के अभिलाषी),
 लाभार्थी (=मात्र भोजनादि के इच्छुक), किन्त्वषिक (=भाड)
 आदि), कापालिक, करपोडित, शाखिक (=शस्त्र फूंकने वाले),
 चाक्रिक (=चक्र नामक शस्त्र के धारक या कुम्भकार, तैलिक
 आदि), लागलित (=भट्ट विशेष या किसान), मुखमागलिक
 (=चाटुकार), वर्द्धमान (=स्कंधो पर पुरुषों को आरोपित
 करनेवाले), भाट-चारण और छात्र समुदाय के द्वारा इष्ट
 (=वाञ्छित), कान्त (=कमनीय=सुन्दर), प्रिय, मनोज्ञ (=मन

● वाचनान्तरे—'उरालाहि कल्लाणाहि सिवाहि धण्णाहि मंगल्लाहि
 सस्सिरीयाहि हिययगमणिज्जाहि हिययपल्हायणिज्जाहि भिय महुरगभीर-
 माहिगाहि भट्टसइयाहि (अपुणरुक्ताहि)'—इत्यधिकम् ।

को खींचनेवाली), मनोऽम (=मन को भानेवाली) और मनो-
ऽभिराम (=मन में रम जाने वाली) वाणी से तथा जय-विजय
आदि सैंकड़ों मांगलिक शब्दों से लगातार अभिनन्दना
(आनन्दवर्धक बधाई) और अभिस्तवना (=स्तुति) की जा
रही थी। वे इस प्रकार बोल रहे थे—'हे नन्द ! (=भुवन में
समृद्धि के करने वाले !) (तुम्हारी) जय हो ! जय हो !'
'हे भद्र ! (=कल्याणवान् ! या कल्याणकारि !) (तुम्हारी)
जय हो ! जय हो !' 'आपका कल्याण हो ! नहीं जीते हुआ
को जीते । जीते हुए (व्यक्तियों) का पालन करे । जीते हुए
(व्यक्तियों) के बीच में निवास करे ।'

इंदो इव देवाणं, चमरो इव असुराणं, धरणो इव नागाणं,
चंद्रो इव ताराणं, भरहो इव मणुयाणं, बहूँ वासाँ, बहूँ
वाससयाँ, बहूँ वाससहस्साँ, बहूँ वाससयसहस्साँ,
अणहसमग्गो हट्टुट्टो परमाउं पालयाहि ।

'देवों में इन्द्र के समान, असुरों में चमर (इन्द्र) के
समान, नागों में वरुण (इन्द्र) के समान, ताराओं में चन्द्र के
समान और मनुष्यों में भरत (चक्रवर्ती) के समान बहुत वर्षों
तक, बहुत-सी गताब्दियों तक, बहुत-सी सहस्राब्दियों
(=हजारों वर्षों) तक, बहुत-सी शतसहस्राब्दियों (=लाखों
वर्षों) तक, दोष रहित सपरिवार अति सन्तुष्ट और परमायु
अर्थात् उत्कृष्ट आयु भोगें ।

इह जणसंपरिवुडो चंपाए णयरीए, अण्णेसिं च बहूणं गामा-
 गर-णयर-खेड-कव्वड-मडंब-दोणमुह-पट्टण-आसम- निगम-
 संवाह-संनिवेशाणं आहेवच्चं पोरेवच्चं • भट्टित्तं सामित्तं महय-
 रत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे, महयाऽऽहय-
 णट्टगीयवाह्यतंतीतलतालतुडियघणमुयंगपहुप्पवाइयरवेणं
 विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहराहि-त्तिकट्टु जय जय
 सइं पउंजंति ।

‘इष्टजन से परिवृत्त होकर, चम्पा नगरी का एवं
 और भी बहुतसे ग्राम, आकर (= लवण आदि के उत्पत्ति-स्थान),
 नगर (= कर से मुक्त शहर), खेट (= घूलिकोट वाले गाँव),
 कर्वट (= कुनगर), मडम्ब, द्रोणमुख (= जलपथ और स्थलपथ
 से युक्त निवासस्थान), पत्तन (= बन्दरगाह अथवा केवल
 जलमार्गवाली या केवल स्थलमार्गवाली वस्ती) आश्रम, निगम,
 सवाह (= पर्वत की तलेटी आदि के गाँव) और सन्निवेश
 (= घोष आदि) का आधिपत्य, पुरोवर्तित (= आगेवानी),
 भर्तृत्व (= पोषकता), स्वामित्व, महत्तरत्त्व (= बडप्पन) और
 आज्ञा कारक सेनापतित्व करते हुए—पालन करते हुए, कथा-
 नृत्य, गीतिनाट्य, वाद्य, वीणा, करताल, तूर्य, मेघ, मृदग को
 कुशल पुरुषो के द्वारा बजाये जाने से उठनेवाली महाध्वनि के
 साथ विपुल भोगो को भोगते हुए विचरे’—यो कहकर, वे व्यक्ति

जयघोष करते थे ।

टिप्पण--'पत्तनं रत्नभूमिरित्यन्ये' अर्थात् दूसरे आचार्य 'पत्तन' का रत्नभूमि अर्थ करते हैं । 'आहयत्ति-आख्यानकप्रतिबद्धं, अहतं वा अव्यवच्छिन्नं, आहतं वा-आस्फालितं यद्वाद्यं-नाटकम्' अर्थात् कथाबद्ध या लगातार या नाचकूद युक्त नाटक । 'तलतालाश्च हस्तास्फोटरवाः, तला वा हस्ताः, तालाः कंशिकाः' अर्थात् तलताल यानी तालियों की आवाज या तल=हाथ और ताल=कंशिका (=काँसी का वाद्य-सं०) ।-टीकाकार । तए णं से कूणिण राया भंभसारपुत्ते णयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे पेच्छिज्जमाणे हिययमालासहस्सेहिं अभिणंदिज्जमाणे अभिणंदिज्जमाणे, †मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे विच्छिप्पमाणे, वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे, कंतिसोहग्गुणेहिं पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे,

तब भभसारपुत्र कूणिकराजा, हजारो नयनमालाओ से दर्शित बनता हुआ, हजारो हृदयमाला से अभिनदित होता हुआ, हजारो मनोरथ माला से (उसके सहवास में निवास के लिये) वाञ्छित होता हुआ, कान्ति-सौभाग्य से प्रार्थित होता हुआ, हजारो वचनो से प्रशसित होता हुआ ।

बहूणं णरणारिसहस्साणं दाहिणहत्थेणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे, मंजुमंजुणा घोसेणं पडिपुच्छमाणे पडिपुच्छमाणे +, भवणपंतिसहस्साइं समइच्छमाणे समइच्छ-

† उन्नइज्जमाणे-त्ति पा० ।

+ पडिबुज्जमाणो-त्ति० पा० । अपडिबुज्जमाणो-त्ति पा० ।



माणे, * चंपाए शयरीए मज्झमज्झेणं शिगच्छइ ।

बहुत-से हजारो नर नारियो की हजारो अञ्जलिमाला को (नमस्कार) स्वीकार करता हुआ, मीठे क्रोमल स्वर से कुशलवार्ता पूछता हुआ और हजारो भवनो की पक्तियो को लाघता हुआ, चम्पानगरी के बीचोबीच होकर निकला ।

भगवान् की पर्युपासना

शिगच्छिता जेणेव पुण्णभदे चेइए तेणेव उवागच्छइ ।
उवागच्छित्तो समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते
छत्ताइए तित्थयराइसेसे पासइ ।

चम्पानगरी से निकलकर, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ आये । वहाँ आकर, न अधिक नजदीक न अधिक दूर ऐसे

* वाचनान्तरे त्वेवं—तती-तल-ताल-तुडिय-गीय-वाइयरवेणं (महुरेणं) मणहरेण जयसद्वुघोसविसएण मंजुमज्जुणा घोसेणं अपडिबु-ज्झमाणे, कदरगिरि-विवर-कुहरगिरिवर पासादुद्ध-घण-भवन-देवकुल-सिधा-उग-तिग-चउक्कचच्चरआरामुज्जाणकाणणसभापवापदेसदेसभागे पडिसइ (डिसुआ) सयसहस्ससकुल करेति । ह्यहेसिय हत्थिगुलगुलाइय रहघणा-घणसद्दमीसएणं महया कलकलरवेण जणस्स महुरेण पूरयते, सुगधवरकुसुम-चुण्णउव्विद्धवासरेणुकविल नभं करेते, कालागुरुकुंडुष्कतुस्क्कधूवनिवहेण-जीवलोगमिव दासयते, समंतओ खुभियचक्कवाल, पउरजणवालवुडुपमुइ-यतुरियपहाविय विउलाउलवोलवहुल नभं करेते-इति ।

स्थान से श्रमण भगवान् महावीर के छत्र आदि तीर्थङ्कर के अतिशय (=विशेषताएँ) देखे ।

पासित्ता आभिसेकं हत्थिरयणं ठवेइ । ठवित्ता आभिसेकाओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुइइ ।

तब आभिषेक्य हस्तिरत्न को खड़ा रखा और उससे नीचे उतरे ।

आभिसेकाओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहित्ता अब्बहु पंच राय-ककुहाइं । तं जहा-खगं छत्तं उप्पेसं वाहणाओ वालवीयणं ।

हस्तिरत्न से उतरकर, पाँच राजचिन्हों को अलग किये यथा-खड्ग, छत्र, मुकुट, उपानद् (=जूते) और चामर ।

जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ । उवा-गच्छित्ता समणा भगवं महावीरं पंचदिहेणां अभिगमेणां अभि-गच्छति । तं जहा-१ सच्चित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए २ अच्चित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, ३ एगसाडियं उत्तरा-संगकरणेणं, ४ चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं*, ५ मणसो एगत्तभावकरणेणं ।

फिर जहा श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आये और पाच अभिगम (=वर्म सभा के औपचारिक नियम) सहित श्रमण भगवान् महावीर के सन्मुख गये । यथा-१ सच्चित्त

* हत्थिकलवविट्ठंभणयाए-त्ति वा० ।

(=मजोव) द्रव्यो को छोडना, २ अचित्त द्रव्यो का व्यवस्थित करना, ३ एक शाटक, (=अखण्ड-विना सिला हुए वस्त्र टुपट्टे) से उत्तरासग (=उत्तर=श्रेष्ठ+आसग=लगाव) करना, ४ धर्म-नायक के दृष्टि गोचर होते ही हाथ जोडना और ५ मन का एकत्व भाव करना या एक चित्त होना ।

समणं भगवं महावीरं तिकखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ ।
तिकखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदति णमंसति ।

फिर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा की.. वन्दना की और उन्हे नमस्कार किया ।

वंदित्ता णमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ । तं
जहा-काइयाए वाइयाए माणसियाए ।

वदना नमस्कार करके, तीन प्रकार की पर्युपासना से पर्युपासना करने लगा । यथा-कायिकी, वाचिकी और मानसिकी ।

काइयाए ताव संकुइयग्गहत्थपाए सुस्ससमाणे णमंसमाणे,
अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ ।

कायिकी-हाथ-पैर को सकुचित करके श्रवण करते हुए-नमस्कार करते हुए, भगवान् की और मुंह रखकर, विनय से हाथ जोडे हुए, पर्युपासना करता था ।

वाइयाए-जं जं भगवं वागरेइ-एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते !
अचित्तहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते ! इच्छिअमेयं भंते !

पडिच्छियंमेयं भंते ! इच्छिय पडिच्छियंमेयं भंते ! से जहेयं
तुभे वदह-अपडिकूलमाणे पज्जुवासइ ।

वाचिकी-जो जो भगवान् कहते, उससे-‘यह ऐसा ही
है भन्ते ।’ ‘यही तथ्य है भन्ते ।’ ‘यही सत्य है भन्ते ।’ ‘नि-
सदेह ऐसा ही है भन्ते ।’ ‘यही इष्ट है भन्ते ।’ ‘यही स्वीकृत
है भन्ते !’ ‘यही वाञ्छित-गृहीत है भन्ते !-जैसाकि आप
यह कह रहे हैं ।’-यो अप्रतिकूल बनकर पर्युपासना करता था ।

माणसियाए महया संवेगं जणइत्ता तिव्वधम्माणुरागरत्तो
पज्जुवासइ ।

मानसिकी-अति सवेग (=उत्साह या मुमुक्षुभाव)
उत्पन्न करके, धर्म के अनुराग में तीव्रता से आरक्त होकर
पर्युपासना करता था ।

३३--तए णं ताओ + सुभदाप्पमुहाओ देवीओ
अंतो अंतेउरंसि ण्हायाओ जाव पायच्छित्ताओ सव्वालंकार-
विभूसियाओ, ‡

तव (=भगवान् के आगमन की सूचना मिलने पर)

+ क्व. दू -धारिणीप्पमुहाओ-त्ति ।

‡ वा.-वाह्यसुभयसोवथियवद्धमाणपुस्समाणवजयविजयमंगल-
सएहि अभियुव्वमाणीओ कप्पायच्छेयापरियरइयसिरसाओ, महया गधद्धणिं
मुयंतीओ...



अन्त पुर में निवाम करनेवाली सुभद्रा प्रमुख देवियों ने स्नान किया. यावत् प्रायश्चित्त किया और वे सभी अलकारों से विभूषित हुई ।

बहृहिं खुज्राहिं चिलाईहिं वामणीहिं वडभीहिं बब्वरीहिं पया-
उसियाहिं जोणियाहिं पण्हवियाहिं इसिगिणियाहिं वासि-
इणियाहिं लासियाहिं लउसियाहिं सिंहलीहिं दमीलीहिं
आरवीहिं पुलंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सबरियाहिं
पारसीहिं णाणादेसीविदेमपरिमंडियाहिं* इंगियचितिय-
पत्थिय*विजाणियाहिं सदेसणेवत्थग्गहियवेसाहिं चेडियाच-
क्कवालवरिसधरकंचुइज्जमहत्तरगवंदपरिक्खत्ताओ अंतेउराओ
णिग्गच्छंति ।

फिर बहुत-सी कुब्जाओ, चेटिकाओ, वामनियो, वड-
भियो, बब्वरो, पयाउसिया, जोणिआ, पण्हविआ, इसिगिणिया
वासइणिया, लासिया, लउसिया, सिंहली, दमिली, आरवी,
पुलदी, पक्कणी, बहली, मुरुंडी, सबरो और पारसी—इन नाना
देश-विदेश की निवासिनियो—जो कि अपनी स्वामिनी के इंगित
(=मुखादि के चिन्ह, या चेष्टा), चिन्तित (सोची हुई बात)
और प्रार्थित (=अभिलषित बात) की जानकार थी, जो अपने
अपने देश की वेशभूषा को पहने हुए थी उन चेटियो के समूह

* विदेश परिपंडियाहिं—इति वा.—

* इंगियचितियपत्थियमणोगत...इति पा. ।

वर्षधर (=नाजर, कृत नपुसक), कचुकीय (=अन्त पुर के रक्षक) और महत्तरग (=अन्त पुर के रक्षको के अधिकारी) से घिरी हुई, अन्त पुर से निकली ।

अंतेउराओ णिग्गच्छिता जेणेव पाडिएकजाणाइं तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छिता पाडिएकपाडिएकाइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं दुरुहंति ।

... जहा प्रत्येक के यान खडे थे, वहा आयी और... जुते हुए यात्राभिमुख यानों पर सवार हुई ।

दुरुहिता णियगपरियाल सद्धिं संपरिवुडाओ चंपाए णयरीए मज्झंमज्जेणं णिग्गच्छंति । णिग्गच्छिता जेणेव पुण्णभदे चेइए तेणेव उवागच्छंति ।

...अपने परिवार से घिरी हुई चम्पानगरी के मध्य से होकर निकली । जहा पूर्णभद्र चैत्य था, वहा आयीं ।

उवागच्छिता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तादिए तित्थयरातिसेसे पासंति । पासित्ता पाडिएकक पाडिएककाइं जाणाइं ठवंति । ठवित्ता जाणेहितो पच्चोरुहंति ।

दृष्टि योग्य स्थान से श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थङ्करत्व सूचक छत्रादि अतिशय देखे । तब यानों को ठहराये और उनसे नीचे उतरी ।

जाणेहितो पच्चोरुहिता बहूहिं खुज्जाहिं जाव परिकिखत्ताओ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति । तेणेव

उवागच्छिता समयां भगवं महावीरं पंचविहेयां अभिगमेयां
अभिगच्छन्ति । तं जहा-१ सच्चितायां दवायां विउसरणयाए
२ अचित्तायां दवायां अविउसरणयाए, ३ विणओणताए
गायलद्धीए ४ चक्खुफासे अंजलिपग्गहेयां ५ मणसो एगत्त-
करणेयां ।

..,बहुत-सी कुब्जाओ से .यावत् घिरी हुई, जहा
श्रमण भगवान् महावीर थे, वहां आयीं और पाच अभिगम
सहित उनके सम्मुख गईं । यथा-१सचित्त द्रव्यो को छोडना,
२ अचित्त द्रव्यो को नहीं छोडना, ३ विनय से देह को झुकाना
४ चक्षु.स्पर्श होने पर हाथ जोड़ना और ५ मन को एकाग्र
करना ।

समयां भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणां पयाहिणां करेति ।
वंदन्ति । णमंसन्ति । वंदित्ता णमंसित्ता कूणियरायं पुरओ
कट्टु ठिइयाओ चेव सपरिवाराओ अभिमुहाओ विणएयां
पंजलिउडाओ पज्जुवासन्ति ।

फिर श्रमण भगवान् महावीर की तीन वार आदक्षिणा
प्रदक्षिणा की । वन्दना की । नमस्कार किया ।.. कूणिकराजा
को आगे रखकर, परिवार सहित स्थित होकर, भगवान् की
श्रेर मुख रखकर, विनय से करबद्ध होकर पर्युपासना करने
लगीं ।

टिप्पण-‘ठिइयाओ’ का टीकाकार ने ‘ऊर्ध्वस्थिता’ अर्थात्, सडी

हुई' अर्थ किया है । तो उन्होंने ऐसा भक्तिभाव से किया था ? या समवसरण में स्त्रियों को बैठने का अधिकार नहीं था ?—और ऐसा था तो क्यों ?—न इसका रहस्य समझ में आया और न कहीं इसका स्पष्टीकरण ही देखने में आया ।

विचार करने पर यह अर्थ उचित नहीं लगता है । मूल पाठ में भी ऐसे अर्थ का भास नहीं होता है और समा-विसर्जन के समय का पाठ तो इस अर्थ से बिल्कुल विपरीत अर्थ को बतला रहा है । वहाँ सुभद्रा प्रमुख देवियों के लिए 'उट्टाए उट्टिता' शब्दों के प्रयोग की कुछ भी आवश्यकता नहीं थी । अतः यह अर्थ ठीक लगता है कि—कूणिकराजा को आगे करके...वहीं पर ठहरी अर्थात् कूणिकराजा आगे और वे पीछे ठहरें ।

भगवान् महावीर की धर्म देशना

३४—तए णं समणे भगवं महावीरे कूणियस्स
रण्णो भंमसारपुत्तस्स सुभद्दाप्पमुहाणं देवीणं तीसे य महइ●
महालियाए परिसाए इसीपरिसाए मुण्णिपरिसाए जइपरिसाए
देवपरिसाए अणोगसयाए अणोगसयवंदए अणोगसयवंदपरि-
यालाए + ओहबले अइबले महब्बले अपरिमियवलवीरिय-
तेयमाहप्पकंतिजुत्त सारयनवत्थणियमहुरगंभीरकीच णिग्घोस-
दंदुभिस्सरे उरे वित्थडाए, कंठेऽवड्डियाए, सिरे समाइएणाए,

● महति—इति पा० ।

+ परिवाराए—इति पा० ।

अगरलाए अमम्मणाए सव्वक्खरसन्निवाइयाए पुएणरत्ताए*
 सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सइए जोयणणीहारिणासरेणं
 अद्धमागहाए भासाए (भासति अरिहा) * धम्मं परिकहेइ ।

तब ओघवली (=सदा समान बलवाले), महावली
 (=प्रशस्त बलवाले), अपरिमित शारीरिक शक्ति (=बल=
 शारीरिक प्राण), वीर्य (=प्रात्म जनित बल), तेज, माहत्म्य
 (=महानुभावता) और कान्ति से युक्त और शरद ऋतु के
 नव-मेघ की मधुर-गभीर ध्वनि, कौंच पक्षी के निर्घोष और
 दुदुमि-नाद के समान स्वरवाले उन श्रमण भगवान् महावीर
 ने भंभसारपुत्र कूणिक को, सुभद्रा आदि देवियों को, कई सौ
 कई सौ वृन्द और कई सौ वृन्द परिवार वाली उस अति विशाल
 परिषद् को, ऋषि (=अतिशय ज्ञानी साधु)-परिषद् को, मुनि
 (=मौनघारी साधु परिषद् को, यति (=चरण में उद्यत साधु)
 परिषद् और देव परिषद् को, हृदय में विस्तृत होती हुई, कण्ठ
 में ठहरती हुई, मस्तक में व्याप्त होती हुई, अलग-अलग निज
 स्थानीय उच्चारणवाले अक्षरो से युक्त, अस्पष्ट उच्चारण से
 रहित (या हकलाहट से रहित), उत्तम स्पष्ट वर्ण-सयोगो से

* फुडधिसयमहुरगंभीरगाहियाए सव्वक्खरसण्णिवाइएइदम-
 विकम् ।

* कोष्ठक गत पाठ टीका से और अर्थ संगति की दृष्टि से भी
 उचित प्रतीत नहीं होता है। अथवा 'अद्ध.....अरिहा' यह वाक्य अन्य
 स्थान का भी हो सकता है। क्योंकि आगे भी भाषा का उल्लेख है।

युक्त, स्वरकला से संगीतमय और सभी भाषाओं में परिणत होनेवाली सरस्वती के द्वारा, एक योजन तक पहुँचने वाले स्वर से, अर्द्धमागधी भाषा में घर्म को पूर्णरूप से कहा ।

तेसिं सव्वेसिं आयरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ ।
साऽविय णं अद्धमागहा भासा, तेसिं सव्वेसिं आरियमणा-
रियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ ।

उन सभी आर्य-अनार्यों को अग्लानि से (=तीर्थच्छत्र नामकर्म के उदय से अनायास-विना थकावट के) घर्म कहा । वह अर्द्धमागधी भाषा भी, उन सभी आर्य-अनार्यों की अपनी-अपनी-स्वभाषा में परिवर्तित हो जाती थी ।

तं जहा-अत्थि लोए । अत्थि अलोए । एवं जीवा अजीवा,
बंधे मोक्खे, पुण्णे पावे, आसवे संवरे, वेयणा, णिज्जरा, अरि-
हंता, चक्कवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, नरगा, नेरइया, तिरिक्ख-
जेणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, माया, पिया, रिसओ, देवा,
देवलोया, सिद्धी, सिद्धा, परिणिव्वाणं, परिणिव्वुया

वह यथा-‘लोक है । अलोक है । इसी प्रकार जीव,-
अजीव, बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आश्रव-सवर, वेदना-निर्जरा,
अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव-वासुदेव, नरक-नैरयिय, तिर्यञ्च-
योनिक-तिर्यञ्चयोनिका, माता-पिता, ऋषि, देव-देवलोक, सिद्धि-
सिद्ध और परिनिर्वाण-परिनिर्वृत हैं ।

टिप्पण-शून्यवाद के निरसन के लिए लोक और अलोक के

अगरलाए अमम्मणाए सव्वक्खरसन्निवाइयाए पुएणरत्ताए*
 सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सइए जोयणणीहारिणासरेणं
 अद्धमागहाए भासाए (भासति अरिहा)* धम्मं परिकहेइ ।

तव ओघवली (=सदा समान बलवाले), महावली
 (=प्रशस्त बलवाले), अपरिमित शारीरिक शक्ति (=बल=
 शारीरिक प्राण), वीर्य (=प्रात्म जनित बल), तेज, माहत्म्य
 (=महानुभावता) और कान्ति से युक्त और शरद ऋतु के
 नव-मेघ की मधुर-गभीर ध्वनि, कौच पक्षी के निर्घोष और
 दुदुभि-नाद के समान स्वरवाले उन श्रमण भगवान् महावीर
 ने भमसारपुत्र कूणिक को, सुभद्रा आदि देवियों को, कई सौ
 कई सौ वृन्द और कई सौ वृन्द परिवार वाली उस अति विशाल
 परिषद् को, ऋषि (=अतिशय ज्ञानी साधु)—परिषद् को, मुनि
 (=मौनधारी साधु परिषद् को, यति (=चरण में उद्यत साधु)
 परिषद् और देव परिषद् को, हृदय में विस्तृत होती हुई, कण्ठ
 में ठहरती हुई, मस्तक में व्याप्त होती हुई, अलग-अलग निज
 स्थानीय उच्चारणवाले अक्षरो से युक्त, अस्पष्ट उच्चारण से
 रहित (या हकलाहट से रहित), उत्तम स्पष्ट वर्ण-सयोगो से

* फुडधिसयमहुरगभीरगाहियाए सव्वक्खरसण्णिवाइएइदम-
 धिकम् ।

* कोण्ठक गत पाठ टीका से और अर्थ संगति की दृष्टि से भी
 उचित प्रतीत नहीं होता है। अथवा 'अद्ध.. अरिहा' यह वाक्य अन्य
 स्थान का भी हो सकता है। क्योंकि आगे भी भाषा का उल्लेख है।

युक्त, स्वरकला से सगीतमय और सभी भाषाओं में परिणत होनेवाली सरस्वती के द्वारा, एक योजन तक पहुँचने वाले स्वर से, अर्द्धमागधी भाषा में धर्म को पूर्णरूप से कहा ।

तेसिं सव्वेसिं आयरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ ।
साऽविय णं अद्धमागहा भासा, तेसिं सव्वेसिं आरियमणा-
रियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ ।

उन सभी आर्य-अनार्यों को अग्लानि से (=तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय से अनायास-विना थकावट के) धर्म कहा । वह अर्द्धमागधी भाषा भी, उन सभी आर्य-अनार्यों की अपनी-अपनी-स्वभाषा में परिवर्तित हो जाती थी ।

तं जहा-अत्थि लोए । अत्थि अलोए । एवं जीवा अजीवा,
बंधे मोकखे, पुण्णे पावे, आसवे संवरे, वेयणा, णिज्जरा, अरि-
हंता, चक्रवट्टी, बलदेवा, वासुदेवा, नरगा, नेरइया, तिरिक्ख-
जेणिया, तिरिक्खजोणिणीओ, माया, पिया, रिसओ, देवा,
देवलोया, सिद्धी, सिद्धा, परिणिव्वाणं, परिणिव्वुया

वह यथा-‘लोक है । अलोक है । इसी प्रकार जीव,-
अजीव, बध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आश्रव-सवर, वेदना-निर्जरा,
अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव-वासुदेव, नरक-नैरयिय, तिर्यञ्च-
योनिक्क-तिर्यञ्चयोनिका, माता-पिता, ऋषि, देव-देवलोक, सिद्धि-
सिद्ध और परिनिर्वाण-परिनिर्वृत है ।

टिप्पण-शून्यवाद के निरसन के लिए लोक और अलोक के

अस्तित्व का प्रतिपादन है। जीव के अस्तित्व के प्रतिपादन से लोकायत मत का निषेध होता है अर्थात् जड़-अद्वैतवाद का खण्डन होता है और अजीव के अस्तित्व की मान्यता से पुरुष-अद्वैतादि वाद का। वच और मोक्ष के प्रतिपादन से इस मत का निषेध हो जाता है कि—‘नाना आश्रया प्रकृति ही बद्ध और मुक्त होती है, न कि आत्मा।’ ‘पाप की ही हानि-वृद्धि सुख-दुःख में कारण है या पुण्य की-वृद्धि-हानि। अतः पाप ही है या पुण्य ही है’—इस एकान्त मान्यता पर, पाप-पुण्य रूप द्वन्द्व का प्रतिपादन प्रहार करता है और इस मान्यता पर भी कि—‘जगत-वैचित्र्य का कारण एक मात्र स्वभाव ही है। आश्रय और संवर के अस्तित्व से बन्ध-मोक्ष की निष्कारणता का प्रतिषेध होता है या वीर्य की प्रधानता का उद्घोष। वेदना (=कर्म का अनुभव या पीड़ा) और निर्जरा (=देशत कर्मक्षय) के अस्तित्व से ‘विना भोगे कर्म क्षीण नहीं होते हैं’—इस बात का प्रतिपादन होता है। अर्हदादि चार की सत्ता का कथन, उनके अतिशायित्व (=जगत् श्रेष्ठत्व) को अविश्वास की दृष्टि से देखनेवालों में, उस विषय में श्रद्धा उत्पन्न कराने के लिए है। ‘प्रमाण ग्राह्य नहीं होने से नरकादि नहीं हैं’ इस मत का निषेध, नरक-नैरयिक के अस्तित्व से होता है। तिर्यग् आदि के प्रतिपादन से यह मत ध्वस्त हो जाता है कि—‘प्रत्यक्ष प्रमाण की आन्ति के कारण, यह कुवासनादि जन्य तिर्यगादि-प्रतिभास है। वस्तुतः उनकी सत्ता नहीं है।’ माता-पिता के अस्तित्व के कथन से उनकी उपकारिता का निर्देश होता है और इस मत का निरास, कि—‘माता-पिता जनकता की अपेक्षा से कहे जाते हैं। तो फिर जूं, कुमि, गण्डोलक आदि को आश्रय करके भी यह व्यवहार होना चाहिए। क्योंकि वे भी अग्रज हैं। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए यह माता-पितृ रूप व्यवहार वास्तविक नहीं है।’ ‘ऋषि’ की सत्ता से—‘पुरुषों के रागादिवाले होने के कारण कोई भी अतीन्द्रिय पदार्थों का दृष्टा नहीं हो सकता है’—

इस मत का निषेध होता है । 'देव नहीं ह-प्रत्यक्ष नहीं होने से'-इस मत का खण्डन देव-सत्ता के कथन से होता है । इसी प्रकार के मतों की भ्रान्ति हटाने के लिए सिद्धि-(=सिद्धालय या कृतार्थता)-सिद्ध और परिनिर्वाण (=परम शान्ति)-परिनिर्वृत (=आनन्दघन) का कथन है । -टीकाकार

अत्थि पाणाइयाए मुसावाए अदिण्णादाणे मेहुरो परिग्गहे ।
अत्थि कोहे माणे माया लोभे....जाव मिच्छादंसणसल्ले ।

'प्राणातिपात (=प्राणघात, हिंसा), मृषावाद (=असत्य) अदत्तादान (=चोरी), मैथुन और परिग्रह है । क्रोध, मान, माया, लोभ . यावत् मिथ्यादर्शन शल्य है ।'

टिप्पण-१ 'प्राणातिपात आदि बन्ध मोक्ष-के हेतु नहीं है । क्योंकि बन्धनीय-मोचनीय (=बन्धने-छुटने योग्य) जीव का अभाव है'-इस मत का निरास प्राणातिपात आदि की सत्ता के कथन से होता है । -टी०

२ 'जाव' शब्द से इन पदों का संग्रह होता है- 'पिज्जे दोसे कलहे अन्नक्खाणे पेसुप्पे परपरिवाए अरइरई मायामोसे' । प्रेम (=अप्रकट माया और लोभ से व्यक्त होने वाला रोचकभाव), द्वेष (=अप्रकट मान और क्रोध से व्यक्त होनेवाला अरोचक भाव), कलह (=राटि, राड), अभ्याख्यान (=असत्य दोषारोपण), पैशून्य (=फिसी के गुप्त दोषों को प्रकट करना), परपरिवाद (=निन्दा), अरति रति (=अरति मोहनीय के उदय से चित्त-उद्वेग जन्य भाव और मोहनीय से विषयों में होनेवाली अभिरति अर्थात् क्लान्तिजन्य आकर्षण) और माया-मृषा (=कपट सहित झूठ=विश्वासघात) । 'मायामृषा' इस संयोगी शब्द के द्वारा, सभी पापों के संयोगिभावों को समझना चाहिए । इस शब्द के द्वारा तीसरे कषाय और दूसरे आश्रव के मिश्रित भाव को समझना चाहिए । अथवा वेदान्तर

श्रीर भाषान्तर-करण से जो परवञ्चन किया जाता है वह मायामृषा है । -टीका०

अतिथि पणाडवायवेरमणे मुसावायवेरमणे अदिण्णादाणवेर-
मणे मेहुणवेरमणे परिग्गहवेरमणे.....जाव मिच्छादंसणसल्ल-
विवेगे ।

‘प्राणातिपात-विरमण (=प्राणघात से वृत्ति हटा लेना)
मृषावाद-विरमण (=असत्य से वृत्ति हटा लेना), अदत्तादान
विरमण (=चोरी से विरत होना), मैथुन विरमण, परिग्रह
विरमण यावत् मिथ्यादर्शनशल्य विवेक (=मिथ्या विश्वास
रूप काँटे को त्यागना) है ।’

टिप्पण-प्राणातिपात से विरमण और क्रोधादि के विवेक की
सत्ता का कथन इसलिए है कि-‘सर्वथा अप्रमाद अशक्य नहीं हैं, अतः
वह स्थिति असभव नहीं है’-इस बात के प्रतिपादन के द्वारा इसके
मत का निरोध हो । -टी०

सञ्चमत्थि भावं अत्थि-त्ति वयति । सञ्चं णत्थिभावं णत्थि-
त्ति वयति ।

‘सभी अस्तिभाव (=स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से होने
वाले भाव) को अस्ति है । यह कहा और सभी नास्तिभाव
(=पर द्रव्यादि की अपेक्षा से होने वाले भाव) को ‘नास्ति’
(=नहीं है)-यह कहा । (अथवा तत्त्व का प्रतिपादन, विघा-
नात्मक और निषेधात्मक-दोनों शैलियों से किया ।)’

टिप्पण- सभी द्रव्यों में अस्ति और नास्ति भाव विद्यमान हैं ।

अस्ति-नास्ति भावों के अविरोधी संयोजन से ही, उनका वस्तुत्व कायम रह सकता है। अतः जैन धर्म की दृष्टि सापेक्ष है।

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति । दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति ।

‘सद्-आचरण (=तपादि क्रियाएँ) सुचरितफल (=सुचरित के हेतु रूप पुण्यकर्मादि बन्ध रूप फल) वाले होते हैं और बुरे आचरण दुश्चरित (=अशुभ) फलवाले होते हैं।’

फुसइ पुण्णपावे । पच्चार्यंति जीवा । सफले कल्लाण-पावए ।

‘जीव (सुचरित से इन क्रियाओं से) पुण्य-पाप बाँधते हैं। (जिससे) जन्म-मरण करते हैं। (इस कारण) कल्याण और पाप (=शुभाशुभ कर्म) सफल हैं।’

धम्ममाइक्खइ-इण्णमेव णिगंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलए पडिपुण्णे संसुद्धे णोयाउए सल्लकत्तयो,

(भगवान् प्रकारान्तर से) धर्म की प्ररूपणा करने लगे-‘यह निरग्रन्थ-प्रवचन (=जड-चेतन की ग्रन्थ को छुड़ाने वाला उपदेश=आत्मानुशासन) सत्य है। अनुत्तर (=सर्वोत्तम, अलौकिक) है। केवल (=अद्वितीय या केवलि प्रणीत या अनन्त अर्थ की विषयता के कारण अनन्त) है। प्रतिपूर्ण (=अल्पग्रन्थतादि प्रवचन गुणों से सर्वांग सम्पन्न) है। सशुद्ध (=कषादि से शुद्ध स्वर्ण के समान गुणपूर्णता के कारण निर्दोष) है। नैयायिक (=प्रमाण से बाधित नहीं होने वाला) है। शल्यकर्तन (=मायादि शल्य का निवारक) है।

सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे शिञ्जाणमग्गे अविताह-
मविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे,

सिद्धिमार्गं (=कृतार्थता का उपाय) है । मुक्तिमार्गं (=कर्म
रहित अवस्था का हेतु) है । निर्याणमार्गं (पुन. नहीं लौटनेवाले
गमन का हेतु) है । निर्वाणमार्गं (=सकल सताप रहितता का
पन्थ) है । अविताथ (=सद्भूतार्थ=वास्तविक) और अविसन्धि
अर्थात् महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से इसका न कभी विच्छेद
होता है और न कभी विच्छेद होगा और सर्व दुःख-प्रहीणमार्गं
(=सकल दुःखो को निःशेष करने का पन्थ अथवा जहा सभी
दुःख प्रहीण है ऐसे मोक्ष का यह मार्ग है ।

इहट्ठिया जीवा सिज्झंति । बुज्झंति । मुच्चंति । परिणिव्वा-
यंति । सव्वदुक्खाणमंतंकरंति ।

इस (प्रवचन में) स्थित जीव सिद्ध (=सिद्धिगमन
के योग्य अथवा इस लोक में अणिमादि महासिद्धियो को
प्राप्त) होते हैं । बुद्ध (=केवलज्ञानी=पूर्णज्ञानी) होते हैं ।
मुक्त (=भवोपग्राही कर्मांश से रहित) होते हैं । परिनिर्वृत
(=कर्मकृत सकल सताप से रहित=आनन्दधन) होते हैं और
सभी दुःखो का अन्त करते हैं ।

एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं अण्णयरेसु
देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति ।

या फिर एक ही मनुष्य देह धारण करना शेष रही

है जिन्हे ऐसे (=एगच्चा) कोई भदन्त (=कल्याणी) किसी देवलोक में पूर्व कर्म के बाकी रहने से देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

टिप्पण—‘भयंतारो’ के अर्थ-विकल्प—१ भदन्ता=कल्याणिनः=शुभ प्रवृत्तिवाले । २ भक्तारो वा=नैर्ग्रन्थ प्रवचनस्य सेवयितारः=निर्ग्रन्थ प्रवचन का सेवन करनेवाले । —टी०

‘शुभ प्रवृत्तिवाले’—इस विशेषण और ‘पूर्व कर्मविशेष’ इस पद द्वारा ‘तप और संयम का फल देवलोक ही है’—इस एकान्त मान्यता का निषेध होता है। अर्थात् संयमी के देवलोक में उत्पन्न होने का मुख्य कारण ‘संवर और निर्जरा’ नहीं; किंतु संवर और निर्जरा के कारणों का सेवन करते हुए होनेवाली शुभ प्रवृत्ति और क्षय होते-होते अवशिष्ट रहे हुए कर्म हैं।

‘देवताए’ पद के द्वारा एकेन्द्रियादि रूप से उत्पन्न होने का निषेध होता है।

महद्भिः जाव महासुखेसु दूरंगइसु चिरद्विईसु, ते गं तत्थ देवा भवन्ति—महद्भिः जाव चिरद्विईया हागविराइयवच्छा जाव पभासमाणा कप्पोवगा गतिकज्जाणा आगमेसिभदा जाव पडिरूवा ।

(वे देवलोक) महद्भिक यावत् महासुखवाले, अनुत्तर विमान तक की गतिवाले (=दूरगतिक) और लम्बी स्थितिवाले हैं। वहा वे देव महद्भिक यावत् लम्बे आयुष्यवाले होते हैं। उनके वक्षस्थल हारो से सुशोभित होते हैं। यावत् वे अपनी देहप्रभा से दसो दिशा में प्रभा फैलाते हैं। वे देवलोक में

उत्पन्न, शुभ गति के धारक और भविष्य काल में भद्र (=निर्वाण लक्षणात्मक) अवस्था को प्राप्त करनेवाले... यावत् प्रतिरूप होते हैं ।

टिप्पण—इस 'सूत्र' में चार बार 'जाव' शब्द से पाठ को सक्षिप्त किया गया है । पहली बार के जाव से 'महज्जुइएसु महावलेसु महायसेसु महाणुभागेसु', दूसरी बार के 'जाव' से—पूर्ववत्, तीसरी बार के जाव से—'कडयतुडियथभियभुया अंगयकुंडलमट्टगडकण्णपीठधारी विचित्तहत्याभरणा दिव्वेण सघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेण तेएणं दिव्वाए लेत्ताए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा' और चौथी बार के 'जाव' से 'पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा' पदों का संग्रह किया गया है । अर्थ पूर्ववत् ।

तमाइक्खइ ।

(निर्ग्रन्थ प्रवचन के फलकथन का उपसंहार करते हुए कहा गया कि—) यह उसका फल है ।

एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा गोरइयत्ताए कम्मं पकरंति ।
गोरइत्ताए कम्मं पकरेत्ता गोरइसु उववज्जंति ।

(भगवान् प्रकारान्तर से धर्म कहने लगे—) इस प्रकार के चार कारणों से जीव नैरयिक भव के कर्म का बन्ध करता है और . नरक में उत्पन्न होता है ।

तं जहा—महारंभयाए महापरिग्गहयाए पंचिदियवहेणं कुण्णि-
माहारेणं ।

यथा—महारभता (=अत्यधिक हिंसा के भाव), महा

परिग्रहता (=अर्त्याधिक संग्रह के भाव), पञ्चेन्द्रियवघ और मांसाहार से ।

एवं एएणं अभिलावेणं तिरिक्खजोणिएसु माइल्लयाए णिय-
डिल्लयाए अल्लियवयणेणं उक्कं चणयाए वंचणयाए ।

इस प्रकार इस अभिलाप (=सूत्र पाठ) से तिर्यञ्च योनिको में (उत्पन्न होते हैं)-यथा-मायावीपनसे, निकृति (=वेष आदि बनाकर ठगना) से, झूठ बोलने से और उत्कञ्चनता-(=मुग्ध जन को ठगने में प्रवृत्त हुए व्यक्ति का, समीपवर्ती किसी चतुर पुरुष के चित्त में सन्देह प्रविष्ट नहीं होने देने के लिए, क्षणभर के लिए, किसी प्रकार की क्रिया नहीं करती हुई-सी अवस्था में स्थित रहना) वञ्चनता (=प्रतारणा =घूर्तता) से ।

मणुस्सेसु-पगइभइयाए पगइविणीयताए साणुक्कोसयाए
अमच्छरियताए ।

(इन कारणों से) मनुष्यो में (उत्पन्न होते हैं)-यथा-स्वाभाविक भद्रता (=दूसरो को दुःखी नहीं करने के भाव या सरलता) से, स्वाभाविक विनीतता से, सदयता से और अमत्सरता (=अन्य के उत्कर्ष के प्रति ईर्ष्या का अभाव या गुणादि के उत्कर्ष में प्रमोदभावना) से ।

देवेसु-सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, अकामणिज्जराए बाल-
तवोकम्मेणं । तमाइक्खइ ।

देवों में (उत्पन्न होते हैं-) सराग संयम से, सयमा-
सयम (=देशविरति) से, अकाम निर्जरा (=निरुद्देश्य या
विद्वशता वश कष्ट-सहना) से और बाल (=वास्तविक समझ
से शून्य) तप से । -यह धर्म कहा ।

जह णरगा गम्मंति, जे णरगा जा य वेयणा नरए ।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्ख जोणीए ॥

जिस प्रकार नैरयिक नरक में जाते हैं और वहां पर
जो नैरयिक जैसी वेदना पाते हैं । तिर्यञ्च योनि में जो शारी-
रिक-मानसिक दुःख होते हैं । (उसका कथन किया) ।

माणुस्सं च अण्णिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं ।
देवे य देवलोए, देविड्ढिं देवसोक्खाइं ॥

व्याधि, बुढापा, मृत्यु और वेदना से भरपूर अनित्य
मनुष्य भव का (स्वरूप) और देव और देवलोक, उनकी ऋद्धि
एवं उनके सुख का (कथन किया) ।

णरगं तिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोयं च ।
सिद्धे य सिद्धवसहिं, छजीवणियं परिकहेइ ॥

नरक, तिर्यञ्च योनि, मनुष्य के भाव, देवलोक, सिद्ध,
सिद्धालय और छह जीविकाय को सम्पूर्ण रूप से कहा ।

जह जीवा वज्झंति, मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति ।
जह दुक्खाणं अंतं, करंति केई अपाडिबद्धा ॥

जिस प्रकार जीव बन्धते है, मुक्त होते है और जिस प्रकार महान् क्लेश पाते है एव कई अनासक्त व्यक्ति जिस-प्रकार दु खो का अन्त करते है (यह समझाया) ।

अट्टा अट्टियचित्ता, * जह जीवा दुक्खसागरमुर्विति ।

जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्गं विहाडंति ॥

आर्त (=शरीर से दु खी) और आर्तचित्तवाले जीव जिस प्रकार दु खसागर में गिरते है और जिस प्रकार वैराग्य को प्राप्त होकर, कर्मदल को चूर कर देते है—(यह समझाया) ।

जहा रागेण कडाणां, कम्माणं पावगो फलविवागो ।

जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुर्विति ॥ +

जिस प्रकार राग से किये हुए कर्मों का फल-विपाक पापरूप (होता है) और जिस प्रकार सकल कर्म से रहित सिद्ध सिद्धालय को प्राप्त होते है—(यह समझाया) ।

तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ । तं जहा--अगारधम्मं अणगार-धम्मं च ।

उसी धर्म को दो प्रकार का कहा । वह यथा—अगार-धर्म और अणगार धर्म ।

* 'अट्टणियट्टियचित्ता'-त्ति पा० । 'अट्टदुहट्टियचित्ता'-इत्यपि पा० ।

+ दूसरी वाचना में ये गाथाएँ भिन्न क्रम से कही गई हैं । फिर यह विशेष वर्णन है—'एवं खलु जीवा निस्सीला णिव्वया णिग्गुणा निम्मेरा णिप्पच्चक्खानपोसहोववासा अक्कोहा णिक्कोहा छीणक्कोहा अणुपुव्वेणं अणमिच्छमीससम्मा'-इत्यादिना क्रमेण ।

अणगारधम्मो ताव-इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता
अगाराओ अणगारियं पव्वयइ ।

तो अनगार धर्म इस संसार में जो सर्वत (=द्रव्य और भाव से) सम्पूर्ण आत्मा से (=मर्वात्मना=सभी क्रोधादि आत्म परिणामो के त्याग से) मुड होकर, गृहवास से निकलकर, अनगार अवस्था में जाते हैं-

सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणां...मुसावाय वेरमणं...अदि-
ण्णादाण वेरमणां...मेहुण वेरमणं...परिग्गह वेरमणां राईभो-
यणाउ वेरमणं ।

वे सम्पूर्ण प्राणातिपात ..मृषावाद, अदत्तादान ...
मैधुन ..परिग्रह . और रात्रि भोजन से विरत (होते हैं) ।
अयमाउसो ! अणगार सामइए धम्मे पण्णत्ते ।

आयुष्यमान् ! यह अनगार सामयिक (=अनगारों का
सैद्धान्तिक या समाचरणीय) धर्म कहा गया है ।

एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा
विहरमाणे आणाए आराहए भवइ ।

इस धर्म की शिक्षा में उपस्थित निग्रन्थ या निग्रन्थी
विचरण करते हुए आज्ञा के आराधक होते हैं ।

अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ । तं जहा--पंचअणुव्वयाइं,
तिण्ण गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं ।

अगार धर्म (=गृहस्थ उपासक का धर्म) वारह प्रकार

का कहा । यथा—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत ।

पंच अणुव्रयाइं । तं जहा--थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं
थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं । थूलाओ अदिन्नादाणाओ
वेरमणं । सदारसंतोसे । इच्छापारिमाणे ।

पाँच अणुव्रत । यथा—स्थूल प्राणातिपात से निवृत्ति ।
स्थूल मूषावाद मे निवृत्ति । स्थूल अदत्तादान से निवृत्ति । स्व-
स्त्री-सतोष और इच्छा की मर्यादा ।

तिणिण गुणव्रयाइं । तं जहा--अणत्थदंडवेरमणं । दिसि-
व्वयं । उवभोग परिभोगपरिमाणं ।

तीन गुणव्रत (=गुणों की वृद्धि करनेवाले नियम) ।
यथा—अनर्थदण्ड (= आत्मगुणघातक निरर्थक प्रवृत्ति) का त्याग ।
दिग्व्रत (= दिशाओं में गमन सम्बन्धी मर्यादा) और उपभोग
(= जिन्हे कई बार भोगी जा सके ऐसी वस्तुएँ—जैसे वस्त्र आदि)
और परिभोग (= एक ही बार भोगी जा सके ऐसी वस्तुएँ—जैसे
खान-पान, उबटन आदि) का परिमाण ।

चत्तारि सिक्खाव्रयाइं । तं जहा--सामाइर्यं । देसावगासियं ।
पोसहोववासे । अतिहिसंविभागे ।

चार शिक्षाव्रत (= अभ्यास सम्बन्धी व्रत) । यथा—
सामायिक (= समभाव की सम्पूर्ण साधना के लिये किया जाने
वाला नियत समय का अभ्यास) । दिशावकाशिक् (= नित्यप्रति

निवृत्ति की वृद्धि का अभ्यास) पाँपवोपवास (= आत्मभाव के पाषण के लिये आहार, अन्नहा आदि का नियत तिथियो में त्याग) और अतिथि के लिये विभाग (= अनिमग्नित संयमोजन अथवा साधर्मी बन्धुओं को अपने अनुग्रह के लिये, समयोपयोगी और जीवनोपयोगी स्व-अधिकृत सामग्री का भाग, आदर सहित देकर और सदैव सविभाग की भावानुवृत्ति से अकेले ही भोगने की भावना को दूर हटाने का अभ्यास) ।

अपच्छिमा मारणांतिया संलेहणाजूसणाराहणा । अयमाउसो !
अगारसामहए धम्मो पण्णत्ते ।

अन्तिम मरण रूप अन्तवाली और तप के द्वारा काया को कुश बनाने वाली क्रिया की सेवना और आराधना (= ज्ञानादि गुणों को विशेष रूप से पालना) । आयुष्यमान् । यह आगार-सामयिक (गृहस्थाचार) धर्म कहा गया है ।

[एयस्स] धम्मस्स सिक्खाए उवट्टिए समणोवासए वा समणो-
वासिया वा विहरमाणे आणाए आराहए भवति ।

‘इस धर्म की शिक्षा में उपस्थित श्रमणोवासक वा श्रमणो-
पासिका जीवन व्यतीत करते हुए आज्ञा के आराधक होते हैं ।’

सभा-विसर्जन

इएतए णं सा महइमहालिया* मणूसपरिसा

*महालिआ महच्चपरिसा'-त्ति टीकायाम् ।

समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा-णिसम्म
हट्ठतुट्ठ....जाव हियया उट्ठाए उट्ठेइ ।

तब वह विशाल मनुष्य-सभा, श्रमण भगवान् महावीर
के समीप घर्म को सुनकर—हृदय में धारणकर, हर्षित, सतुष्ट...
यावत् विकसित हृदय हुई और उठ खड़ी हुई ।

उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिवखुत्तो आयाहिणं
पयाहिणं करेइ । करेत्ता वंदइ णमंसइ ।

....श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिणा
प्रदक्षिणा की...वन्दना की और नमस्कार किया ।

वंदित्ता णमंसित्ता अत्थेगइया मुंडे भवित्ता अगाराओ अण-
गारियं पव्वइए । अत्थेगइया पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं
दुवालसदिहं गिहिधम्मं पडिवण्णा ।

... कई मुण्ड होकर गृहवास से निकलकर अनगार
श्रवस्था में आये और कइयो ने पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा
व्रत रूप बारह प्रकार के गृहिधर्म को स्वीकार किया ।

टिप्पण—तीन गुणव्रत को भी शिक्षाव्रत में गिन लेने के ये कारण
हो सकते हैं—कथन-संक्षेप, दोनों का उत्तरगुण होना, नियम रूप होना,
अभ्यास रूप होना आदि ।

अवसेसा णं परिसा समणां भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ ।
वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-

शेष परिषदा ने श्रमण भगवान् महावीर को वदना की-नमस्कार किया । . . फिर इसप्रकार बोली-

सुयक्खाए ते भंते ! णिगंथे पावयणे । एवं सुपण्णत्ते सुभा-
सिए सुविणीए सुभाविए अणुत्तरे ते भंते ! णिगंथे पावयणे ।

भते ! आपने निर्ग्रन्थ-प्रवचन सुन्दर रूप से कहा । इसीप्रकार सुप्रज्ञप्त (=विशेषता युक्त उत्तम रीति से कहा हुआ), सुभाषित (=सुन्दर भाषा से कहा हुआ), सुविनीत शिष्यो में उत्तम विनियोजित) सुभावित (=तत्त्व कथन उत्तम भाव युक्त बना हुआ) और अनुत्तर (=सर्वोत्तम) है । भते ! जड़-चेतन की ग्रन्थियो का मोचक है आपका उपदेश ।

धम्मं एं आइक्खमाणा तुब्भं उवसमं आइक्खह । उवसमं
आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह । विवेगं आइक्खमाणा वेर-
मणं आइक्खह । वेरमणं आइक्खमाणा अकरणां पावाणां
कम्माणां आइक्खह ।

आपने धर्म को व्याख्या करते हुए उपशम (=क्रोधादि के निरोध) का व्याख्यान किया । उपशम की व्याख्या करते हुए विवेक (=ब्राह्म परिग्रह या बहिर्भाव के त्याग) का स्वरूप कहा । विवेक की व्याख्या करते हुए विरमण (=मन की निवृत्ति अथवा निज स्वरूप में लौटने की प्रक्रिया) का कथन किया और विरमण की व्याख्या करते हुए पापकर्मों (=अशुभ भाव=आत्मा की मलिन अवस्था में गति) को नहीं करने का कहा ।

टिप्पण—पापों का अकरण, विरमण, विवेक और उपशम ये क्रियात्मक धर्म के प्रमुख अंग हैं। क्रियात्मक धर्म पापकर्मों के त्याग से प्रारम्भ होकर, उपशम में प्रतिष्ठित होता है।

णत्थि एां अणणे केइ समणे वा माहणेवा जे एरिसं धम्म-
माइक्खित्तए । किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं !

नहीं है अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण—जो ऐसा धर्म कह सके। तो फिर इससे श्रेष्ठ धर्म का उपदेश कौन दे सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूआ तामेव दिसं पडिगया ।

इस प्रकार कहकर, जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में वापिस गये।

कूणिक और रानियों का गमन

इति—तए एां कूणिए राया भंभसारपुत्ते समणस्स
भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्टतुट्ट....
जाव हियए उट्टाए उट्टेइ । उट्टाए उट्टित्ता समणां भगवं
महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिएां पयाहिएां करेइ करेत्ता वंदइ
णमंसइ । वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—सुयक्खाए ते
भंते ! णिगंथे पावयणे....जाव किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं ?—
एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए ।

तव भभसारपुत्र कूणिक राजा... ..वापिस गये ।

३७--तए णं ताओ सुभदापमुहाओ देवीओ सम-
णस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा-णिसम्म
हड्डतुड्ड...जाव हिययाओ...उट्टाए उट्टित्ता समणं भगवं
महावीरं तिकखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेन्ति । करेत्ता
वंदंति णमंसंति । वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-सुयक्खाए
ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे...जाव किमंग पुण इत्तो उत्तर-
तरं ? एवं वदित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूयाओ तामेव दिसिं
पडिगयाओ । समोसरणं सम्मत्तं ।

तव सुभद्रा आदि देविय्यां . . . वापिस गयी ।



समवसरण वर्णन समाप्त

श्रौपपातिक पृच्छा

३६—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ
महावीरस्स जेडे अंतेवासी इंदभूई नामं अणगारे गोयम-
गोत्तेणं

उसकाल और उस समय श्रमण भगवान् महावीर के
ज्येष्ठ शिष्य गौतम गौत्रिय इन्द्रभूति नाम के अनगार थे ।

सत्तस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वइरोसहनारायसंधयखे
कणगपुलगनिग्घसपम्हगोरे

वे सात हाथ ऊँचे थे । उनकी आकृति समचतुरस्र
सस्थान-सस्थित थी । उनकी देहयण्टि का बन्धन सर्वोत्तम
(=वज्र-ऋषभ-नाराच-सहनन) था । निकष (=सोने की
कसीटी का पत्थर) पर अङ्कित स्वर्णरेखा-सी पद्मगौर (=कमल
के गर्भ-सी गोरी) उनकी कान्ति थी ।

उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे (घोरतवे) उराले घोरे
घोरगुणे घोरतवस्सी

वे उग्र तपस्वी, दीप्त (=कर्मवन को जलाने के लिये
प्रदीप्त अग्नि के समान ज्वलित तेजोमय) तपस्वी, तप्ततपस्वी,

महातपस्वी, भीम (= भयानक), घोर, घोरगुणी और घोर-तपस्वी थे ।

टिप्पण—उग्र, दीप्त, तप्त और महा—ये तप के चार विशेषण दिये गये हैं । 'उग्र' पद तप में तल्लीनता का सूचक है । 'दीप्त' पद उनके तप की सार्थकता बतला रहा है । 'तप्त' पद उनके स्वयं की तपोरूपता का सङ्केत कर रहा है । अर्थात् वे इसप्रकार तपोरूप बन गये थे—जिस प्रकार कि तपा हुआ लोहे का गोला, जिससे वे अन्य के लिए अस्पृश्य—से हो गये थे । 'महा' विशेषण प्रशस्त वा बृहत् अर्थ में आया है । 'शोराले' अर्थात् 'भीम', किस प्रकार ?—अतिकष्टमय तप को करते हुए, समीपवर्ती अल्प सत्त्ववाले जीवों के लिये भयानक हो गये थे—(टी०) । अन्य इस पद का अर्थ प्रधान करते हैं । 'घोर' = १ परीषह-इन्द्रिय-कषायादि रिपुओं का विनाश करने में घृणा से रहित (-टी०) । = २ आत्म-निरपेक्ष = अपने आपके प्रति उदासीन (-अन्य) । 'घोरगुण' = अन्य से कठिनता से पाले जा सके, ऐसे मूलगुण आदि के धारक थे ।

घोरवंभचेरवासी उच्छ्रूढसरीरे संखित्तविउलतेयलेस्से सम-
णस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उडुंजाणू अहोसिरे
भाणकोट्टोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

घोर ब्रह्मचर्यवासी (=अल्पसत्त्ववाले जीवों के द्वाग मुश्किल से पालन हो सकने के कारण दारुण ब्रह्मचर्य वास के धारक), शरीर सस्कार के त्यागी, सक्षिप्त-विपुल (=शरीर के भीतर लीन—अनेक योजन प्रमाण क्षेत्राश्रित वस्तुओं को दग्ध करने में समर्थ होने से विस्तीर्ण) तेजोलेश्या (=लब्धि विशेष) के स्वामी वे श्रमण भगवान् महाघोर से न अधिक

नजदीक, न अधिक दूर, ऊर्ध्व जानु (=ऊँचे घुटने) और अधो-
शिर (=नीचे मुख) रखकर अर्थात् उत्कुटुकासन से बैठकर,
ध्यान रूपी क्रोष्ठ (=कोठे) में प्रवेश करके, समय और तप से
आत्मा को भावित करते हुए विचर रहे थे ।

टिप्पण-टीकाकार ने उत्कुटुकासन से बैठने का कारण बतलाया
है कि-‘शुद्ध पृथिवी और आसन का वर्जन तथा श्रीपग्रहिक निषद्या
(=मञ्चिकादि) का अभाव’ ।

तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊहल्ले,
उप्पणसड्ढे उप्पणसंसए उप्पणकोऊहल्ले, संजायसड्ढे
संजायसंसए संजायकोऊहल्ले, समुप्पणसड्ढे समुप्पणसंसए
समुप्पणकोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेइ ।

तव भगवान् गौतम में श्रद्धा (=इच्छा), संशय
(=अनिर्धारित अर्थ=शका), कुतूहल की प्रवृत्ति हुई उत्पत्ति
हुई, प्राप्ति हुई, मूर्तिमान् हुए । अतः उठकर खड़े हुए ।

टिप्पण-उत्पन्नश्रद्ध और जातश्रद्ध में क्या अर्थभेद है ?-कुछ
भी नहीं । तो फिर इनका प्रयोग क्यों किया गया है ?-हेतुत्व प्रदर्शन
के लिए । यथा-उत्पन्न श्रद्धत्व के कारण जातश्रद्ध हुए ।-(टी०)

अन्य कहते हैं-जिसे पूछने की इच्छा हुई उसे ‘जातश्रद्ध’ कहते
हैं । ‘जातश्रद्ध’ किस प्रकार हुए ?-जातसंशय होने के कारण । ‘संशय’
क्यों पैदा हुआ ?-पहले-‘किस प्रकार यह उपपात होता होगा ?’-यह
कुतूहल होने के कारण ।-यहाँ तक यह अवग्रह हुआ । इसी प्रकार उत्पन्न
सञ्जात-समुत्पन्न श्रद्धादि ईहा, अपाय और धारणा के भेद रूप से वाच्य
हैं ।-(टी०)

उट्टाए उठिता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेवे उवागच्छइ ।
 उवागच्छिता समणं भगवं महावीरं तिकखुत्तो आयाहिणं
 पयाहिणं करेइ । करेत्ता वंदइ । णमंसइ । वंदित्ता णमंसित्ता
 णच्चासणे णाडदूरे सुस्ससमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं
 पंजलिउडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी—

. जहा श्रमण भगवान् महावीर थे वहाँ आये. .। तीन
 वार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा की । वदना की । नमस्कार किया ।
 ...न अधिक सटकर-न अधिक दूर रहकर सुश्रूषा और नमस्कार
 करते हुए, अभिमुख होकर, करबद्ध होकर पर्युपासना करते
 हुए इस प्रकार वाले—

कर्म बन्धन

जीवे णं मंते ! असंजए अविरए* अप्पडिहयपच्चक्खाय-
 पावकम्मे सकिरिए असंजुडे एगंतदंडे एगंतवाले एगंतसुत्ते
 पावकम्मं अण्हाइ ?—हंता अण्हाइ ॥१॥

हे भन्ते ! जिसने समय नहीं साधा, प्राणातिपातादि
 से निवृत्ति नहीं की (=अविरत), वास्तविक श्रद्धान के द्वारा
 पाप कर्मों को हलके नहीं किये (अप्रतिहत), सर्वविरति
 (=सम्पूर्ण त्यागवृत्ति) से आते हुए पाप कर्मों को नहीं रोके,
 जो कायिकी आदि क्रिया से युक्त हैं, जिसने इन्द्रियो का

* 'असंजय-अविरय-अप्पडिहय....' इति टीकायाम् ।

निरोध नहीं किया, जो स्व-पर को सर्वथा पापकर्म से दण्डित करता है, सर्वथा मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यात्व निद्रा से विलकुल सुप्त है, वह जीव पापकर्म से लिप्त होता है क्या? -हाँ होता है।

टिप्पण—कुछ चिन्तकों की मान्यता है कि—जब जीव भोगयोनि में होता है तब वहाँ परवशता के कारण 'कर्मबन्ध नहीं करता है; किन्तु केवल पापकर्मों को भोगता ही है। कुछ ऐसे ही भाव से उत्पन्न हुई यह जिज्ञासा, इस प्रश्न के मूल में प्रतीत होती है कि—'क्या कर्मबन्ध के सभी कारणों के विद्यमान रहते हुए जीव अवन्धक हो सकता है?—यदि ऐसा होता हो तो संयतादि अवस्था भुक्ति के लिये अनावश्यक है? एक न एक दिन सम्पूर्ण कर्मों को भोग लेने के बाद जीव अनायास ही जन्म-मरण से परे हो जायगा।' यह शब्दा भगवान् के उत्तर से निर्मूल हो जाती है। असंयत आदि विशेषणों से युक्त जीव का, एक क्षण के लिये भी कर्म-बन्ध नहीं रहता।

अर्थ विकल्प—अविरत=विरति रहित। किस कारण असंयत है?—क्योंकि अविरत है—विरति से रहित है।—(टी०)

अथवा निन्दा द्वारा अतीतकालकृत पापों को प्रतिहत करना और अनागतकालभावी पापों को निवृत्ति से प्रत्याख्यात करना अर्थात् जिसने ऐसा किया हो वह प्रतिहत-प्रत्याख्यात है—और जिसने ऐसा नहीं किया हो वह 'अप्रतिहत-प्रत्याख्यात पापकर्म' है।—टी०

जीवे एां भंते ! असंजय-अविरय-अप्पडिहयपच्चक्खायपाव-कम्मे सकिरिए असंबुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते मोह-णिज्जं पावकम्मं अणहाइ ?—हंता अणहाइ ॥२॥

भन्ते ! जिसने संयम नहीं साधा.....जो एकान्त सुप्त

(=स्व-पर के हिताहित के भान से सर्वथा शून्य) है, वह मोहनीय पापकर्म बाँधता है ? -हाँ बाँधता है ।

टिप्पण—चारों गतियों में परिभ्रमण करानेवाला मोहनीय कर्म है । मोहनीय की तीव्रता-मंदता के अनुसार अशुभ-शुभ आयु का बंध होता है । आगे 'उपपात' के विषय में प्रश्न करेंगे-इसलिए उन प्रश्नों की 'उत्थानिका' के रूप में ये प्रश्न किये जा रहे हैं । जब मोहनीय कर्म मन्वतर मन्वतम दशा में पहुँच जाता है, तब आयुष्य कर्म का बन्ध, सबसे पहले ही रुक जाता है । अर्थात् तीव्र तीव्रतम मोह के बन्ध में पड़ा हुआ जीव, बेभान धनकर पुनः पुनः मदिरा पीनेवाले मद्यप के समान, असंयतादि अवस्था में रहकर, बार बार मोह-मदिरा का पान करता रहता है । जिससे उसके जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है ।

'बुष्कर्म का अनजान को कम दोष या अनजान निर्दोष'—यह मान्यता भी इस प्रश्न के उठने में कारण हो सकती है ।

जीवे णं भंते ! मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे किं मोहणिज्जं कम्मं बंधइ....? वेयणिज्जं कम्मं बंधइ ?—गोयमा ! मोहणिज्जंपि कम्मं बंधइ; वेयणिज्जंपि कम्मं बंधइ । णणत्थ चरिममोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे वेयणिज्जं कम्मं बंधइ; णो मोहणिज्जं कम्मं बंधइ ॥३॥

भन्ते ! जीव, मोहनीय कर्म को वेदता हुआ, क्या मोहनीय कर्म बाँधता है ?—क्या वेदनीय कर्म बाँधता है ?

—गौतम ! मोहनीय कर्म भी बाँधता है और वेदनीय कर्म को भी बाँधता है । किन्तु चरम मोहनीय कर्म को वेदता

हृआ वेदनीय (=सुखादि अनुभूति में कारण रूप) कर्म को बाधता है, मोहनीय (=वस्तुतत्त्व के विश्वास और आचार में भ्रान्ति पैदा कराने में कारण रूप) कर्म को नहीं बाधता है।

टिप्पण—जीव, सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान में, चरममोहनीय=लोभमोहनीय को सूक्ष्म किट्टिका रूप में वेदते हुए, वेदनीय को बाँधता है। क्योंकि वेदनीय के अन्धक सिर्फ अयोगी ही होते हैं और वह मोहनीय को नहीं बाँधता है। क्योंकि सूक्ष्मसम्पराय में स्थित जीव मोहनीय और आयुष्य को छोड़कर, छह प्रकृतियों का ही बन्धक होता है। कहा है—‘सत्तविहबन्धगा ह्येति पाणिणो आउवज्जियाणं तु । तह सुहमसंपराया छव्विहबन्धा विणिद्धिद्दा ॥ मोहाउयवज्जाणं पयडीणं ते उ बन्धगा भणिया ।’—टी०

वेदनीय और मोहनीय कर्म का बहुत निकट का सम्बन्ध है। वेदनीय कर्म, मोहनीय की उदयावस्था में प्रायः उसका पोषक हो जाता है और मोहनीय की उदयावस्था तक ही अघातिया कर्म का अशुभ रूप में बन्ध होता है अथवा मोहनीय कर्म का वेदन ही अघातिया कर्मों में शुभता-अशुभता का निमित्त बनता है। अघातिया कर्म ही भवोपग्राही कर्म हैं। इन भवोपग्राही कर्मों में से भी, मुक्त होने से कुछ क्षणों के पहले तक वेदनीय कर्म का ही बन्ध होता है। जिस भव में मोहनीय कर्म का क्षय होता है, उसी भव में वेदनीय कर्म भी क्षीण हो जाता है। अतः भव-परम्परा की वृद्धि में इस कर्मयुगल का बहुत बड़ा हाथ है। यही कारण है कि उपपात सम्बन्धी प्रश्नों की उत्थानिका के रूप में, अन्य कर्मों की वेदना और बन्ध के विषय में प्रश्न न करते हुए, इन्हीं के विषय में प्रश्न किया गया है।

असंयत....एकान्त सुप्त का उपपात

जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपाव-
कम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतत्राले एगंतसुत्ते
ओसण्णतसपाणघाई । कालमासे कालं किच्चा णिरइएसु
उववज्जइ ?-हंता उववज्जइ ॥४॥

भन्ते ! जिसने समय नहीं साधा... जो एकान्त सुप्त
है और जो बहुलता से अस प्राणियों का घातक है, वह जीव
काल के समय में काल करके क्या नैरयिको में उत्पन्न होता है?

-हां, होता है ।

जीवे णं भन्ते ! असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपाव-
कम्मे इओ चुए पेच्चा देवे सिया ?-गोयमा ! अत्थेगइया
देवे सिया । अत्थेगइया णो देवे सिया ।

भन्ते ! जिसने समय नहीं साधा, जिसने पापो से
निवृत्ति नहीं की, वास्तविक श्रद्धान के द्वारा पापकर्म को
हलके नहीं किये और सर्वविरति से आते हुए पापकर्मों को नहीं
रोके, वे जीव यहाँ से मरकर, दूसरे जन्म में क्या देव होते हैं ?

-गीतम ! कोई देव होते हैं, कोई देव नहीं होते ।

से केणट्टेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ-अत्थेगइया देवे सिआ, अत्थे-
गइया णो देवे सिआ ?-गोयमा ! जे इमे जीवा गामागर-
णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कव्वड-मडंन-दोणमुह-पट्टणासम-

संवाह-मणिवेसेसु अकामतएहाए अकामछुहाए अकामत्रंभ-
चेरवासेणं अकामअण्हाणगसीयायवदंसमसगसेयजल्लमल्लपंक-
परितावेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परि-
किलेसंति । अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परि-
किलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु
देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई, तहिं
तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते ।

भन्ते ! आप किस कारण से इस प्रकार कहते हैं कि—
कोई जीव देव होते हैं और कोई जीव देव नहीं होते ?

—गीतम ! जो ये जीव ग्राम, आकर, नगर, निगम,
राजधानी, खेड, कबंठ, मडब, द्रोणमुख, पट्टण, आश्रम, सवाह
और सन्निवेशो में, कर्मक्षयादि की इच्छा से रहित भूख-प्यास
के सहने से... ब्रह्मचर्य के पालन से ..अस्नान, शीत, आतप,
मच्छर, स्वेद (=पसीना), 'जल्ल' (=रज), 'मल्ल' (=सूखकर
कठोर बना हुआ मैल) और पङ्क (=पसीने से गीला बना हुआ
मैल) के परिताप से, थोड़े या बहुत काल तक, अपने आपको
क्लेश देते हैं । थोड़े-बहुत समय तक अपने को क्लेशित करके,
काल के समय में काल करके, वाणव्यन्तर देवलोक में से किसी
देवलोक में, देव रूप से उत्पन्न होते हैं । वहा उनका जाना,...
स्थित रहना और.. देव रूप से होना कहा गया है ।

टिप्पण—वेदनीय कर्म की तीव्र वेदना के कारण, मोहनीय कर्म

का वेदन मंद हो जाता है । जिससे देवायु का घन्व होता है । यथा-
इत्य वि समोहया मूढचेयणा वेयणाणुभवत्प्रिया ।

तमित्तचित्तकिरिया न सकिलिस्तति अन्नत्य ॥१५७॥

-तियंगु लोक में भी वेदनीय समुद्घात को प्राप्त हुए जीव, मूढ चेतनावाले और वेदनानुभव से खिन्न हो जाते हैं । अतः चित्त वेदना में ही लीन हो जाता है । अन्यत्र रागादि परिणाम को प्राप्त नहीं होता है ।

ता तिष्ठ्व राग दोसाभावे, वधो वि पयणुओ तेसि ।

सम्मोहओच्चिय तथा खओ वि णेगतमुक्कोसो ॥१५८

इस प्रकार तीव्र राग-द्वेष के अभाव में बंध भी हल्का होता है किंतु निमित्त की दुर्बलता के कारण क्षय भी उत्कृष्ट नहीं होता है ।

-आवकप्रज्ञप्त्याम् ।

तेसि णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ?-गोयमा !
दसवाससहस्साइं ठिई पएणत्ता ।

भन्ते ! उन देवों का आयुष्य, कितने काल का बतलाया गया है ।

-गौतम ! दस हजार वर्ष की स्थिति बतलाई गई है ।
अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं इड्डी वा, जुई वा, जसे इ वा, *
बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कारपरिक्कमे इवा ?-हंता
अत्थि ।

भन्ते ! उन देवों के ऋद्धि (=परिवारादि सम्पत्ति),
द्युति (=शरीर, आभरणादि की दीप्ति), यश (=ख्याति), बल

* उट्टाणे इ वा, कम्मे इवा-त्ति भवच्चित् ।

(=शारीरिक प्राण) वीर्य (=जीवप्रभव या जीव जनित प्राण),
पुरुषाकार (=पुरुषाभिमान=मर्दानगी) और पराक्रम (=हिंमत
भरी बहादुरी) है ?

-हाँ ! है ।

ते गं भन्ते ! देवा परलोगस्साराहगा ?-णो इणद्धे समद्धे ।५।

भन्ते ! क्या वे देव परलोक के आराधक है ?

-यह आशय सगत नहीं है अर्थात् वे परलोक के
आराधक नहीं है ।

बन्दी....आदि का उपपात

से जे इमे गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-
दोणमुह-पट्टणा-सम-संबाह-सण्णवेसेसु मणुया भवंति । तं
जहा-अंडुबद्धगा णियलबद्धगा हडिबद्धगा चारगबद्धगा
हत्थच्छिण्णगा पायच्छिण्णगा कण्णच्छिण्णगा णक्कच्छि-
ण्णगा उट्टच्छिण्णगा जिब्भच्छिण्णगा सीसच्छिण्णगा
● मुखच्छिण्णगा मज्झच्छिण्णगा वेकच्छिण्णगा ।

ये जो इन ग्राम, आकर.. .सन्निवेशो मे मनुष्य होते है ।
यथा-अन्दुक (=लोहे या काठ के बन्धन विशेष) से जिनके
हाथ पैर जकड़े हुए हैं, बेडियो से जकड़े हुए, खोड़े मे फँसे हुए,

● मुखच्छिण्णगा-अपि वृद्धयते ।

अन्धकारमय कारागार में पड़े हुए, (सजा आदि के कारण) छिदे हुए हाथ, पैर, कान, नाक, होठ, जीभ, शीश, गलघण्टिका (=मुख=टेंटुआ), कमर या उदर श्रीर जनेऊ के स्थलवाले (=या जनेऊ के आकार में छिदे हुए अगवाले),

हियउप्पाडियगा णयणुप्पाडियगा दसणुप्पाडियगा वमणु-
प्पाडियगा गेवच्छिण्णगा तंडुलच्छिण्णगा

जिनके हृदय का मांस नोच लिया गया हो, जिनके नेत्र उखाड़ लिये गये हो, जिनके दात उखड़वा लिये हो, जिनके अण्डकोश उखाड़े गये हो, जिनके गले के अवयव छेद दिये गये हो, जिसके मांस के चाँवल के दाने के बराबर टुकड़े किये गये हो—ऐसे व्यक्ति,

कागणिमंसक्खाइयया ओलंविष्या* लंविषयया घंसियया
घोलियया फाडियया पीलियया^x सूलाइयया सूलभिएणगा

जिसे उसकी देह से ही कोमल मांस उखाड़-उखाड़कर खिलाया गया हो, जो रस्सी से बान्धकर खड़े में लटकाये गये हो, जो भुजाओं से वृक्ष की शाखा पर बांधे गये हों, जो (चन्दन के समान) धीसे गये हो, जो (दधिघट या पट के समान) घोलित (=मर्था गया) हुए हों, जो (लकड़ी के समान) कुठार से फाड़ गये हों, जो (इक्षु के समान) यन्त्र में पीले

* उल्लविषया—अपि वृ० ।

x टीकाया पाठान्तरे निर्दिष्टमिदम् ।

गये हों, जो शूली पर चढाये गये हों. जो शूल से भिन्न हो गये हों, ऐसे व्यक्ति,

खारवत्तिया वज्भवत्तिया सीहपुच्छियया

जिस पर क्षार डाला गया हो या जो क्षार में फँके गये हो, जो गीले चमड़े से बाँधे गये हो, जिन्हे सिंहपुच्छ-से कर दिये गये हो, ऐसे व्यक्ति

टिप्पण—‘सिंहपुच्छ’ यहाँ उपचार से ‘पुच्छ’ शब्द से ‘मेहन’ (=लिंग) का ग्रहण किया गया है। मंथुन से निवृत्त सिंह का मेहन, अति आकर्षण के कारण कदाचित् टूट जाता है। इस प्रकार किसी अपराध में राजपुरुष अपराधी के मेहन को तोड़ देते हैं, उसे ‘सिंहपुच्छिन’ कहते हैं अथवा हलक से लगाकर पुत्रप्रदेश तक की चमड़ी उधेड़ कर सिंहपुच्छा-कार कर दी जाती है उसे...। (-टी०)

दवग्गिदड्डुगा पंकोसन्नगा पंकेखुत्तगा वल्लयमयगा वसड्ड-
मयगा णियाणमयगा अतोसल्लमयगा गिरिपडियगा तरुपडि-
यगा मरुपडियगा⁺ गिरिपक्खंदोलिया‡ तरुपक्खंदोलिया
मरुपक्खंदोलिया

दावाग्नि से जले हुए, कीचड़ में डूबे हुए, कीचड़ में फँसे हुए, समय से भ्रष्ट बनकर या भूख आदि परीषहों से घबराकर मरे हुए, विषय-सेवन में परतन्त्र होने से पीड़ित होकर मरे हुए

+ भरपडियगा—त्ति क्व० ।

‡ ...पक्खंदोलिया—त्ति क्व० ।

या हरिण के समान शब्दादि विषयो में लीन बनकर मरे हुए, निदान करके मरे हुए, (बाल तपस्वी आदि), भावगत्य को या मध्यवर्ती भल्लि आदि शल्य को निकाले बिना ही मरे हुए, पर्वत से गिरकर या महापाषाण के गिरने से मरे हुए, वृक्ष से गिरकर या वृक्ष के गिरने से मरे हुए, निर्जल प्रदेश में जा पडने वाले, पर्वत से ऋषापात करके मरने वाले, वृक्षों से ऋषापात करके मरने वाले, महभूमि की रेती में गिर कर मरने वाले, जलपवेसिगा जलणपवेसिगा विसभक्खियगा सत्थोवाडियगा वेहाणसिया गिद्धपिट्ठगा कंतारमयगा दुब्भक्खमयगा

जल में प्रवेश करके मरनेवाले, अग्नि में प्रवेश करनेवाले, विष भक्षण करनेवाले, शस्त्र से अपने आपको विदारनेवाले, गले में फाँसी लगाकर या तरुशाखादि आकाश में उछलकर मरनेवाले, किसी के मरे हुए कलेवर में प्रवेश करके गृद्ध पक्षियों की चोंचों से मरनेवाले, जगल में जोर दुर्भिक्ष में मरने वाले,

असंकलिद्धपरिणामा ते कालमासे कालं किञ्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तर्हि तेसिं गई, तर्हि तेसिं ठिई, तर्हि तेसिं उववाए पएणत्ते ।

यदि ये व्यक्ति सक्लिष्ट परिणाम (=महा आर्त-रौद्र ध्यान) वाले न हो तो काल के समय काल करके, वाणव्यंतर के देवलोक में से किसी देवलोक में देव रूप से उत्पन्न होते हैं। वहा उनकी गति, स्थिति और उत्पत्ति कही गई है।

तेसि णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पणत्ता ? -गोयमा !
बारसवाससहसाइं ठिई पणत्ता ।

भन्ते ! वहा उनकी कितनी स्थिति है ? -गीतम !
बारह हजार वर्ष की ...।

अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं इड्डी वा जुई वा जसे इ वा
बले इ वा वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरिक्कमे इ वा ? -हंता
अत्थि । ते णं भंते ! देवा परलोगस्साराहगा ? -णो इण्ढे,
समढ्ढे ॥६॥

भन्ते उन देवों के ऋद्धिपराक्रम है ? -हा है ।
भन्ते ! वे देव, परलोक के आराधक है ? -यह आशय सगत,
नही है ।

भद्रप्रकृतिवाले आदि...का उपपात

से जे इमे गामागर-णायर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-
दोणमुह-पट्टणासम-संबाह-सरिणवेसेसु मणुया भवंति

ये जो ग्राम, आकर .में मनुष्य होते हैं ।

तं जहा-पगइभद्गा पगइउवसंता पगइपयणु कोह-माण-माया-
लोहा मिउ-मद्दव-संपणणा अल्लीणा * विणीया, अम्मापिउ-
सुस्ससगा अम्मापिईणं अणतिककमणिज्जवयणा, अप्पिच्छा

* आलीणा-त्ति पा. । भद्गा-इत्यधिकम् क्व. ।

अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा, अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं समारं-
भेणं अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिं कप्पेमाणा बहुदं वासादं
आउयं पालंति ।

यथा—स्वभाव से ही भद्र अर्थात् परोपकार करनेवाले, स्वभाव से ही शान्त, स्वभाव से ही धणिक या हलके क्रोध, मान, माया और लाभवाले, कोमल—ग्रहद्वार रहित स्वभाव-वाले, गुरुजनों (=बडों) के आश्रित, विनोत, माता-पिता के सेवक, माता-पिता के वचनों का उल्लंघन नहीं करनेवाले, अल्प इच्छावाले, अल्प आरम्भ (=कृपि आदि रूप पृथिवी आदि जीवों का उपमर्दन) वाले, अल्प परिग्रह (=धन धान्यादि का स्वीकार) वाले, अल्प आरम्भ (=जीवों का विनाश) अल्प समारम्भ (=जीवों को परित्यापित करना) और अल्प आरम्भ-समारम्भ से जीविका उपार्जन करनेवाले बहुत वर्षों की आयु व्यतीत करते हैं ।

पालित्ता कालमासे कालं किञ्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु
देवलोएसु देवत्ताए उव्वत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई, तहिं
तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उव्वत्ताए पण्णत्ते । तेसिं णं भंते ! देवाणं
केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? —गोयमा ! चउहसवास
सहस्साइं ॥७॥

आयुष्य व्यतीत करके, काल के समय में काल करके, वाणव्यतर के किसी देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं....

गौतम ! उनकी चौदह हजार वर्ष की स्थिति है ।

गतपतिका (प्रेषित भर्तृका) आदि का उपपात

से जाओ इमाओ गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-
कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संबाह-सन्निवेशेसु इत्थियाओ
भवन्ति

—ये जो ग्राम...सन्निवेशो में स्त्रियां होती हैं ।

तं जहा—अंतो अंतेउरियाओ, गयपइयाओ मयपइयाओ
बालविहवाओ छड्डियल्लिओ माइरक्खियाओ पियरक्खियाओ
भायरक्खियाओ कुलघरक्खियाओ[†] ससुरकुलरक्खियाओ

जैसे—जो अन्त.पुर में रहती हो, जिनके पति परदेश
चले गये हो, जो बाल विधवा हो, जिन्हे पतियों ने छोड़ दिया
हो, जो माता, पिता या भाई से रक्षित हो, जो कुलगृह
(=पीहर=नेहर) या श्वशुरकुल (=सुसराल) से रक्षित हो

परूढ-णह-केस-कक्ख-रोमाओ • ववगय-पुप्फगंधमल्लालंका-
राओ अण्हाणगसेयजल्लमलपंक्कपरितावियाओ ववगयखीर-
दहिणवणीयसप्पित्तेल्लगुल्लोणमहुमज्जमंसपरिचत्तकयाहाराओ

(विशिष्ट सस्कार के अभाव के कारण) जिनके नख,
केश और कांख के बाल बढ गये हो, जो फूल, गंध, माला और

[†] मित्तनाइ नियय संबधि रक्खियाओ—त्ति व्व. ।

• परूढ-णह-केस-मसु-रोमाओ—त्ति पा० ।

अलङ्कारो से दूर रहती हो, जो अस्नान, स्वेद, रज, मल और पङ्क (=पसीने से गीले हुए मैल) से परितापित हों, जो दूध, दही, मक्खन, घी, तैल, गुड और नमक से रहित तथा मधु, मद्य और माम मे रहित आहार का सेवन करती हों,

अपिच्छाओ अप्पारंभाओ अप्पपरिग्गहाओ, अप्पेणंआरंभेणं, अप्पेणं समारंभेण, अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिं कप्पेमाणीओ, अकामवंभचेरवासेणं तामेव पडसेज्जं णाड्कमड् ।

जिनकी इच्छाएँ अल्प हो, जो अल्प हिमावाली हो, जिनका परिग्रह (=धनादि का सञ्चय या स्वीकार) अल्प हो और जो अल्प आरम्भ (=हिंसा), अल्प समारम्भ (=परिताप) और अल्प आरम्भ-समारम्भ से वृत्ति (=आजीविका) करने वाली हो, ऐसी स्त्रिया अकाम (=निर्जरा की इच्छा के बिना) ब्रह्मचर्य के पालन से उसी पति की शय्या का अतिक्रमण नहीं करती है अर्थात् अकाम ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई रहती है, किन्तु उपपति नहीं करती हैं।

ताओ णं इत्थिआओ एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणीओ...
सेसं तं चेव जाव चउसद्धिवाससहस्साइं ठिई पणत्ता ॥८॥

वे स्त्रिया इम प्रकार की चर्या से जीवन व्यतीत करती हुई. शेष उसी तरह यावत् चौंसठ हजार वर्ष की स्थिति .. है ।

द्वि द्रव्य भोजी आदि का उपपात

से जे इमे गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-

दोणमुह-पट्टणासम-संवाह-संनिवेसेसु मणुआ भवन्ति । तं
जहा-दगविइया दगतइया दगसत्तमा दगएकारसमा

ये जो. ..मनुष्य होते हैं । जैसे-उदकद्वितीय (=ओदन
द्रव्य की अपेक्षा से दूसरा द्रव्य जल अर्थात् एक भात और
दूसरा जल ऐसे दो द्रव्य के भोजी), उदकतृतीय (=ओदन
आदि दो द्रव्य और तीसरा जल के भोजी), उदकसप्तम
(=ओदन=भात आदि छह द्रव्य और सातवे जल के भोजी),
उदकएकादश (=भात आदि दस द्रव्य और ग्यारहवे जल के
भोजी)

गोयमा गोव्वइया गिहिधम्मा धम्मचित्ता अविरुद्धविरुद्ध-
वुद्धसावकप्पभियत्रो

यहाँ गौतम शब्द का अर्थ है बैल से आजोविका करने-
वाले), गौत्रतिक (=गाय से सम्बन्धित व्रतवाले), गृहधर्मी,
धर्मचिन्तक (=वर्मशास्त्र पाठक), अविरुद्ध (=वैनयिकभक्ति-
मार्गी), विरुद्ध (=प्रक्रियावादी), वृद्धश्रावक (=ब्राह्मण)
अथवा वृद्ध (=तापस) और श्रावक (=ब्राह्मण) प्रभृति-

टिप्पण-पैरों में पड़ने आदि विचित्र शिक्षा से शिक्षित और जन
के चित्ताक्षेप में दक्ष, छोटे बैल के द्वारा भिक्षाटन करनेवाले को 'गौतम'
कहते हैं ।-टी०

गाय से सम्बन्धित व्रत के करनेवाले को 'गौत्रतिक' कहते हैं । वे
गायों के ग्राम के बाहर निकलने पर बाहर निकलते हैं, चरने पर चरते
हैं, पीने पर पीते हैं, आने पर आते हैं और सोने पर सोते हैं । कहा है-

गावीर्हि समं निगम-पवेस-सयणासणाद् पकरंति ।

भुजति जहा गावी, तिरिक्खवास विहाविता ॥-टी०

गृहस्यधर्म ही श्रेष्ठ है—ऐसा विचार करके देव, प्रतियि आदि के लिये दानादि रूप गृहस्यधर्म का अनुगमन करनेवाले को 'गृहधर्म' कहते हैं ।-टी०

अविरुद्ध=वैनयिक (=देवादि का विनय करनेवाला) । कहा है—

अविरुद्धो विणयकरो, देवाईणं पराए भत्तीए ।

जह वेसियायणसुओ, एव अन्नेऽवि नायव्वा ॥

वृद्ध अर्थात् तापम । वृद्धकाल (=पुरातन काल में) दीक्षा लेने के कारण श्रीर आदिदेव के काल में सकल लिंगियों में पहले उत्पन्न होने के कारण तापसों को 'वृद्ध' कहा गया है—टी०

धर्मशास्त्र को श्रवण करने के कारण ब्राह्मणों को श्रावक कहा गया है अथवा वृद्ध शब्द को श्रावक का विशेषण मान लिया जाय तो भी 'बुद्धसावय' (=पुराने श्रावक) का अर्थ ब्राह्मण ही होगा ।-(टीका०)

तेसिं मणुयाणं णो कप्पइ इमाओ नव रसविगईओ आहारित्तए । तं जहा-खीरं दहिं णवणीयं मप्पि तेह्लं फाणियं महं मज्जं मंसं । णएणत्थ एककाए सरिसवविगईए । ते णं मणुया अप्पिच्छा....तं चैव सव्वं । णवरं चउरासीइ वास-सहस्साइं ठिई पएणत्ता ॥६॥

उन मनुष्यों के ये नव विकृतियाँ खाने का कल्प नहीं है । यथा—दूध, दही, मक्खन, घी, तैल, गुड (=फाणित), मधु (=शहद), मद्य (=शराब) और मास । इन में से एक सरसों का तैल छोड़कर । वे मनुष्य अल्प इच्छा वाले....शेष सब

पूर्ववत् । केवल स्थिति चौरासी हजार वर्ष की है ।

टिप्पण—‘तं चैव सच्च’ पद से ‘अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं समारंभेण अप्पेण आरंभसमारंभेणं वित्ति कप्पेमाणा बहुइं वासाइ आऊयं पालंति । पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति । तंहि तेसि गती ’ आदि वाक्यों का संक्षेपीकरण समझना चाहिए । अर्थ पूर्ववत् ।

वानप्रस्थ तापसों का उपपात

से जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति । तं जहा-
होत्तिया पोत्तिया कोत्तिया जण्णई

वे जो ये गंगा के किनारे रहनेवाले वानप्रस्थ (=वन-
वासी) तापस होते हैं । जैसे -होत्रिक (=अग्निहोत्र करनेवाले),
वस्त्रधारी, कौत्रिक-भूमिशायी (=भूमि पर सोनेवाले), यज्ञयाजी
(=याज्ञिक=यज्ञ करनेवाले),

सड्ढई थालई हुंवउट्टा + दंतुक्खलिया उम्मज्जगा संमज्जगा
निमज्जगा संपक्खालगा

श्रद्धा करनेवाले, पात्र रखनेवाले या त्पपरधारी,
कुण्डिकाधारी, फलभोजी, एक बार पानी में डूबकी लगा कर
स्नान करनेवाले (=उन्मज्जक), सन्मज्जक (=उन्मज्जन के
बार बार करने से स्नान करनेवाले), निमज्जक (=पानी में
कुछ देर तक डूब कर स्नान करनेवाले), सप्रक्षालक (=मिट्टी

श्रादि के द्वारा रगडकर अंगों को घोनेवाले),

दक्खिणकूलगा उत्तरकूलगा संखधमगा कूलधमगा मियलु-
द्धया^० हत्थितावसा

गगा के दक्षिण के किनारे पर ही रहनेवाले, गगा के उत्तरी किनारे पर ही रहनेवाले, शख घमकर भोजन करनेवाले, किनारे पर स्थित हांकर शब्द करके भोजन करनेवाले, मृगलु-
व्वक, हस्तितापस (=हाथी को मारकर, उसके भोजन से बहुत काल व्यतीत करनेवाले) ।

उडंडगा दिसापोकखिणो वक्कवासिणो (अंबुवासिणो विल-
वासिणो) * चेलवासिणो^x जलवासिणो रुक्खमूलिया

डण्डे को ऊंचा रखकर फिरनेवाले, दिशाओ की तरफ पानी छीट कर फूल-फलादि चुननेवाले, वल्कलधारी (अम्बु-
वासी ? बिलवासी), वस्त्रधारी, जल में ही रहनेवाले, वृक्ष के मूल में रहनेवाले,

अंबुभक्खिणो वाउभक्खिणो सेवालभक्खिणो मूलाहारा -कंदा
हारा तथाहारा पत्ताहारा पुप्फाहारा वीयाहारा परीसडियकंद
मूल-तय-पत्त-पुप्फ-फलाहारा(जलाभिसेयकट्टिणगायभूया)⁺

● मिंगलुद्धका-त्ति पा.

* टीकायां न दृश्यते पदद्वयम् ।

x चेलवासिणो-त्ति पा. ।

+ जलाभिसेयकट्टिणगायभूया-त्ति पा. ।

मात्र जलभक्षक, वायुभक्षक, शैवाल (=काँई=सेवार) भक्षक, मूलाहारी, कदाहारी, त्वक् (=छाल) आहारी. पत्राहारी, पुष्पाहारी, बीजाहारी, सडे हुए या गिरे हुए या किसी के द्वारा छोड़े गये कद, मूल, छाल, पत्र, फूल और फल का आहार करनेवाले, बिना स्नान किये भोजन नहीं करनेवाले (-टी) या स्नान के कारण सफेद बनी हुई देहवाले (वृद्धा.)'

आयावणाहिं पंचगितावेहिं इंगालसोल्लियं कंडुसोल्लियंपिव कट्टसोल्लियंपिवां अप्पाणं करेमाणा वहुइं वासाइं परि-यायं पाउणंति । वहुइं वासाइं परियायं पाउणित्ता, कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति ।.....पल्लिओवमं वाससयसहस्समब्भहिंअं ठिई..... आराहगा ?-णो इणट्ठे समट्ठे ॥१०॥

और पञ्चाग्नि की आतापना के द्वारा अपने आपको अंगारो से पका हुआ-सा, भाड में भुना हुआ-सा... करते हुए, बहुत वर्षों तक उस अवस्था को पाकर के, काल के समय में काल करके उत्कृष्ट रूप से ज्योतिषी देवों में देवरूप से उत्पन्न होते हैं ।. पल्योपम और एकलाख वर्ष अधिक की स्थिति....ये परलोक के आराधक नहीं हैं ।

प्रव्रजित श्रमण (कान्दर्पिक आदि) का उपपात

से जे इमे....जाव सन्निवेसेसु पव्वइया समणा भवंति । तं

† नास्ति टीकायामिदं पदम् ।

जहा-कंदप्पिया कुक्कुइया मोहरिया गीयरइप्पिया नच्चण-
सीला । ते णं एणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं
सामएणपरियायं पाउणंति ।

ये जो . सन्निवेशो में प्रवृजित श्रमण (=निर्गन्थ) होते
हैं। जैसे-हास-परिहास करनेवाले (=कान्दर्पिक), भांड के समान
चेष्टा को करते हुए स्वयं हँसकर दूसरो को हँसानेवाले (=कौकु-
चिक), उटपटाग वृथा बोलनेवाले (=मीखरिक), गीत के साथ
रमणक्रीड़ा जिसे प्रिय हो या गीतरतिवाले लोक जिसे प्रिय हो
ऐसे श्रमण (=गीतरतिप्रिय) और अस्थिर जीलाचारवाले या
नर्तनशील । वे, ऐसी चर्चा से काल व्यतीत करते हुए, बहुत
वर्षों तक श्रामण्यपर्याय को पालते हैं ।

बहूइं वासाइं सामएण परियायं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स
अणालोइअ-अप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं
सोहम्मै कप्पे कंदप्पिए देवेषु देवत्ताए उववत्तारो भवंति ।
तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई...-सेसं तं चेत्र । एवरं पत्ति-
ओवमं वाससयसहस्स मब्भहियं ठिई ॥११॥

. उस स्थान की (=अतिचार-दोष सेवन की) आलो-
चना प्रतिक्रमण (=उनको दोष रूप से मानकर पश्चाताप)
किये बिना ही, काल के समय में कालकर के, उत्कृष्ट सौधर्म-
कल्प (=पहले देवलोक) में कान्दर्पिक देवों में उत्पन्न होते हैं ...
एक लाख वर्ष अधिक एक पत्योपम की स्थिति होती है ।

परिव्राजकों का उपपात

से जे इ मे...जाव सन्निवेसेसु परिव्वायगा भवंति । तं जहा-
संखा जोई कविला भिउच्चा

ये जो .. सन्निवेसो में परिव्राजक होते हैं । यथा—साख्य (=बुद्धि-अहङ्कारादि तत्त्वो को माननेवाले और प्रकृति और पुरुष दोनो को जगत्कारण माननेवाले), योगी (=अध्यात्म शास्त्र के अनुष्ठायी), कापिल (=निरीश्वर साख्य), भार्गव,

टिप्पण—साख्य और योगियों का तत्त्वज्ञान समान हैं । अन्तर केवल इतना ही है कि साख्य तत्त्वज्ञान पर अधिक जोर देते हैं और योगी अनुष्ठान पर । साख्य को कुछ लोग निरीश्वरवादी मानते हैं तो कुछ लोग ईश्वरवादी । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें दोनों प्रकार के मतवादी थे । जो निरीश्वरवादी थे वे कापिल कहलाते थे ।

जो सृष्टि के कारण रूप से अनादिसे निर्लिप्त पुरुष विशेष को मानते हैं, वे ईश्वरवादी और सृष्टिकर्ता रूप से ईश्वर को मानने से इन्कार करते हैं वे निरीश्वरवादी कहलाते हैं ।

भृगुऋषि के शिष्य भार्गव कहलाते हैं ।

हंसा परमहंसा बहुउदया कुडिन्वया कएहपरिव्वायगा ।

(चार प्रकार के परिव्राजक यति) हंस (=पर्वत की गुफा, आश्रम, देवकुल आदि में रहनेवाले और भिक्षार्थ ग्राम में प्रवेश करनेवाले परिव्राजक), परमहंस (=वे परिव्राजक यति जो नदी के पुलिनो (=किनारो) पर या समागम प्रदेशों में रहते हो और चीर, कौपीन और कुश का त्याग करके प्राण

छोड़ते हो), बहूदक (=गाव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात तक वास करते हुए, अपने योग्य प्राप्त सामग्री का उपयोग करते हुए विचरण करनेवाले परिव्राजक यति), कुटीचर (=वे जो घर में रहते हुए क्रोध, लोभ और मोह से दूर रहकर, अहङ्कार का त्याग करते हैं) और कृष्ण परिव्राजक (=नारायण भक्त परिव्राजक विशेष) ।


तत्थ खलु इमे अट्ठ माइणपरिव्वायगा भवंति । तं जहा-
कण्हे य करकंडे य, अंबडे य परामरे ।
कएहे दीवायणे चैव, देवगुत्ते य णारए ॥

उन (परिव्राजकों) में ये आठ (जाति के) ब्राह्मण परिव्राजक होते हैं । यथा—१ कृष्ण, २ करकण्ड, ३ अम्बड, ४ पाराशर, ५ कृष्ण, ६ द्वीपायन, ७ देवगुप्त और ८ नारद ।

तत्थ खलु इमे अट्ठ खत्तियपरिव्वायया भवंति । तं जहा-
सीलई ससिहारे (य), णग्गई भग्गई ति य ।
विदेहे रायाराया, रायारामे वल्लेति अ ॥

उनमें ये आठ क्षत्रिय परिव्राजक होते हैं । यथा—
१ सीलई (=शीलजित्), २ ससिहार (=शशिचर), ३ नग्गई,
४ भग्गई, ५ विदेह, ६ रायाराय ७ रायाराम और ८ वल ।

टिप्पण—इन सोलह जाति के परिव्राजकों का वर्णन कहीं देखने में नहीं आया । टीकाकार ने भी 'लोकतोऽवसेया' कहकर, व्याख्या नहीं की है ।

ते णं परिव्वायगा रिउव्वेय-जजुव्वेय-सामवेय-अहव्वणवेय
इतिहासपंचमाणं शिग्घंढुच्छ्वाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं
चउण्हं वेयाणं सारगा पारगा धारगा *


वे परिव्राजक ऋजु, यजु साम, अथर्वण, पांचवाँ
इतिहास (=पुराण) और छट्ठे निघण्टु (=नाम कोश) रूप
अगोपाग और रहस्य सहित चारों वेदों के सारग (=अध्यापन
के द्वारा प्रवर्तक या दूसरों को याद करवाने के कारण स्मारक),
पारग (=अन्त तक पहुँचने वाले) और धारग (=धारण करने
में समर्थ) थे । (क्वचित् वारग=भ्रष्ट उच्चारण आदि के
वारक) ।

सडंगवी सट्टितंतविसारया संखाणे सिक्खाकप्पे वागरणे छंदे
णिरूत्ते जोतिसामयणे अण्णोसु य बहूसु बंभण्णएसु + य सत्थेसु
सुपरिणिट्ठिया यावि हुत्था ।

शिक्षा (=अक्षर-स्वरूप निरूपकशास्त्र), कल्प (=तथा-
विध आचार निरूपक शास्त्र), व्याकरण, छन्द, निरुक्त
(=शब्दों की निरुक्ति प्रतिपादक शास्त्र) और ज्योतिष् शास्त्र
इन वेदों के छह अगों के ज्ञाता (=शडगविद्) षष्ठितत्र (=कापि-
लीय तन्त्र) के पण्डित और गणित (=सखाण) तथा और भी
वेद के व्याख्यान रूप ब्राह्मण सम्बन्धी शास्त्रों में पूर्ण रूप से

* वारगा-त्ति क्व० ।

+ परिव्वाएसु य नएसु-त्ति णा० ।

निष्णात थे ।

ते एां परिष्वायगा दाणधम्मं च सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं
च आघवेमाणा पएणवेमाणा परूवेमाणा विहरंति ।

वे परिव्राजक दानधर्म, शीचधर्म (=स्वच्छता रूप
धर्म) और तीर्थाभिषेक (=तीर्थस्नान) का कथन करते हुए,
समझाते हुए प्रतिपादन करते हुए विचरते थे ।

जणं अम्हे किञ्चि अस्सुई भवइ, तणं उदएण य मट्टियाए
य पक्खालियं सुई भवइ ।

'जो हमें किञ्चित् भी अशुचि होती है तो उसे जल
ओर मिट्टी से धोकर पवित्र हो जाते हैं ।

एवं खलु अम्हे चोक्खा चोक्खायारा, सुई सुइसमायारा
भवेत्ता, अभिसेयजलपूअप्पाणो अविग्घेणं सगं गमि-
स्सामो ।

'इस प्रकार हम स्वच्छ (=विमल देह और वेशवाले)
ओर स्वच्छ (=विमल) आचारवाले-शुचि (=पवित्र)
ओर शुचि आचारवाले होकर, जलद्वारा अभिषेक (=स्नान)
से पवित्र आत्मा बनकर, निर्विघ्न स्वर्ग में जायेंगे' ।

तेसि एां परिष्वायगाणं णो क्कप्पइ-अगडं वा तलायं वा
नइं वा वाविं वा पुक्खरिणिं वा दीहियं वा गुंजालिअं वा
सरं वा⁺ सागरं वा ओगाहित्तए । णण्णत्थ अद्वाणगमणे ।

उन् परिव्राजको का, मार्ग में गमन के सिवाय, कूप, तालाब, नदी, बावडी, पुष्करिणी (=कमलों से भरा हुआ गोलघाटबन्ध जलाशय), दीर्घिका (=सारणी), गुञ्जालिका (=एक तरह की बावडी =वक्रसारणी), सर और सागर में प्रवेश करने का कल्प नहीं है ।

णो कप्पइ सगडं वा.....संदमाणिअं वा दूरुहिता णं गच्छि-
त्तए ।

कल्प (=आचार) नहीं है—गाडी...यावत् डोली में चढ़कर चलने का ।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ-आसं वा हत्थि वा उट्टं
वा गोणि वा महिसं वा खरं वा दूरुहिता णं गमित्तए ।

उन परिव्राजको का कल्प नहीं है—घोड़े, हाथी, ऊँट, बैल, भैसे और गधेपर सवार होकर चलने का ।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ-नडपेच्छा इ वा....जाव
मागहपेच्छा इ वा पिच्छित्तए ।

उन...का कल्प नहीं है, नटप्रेक्षा (=नट के अभिनय)....
मागधप्रेक्षा देखने का ।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ-हरियाणं लेसण्या वा
घट्टण्या वा थंभण्या वा* उप्पाडण्या वा करित्तए

* लूसण्या वा-त्ति इव ।

उनका ..कल्प नहीं है—वनस्पति को परस्पर मिलाने या मसलने, इकट्ठी करने, ऊँची करने और उखाड़ने का ।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ- इत्थिकहा इ वा भत्तकहा इ वा देसकहा इ वा रायकहा इ वा चोरकहा इ वा अणत्थ-दंडं करित्तए ।

उन. .का कल्प नहीं है—स्त्रीकथा, भातकथा, देशकथा, राजकथा और चोरकथा—जिनसे कि स्व-पर को क्लेश हो ऐसी निरर्थक कथाएँ करने का ।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ-अयपायाणि वा तउय-पायाणि वा तंबपायाणि वा जसदपायाणि वा सीमगपायाणि वा रूपपायाणि वा सुवणपायाणि वा अणघराणि वा बहुमुल्लाणि वा धारित्तए । णणत्थ लाउपाएण वा दारु-पाएण वा मट्टिआपाएण वा ।

. तुम्बे, लकड़ी और मिट्टी के पात्रों के सिवाय, लोहे, त्रपुक (=कथीर), ताम्ब, जसद, शीशे, चादी और सोने के पात्र रखने का कल्प नहीं है ।

टिप्पण—टीकानुसार निम्नलिखित पाठ होना संभव है—'तेसि णं कप्पइ-अय पायाणि वा...जाव अणयराणि वा तहप्पगाराणि महद्ध मोल्लाहं धारित्तए । णणत्थ अलावुपाएण. ।' जाव करण से निम्न विशेषण-वाले पात्र ग्रहण किये गए हैं—'त्रपुकसीसकरजतजातरूपकाचवेडन्तियवृत-लोहकंसलोहहारपुट्ठकरीतिका मणिशखदंतचर्मशैलशब्दविशेषितानि पात्राणि दूश्याणि ।' जातरूप=स्वर्ण । वृतलोह=त्रिकुठी । कसलोह=कांसा । हारपु-

टक=मोती के सीप के पुट । रीतिका=पीतल ।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ-अयबंधणाणि वा तउय-
बंधणाणि वा तंबबंधणाणि....जाव बहुमुल्लाणि धारित्तए ।

उनके....लांहे के बन्धन, कथीर के बन्धन, ताम्बे के बन्धन....यावत् किसी भी प्रकार के बहुमूल्य बन्धनवाले (पात्र) रखना नहीं कल्पता है ।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ णाणाविहवणराग-
रत्ताइं वत्थाइं धारित्तए । णणत्थ एक्काए धाउरत्ताए ।

.. गेरुएँ रग से रगे हुए (=धातुरत्त) वस्त्र के सिवाय-
दूसरे नाना प्रकार के रगो से रगे हुए वस्त्र धारण करने का कल्प नहीं है ।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ-हारं वा अद्धहारं वा
एकावलिं वा मुक्तावलिं वा कणगावलिं वा रयणावलिं वा
मुरविं वा कंठमुरविं वा पालंबं वा तिसरयं वा कडिसुत्तं वा
दसमुद्धिआणांतकं वा कडयाणि वा तुडियाणि वा अंगयाणि
वा केऊराणि वा कुंडलाणि वा मउडं वा चूलामणिं वा पिणि-
द्धित्तए । णणत्थ एकेणं तंविणं पवित्तएणं ।

. एक ताम्बे की पवित्रक (=अगूठी) के सिवाय, अन्य
हार, अद्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली,
मुरवि, कंठमुरवी (=कठला), प्रालम्ब (=लम्बीमाला), त्रिस-

रक, कटिसूत्र, दस अगुठियां, कटक, त्रुटित, अगद, केपूर, कुडल या चूडामणि (=मुकुट) पहनने का कल्प नहीं है ।

तेसि एां परिव्वायगाणं णो कप्पइ-गांथिमवेट्टिमपूरिमसंघा-
तिमे चउव्विहे मल्ले धारित्तए । णण्णत्थ एगेणं कण्णपूरेणं ।

.. एक कर्णपूरक (=फूलो का कान का आभरण) के सिवाय, अन्य ग्रन्थिम (=गूंथी हुई), वेट्टिम (=लपेटने से बनी हुई), पूरिम (=वशशलाका-जाल के पूरणमय या पूरने से बनी हुई) और सघातिम (=सघात से बनी हुई = नाल में नाल उलझाने से बनी हुई) इन चार तरह की मालाओं को धारण करने का कल्प नहीं है ।

तेसि एां परिव्वायगाणं णो कप्पइ-अगलुएण वा चंदणेण
वा कुंकुमेण वा गायं अणुलिंपित्तए । णण्णत्थ एकाए गंगा-
मड्डिआए ।

.. एकमात्र गंगा की मिट्टी के सिवाय, अगरु, चन्दन अथवा कुंकुम से शरीर को लिप्त करने का कल्प नहीं है ।

तेसि एां कप्पइ मागहए पत्थए जलस्स पडिगाहित्तए । से
वि य वहमाणे, णो चेव णं अवहमाणे । से वि य थिमि-
ओदए, णो चेव णं कद्दमोदए । से वि य बहुपसएणे, णो
चेव णं अवहुपसएणे । से वि य परिपूए, णो चेव एां अपरि-
पूए । से वि य णं दिएणे, णो चेव एां अदिण्णे । से वि
य पिवित्तए, णो चेव एां हत्थ-पायचरुचमसपक्खालणट्ठाए

सिणाइत्तए वा ।

उनको एक मागध प्रस्थक जल ग्रहण करना कल्पता है । वह भी बहता हुआ, बघा हुआ नहीं । निर्मलभूमि का जल, नीचे कीचड जमा हुआ हो ऐसा नहीं ।.. अतिस्वच्छ, गदा नहीं । . छना हुआ, विना छना हुआ नहीं । दिया हुआ, अदत्त नहीं ।... पीने के लिए ही, किन्तु हाथ, पैर, चरु, चमस (=लकड़ी का चम्मच-दर्विका) धोने के लिये या स्नान करने के लिये नहीं ।

टिप्पण—जैसे आजकल बंगाली तोल आदि तोल प्रसिद्ध हैं । वैसे ही पहले मागधादि तोल प्रसिद्ध थे । मागधप्रस्थक का उल्लेख उपर्युक्त सूत्र में हुआ है । वह प्रमाण इस प्रकार है । यथा—

दो असईओ पसई, दोहि पसईहिं सेइया होइ ।

चउसेइओ उ कुलओ, चउकुलओ पत्थओ होइ ॥

चउपत्थमाढयं तह, चत्तारि य आढया भवे दोणो ।

२ असई (=असती)=१ पसई (=प्रसृति) ।

२ पसई १=सेइया (=सेतिका) ।

४ सेइया=१ कुलओ (=कुलव.) ।

४ कुलओ=१ पत्थओ (=प्रस्थक) ।

४ पत्थओ (=प्रस्थक) =१ आढय (=आढक) ।

४ आढय=१दोणो (=द्रोण) । (—टी०)

तेसि णं परिव्वायगाणं कप्पइ मागहए अद्दाढए जलस्स पडिग्गाहित्तए । से वि य वहमाणे, णो चेव णं अवहमाणे ।
....जाव णो चेव णं अदिण्णे । से वि य हत्थपायचरुचमस-

पक्खालणद्धाए, णो चेव सं पिबित्ताए सिणाइत्ताए वा ।

उन परिव्राजको के आधा मागध आढक जल लेने का कल्प है । वह भी बहता हुआ, बघा हुआ नहीं । यावत् अदत्त नहीं । हाथ, पैर, चरु, चमस को धोने के लिए, पीने और स्नान के लिए नहीं ।

ते णं परिव्वायगा एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणंति । पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं वंभलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, ...दस सागरोवमाइं ठिई पएणत्ता ।
....सेसं तं चेव ॥१२॥

वे परिव्राजक इस तरह की चर्या से रहते हुए, बहुत वर्षों तक उस अवस्था को धारण करते हैं ।....फिर काल के समय में काल करके, ब्रह्मलोक कल्प (=पाँचवे स्वर्ग) में देव रूप से उत्पन्न होते हैं ।...उनकी....दस सागरोपम की स्थिति है ।....शेष उसी प्रकार ।

अम्बड़ परिव्राजक के सात सौ शिष्य

३६—तेणं कालेणं तेणं समएणं अम्मडस्स परि-
व्वायगस्स सत्त अंतेवासिसयाइं गिम्हकालसमयंसि जेड्डामूल-

मासंति गंगाए महानईए उभत्र्योकूलेणं कंपिल्लपुरात्रो णय-
रात्रो पुरिमतालं णयरं संपट्ठिया विहारए ।

उस काल उस समय अम्बड् परिव्राजक के सातसी अन्तेवासी (=शिष्य) ग्रीष्मकाल के ज्येष्ठा-मूल अर्थात् ज्येष्ठ मास में गंगा महानदी के दो किनारों से 'कपिल्लपुर' नगर से पुरिमताल नगर को जाने के लिए रवाना हुए ।

टिप्पण—ज्येष्ठामूल मास=ऐसा महिना कि जिसकी पूर्णिमा को ज्येष्ठा या मूल नक्षत्र पड़ता हो । —(टी०)

तए णं तेसिं परिव्वायगाः तीसे अगामियाए छिएणा-
वायाए* दीहमद्धाए अटवीए कंचि देसंतरमणुपत्तःणं, से
पुव्वग्गहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुंजमाणे भीणे ।

तब वे परिव्राजक, उस ग्राम से रहित और सार्थ-
गोकुलादि के मिलन से रहित, लम्बे मागवाली अटवी के किसी
भाग में पहुँच गये । पहले ग्रहण किया हुआ पानी बार-बार
पीने से समाप्त हो गया ।

तए णं ते परिव्वायगा • भीणोदगा समाणा तण्हाए पारब्भ-
माणा—पारब्भमाणा उदगदातारमपस्समाणा अण्णमण्णं
सदावेति ।

तब वे परिव्राजक पानी के समाप्त हो जाने से, प्यास

* छिन्नोवायाए—त्ति पा० ।

• परिव्वाया—त्ति पा० ।

के बढ़ने में और जल-दाता के दिव्यार्थ नहीं देने में, एक-दूसरे को पुकारने लगे अथवा परस्पर बातें करने लगे ।

सदावित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुष्विया ! अमहं इमीसे
अगामिआए...जाव अडवीए कंचि देसंतरमणुपत्ताणं, से
उदए...जाव भीणे; तं सेयं खलु देवाणुष्विया ! अमहं इमीसे
अगामीए...जाव अडवीए उदगदातारस्स सव्वओ समंता
मग्गणगवेसणं करित्तए ।

पुकारकर इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय ! इस ग्राम रहित.. अटवी के किसी भाग में हम आ पड़े हैं । .जल स्वत्म है । अत हे देवानुप्रियो ! इसी में भला है कि हम इस ग्राम रहित . अटवी में एकसाथ चारों ओर जलदाता की खोज करें' ।

टिप्पण—मागंण=अन्वयधर्म के द्वारा अन्वेषण (=यस्तुगतधर्म के द्वारा खोज) गवेपण=व्यतिरेकधर्म के द्वारा अन्वेषण (=विपरोत-धर्म के द्वारा खोज) —टीका०

— त्तिकडु अण्णमण्णस्स अंतिए एअमहं पडिसुणंति । पडि-
सुणित्ता तीसे अगामियाए...जाव अडवीए उदगदातारस्स
सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करंति ।

इस प्रकार एक-दूसरे के पास से यह बात सुनने लगे । सुनकर वे उस ग्राम रहित ..अटवी में चारों ओर एक साथ जलदाता की खोज करने लगे ।

करित्ता उदगदातारमलभमाणा दोच्चंपि अण्णमण्णं सदावेंति ।
सदावेत्ता एवं वयासी—

उदकदाता के नहीं मिलने पर, पुनरपि अन्योन्य बाते करने लगे ।.. इस प्रकार बोले—

इह णं देवाणुप्पिया ! उदगदातारो णत्थि । तं णो खलु कप्पइ अम्हं अदिण्णं गिण्हत्तए । • अदिण्णं सातिज्जित्तए । तं मा णं अम्हे इयाणि आवइकालंमि अदिण्णं गिण्हामो-- अदिण्णं सादिज्जामो । मा एं अम्हं ववलोवे भविस्सइ ।

‘देवानुप्रियो ! यहा उदकदाता नहीं है । अदत्त ग्रहण करने का हमारा कल्प नहीं है और न अदत्त भोगने का ही । तो हम इस आपत्तिकाल में भी अदत्त ग्रहण नहीं करे—नहीं भोगें, तो हमारे व्रत का लोप नहीं होगा ।

तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! तिदंडए कुंडियाओ य कंचणियाओ य करोडियाओ य भिसियाओ य छणालए य अंकुसए य केसरियाओ य पवित्तए य गणेत्तियाओ य छत्तए य वाहणाओ य (पाउयाओ य) धाउरत्ताओ य एगंते एडित्ता, गंगं महानं ओगाहित्ता, वालुयासंथारए संशरित्ता, संलेहणाओसियाणं भत्तपाणपडियाइक्खियाणं पाओवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए ।

● अदिण्णं भुजित्तए—त्ति क्व० ।

‡ कहीं कहीं—‘तवलोवे’ पाठ देखा जाता है । किन्तु वह ‘वतलोवे’ पाठ के वर्ण-व्यत्यय से बना हुआ भ्रष्ट पाठ प्रतीत होता है ।

‘तत्र हे देवानृप्रियो ! यही अच्छा है कि—हम त्रिदण्ड, कमण्डलु, रुद्राक्ष की मालाएँ, करोटिका (=मिट्टी का पात्र विशेष), वृषिका (=बैठने को पट्टा), पणालक (=त्रिका-ष्ठिका), अकुगक (=देवार्चन के लिये वृक्ष के पत्तों को र्वाचने का साधन), केशरिका (=प्रमार्जन के लिये वस्त्रखण्ड), पवित्रक (=ताम्बे की अगूठी), गणेत्रिक (=हस्ताभरण विशेष) छत्र, पादुकाएँ और गैरिकवस्त्र एकान्त में छोड़कर, गगा महानदी को पार करके या...नदी में प्रवेश करके, बालुका का सस्तारक (=विछोना) करके, मलेखना (=देह और त्रिचारो के विराधक सस्कार को क्षीण करने की क्रिया) का सेवन करते हुए, भात-पानी का त्याग करके, वृक्ष की—सी स्थिति में रहते हुए और मरण की इच्छा नहीं करते हुए ।’ शान्त चित्त से रहे ।’

— त्तिकडु अणमणस्म अंतिए एत्रमडुं पडिसुणांति ।
 ...पडिसुणित्ता, तिदंडए...जाव एगते एडेड । एडित्ता
 गंगं महाणडं ओगाहेति । ओगाहित्ता बालुयासंधारए संध-
 रंति ।

इस प्रकार यह बात एक-दूसरे से कर्णोपकर्ण सुनी ।
 सुनकर त्रिदण्ड ..आदि को एकान्त में छोड़े । .. गगा महानदी
 में प्रवेश किया ।...रेत का सस्तारक (=विछोना) बनाया ।
 बालुयासंधारयं दुरुहिति । दुरुहित्ता पुरत्थाभिमुहा संपलि-

यंकनिसन्ना करयल....जाव कट्टु एवं वयासी-

रेत के सस्तारक पर बंठे । पूर्वाभिमुख पद्मासन से बैठकर, हाथ जोडकर....इस प्रकार बोले-

णमोत्थु णं अरहंताणं....जाव संपत्ताणं । णमोत्थु णं सम-
णस्स भगवओ महावीरस्स....जाव संपाविउकामस्स । णमो-
त्थु णं अम्मडस्स परिव्वायगस्स अम्मं धम्मायरियस्स
धम्मोवदेमगस्स ।

‘नमस्कार हो अर्हन्त प्रभु को .सिद्धि स्थान पर पहुँचे हुओ को । नमस्कार हो श्रमण भगवान् महावीर को ,, निकट भविष्य में जो सिद्धिस्थान प्राप्त करनेवाले है । नमस्कार हो हमारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक अम्बड परिव्राजक को ।’

पुंविं णं अम्हे अम्मडस्स परिव्वायगस्स अंतिए थूलग-
पाणाइवाए पच्चक्खाए जावजीवाए ।...मुमावाए...अदिण्णा-
दाणे पच्चक्खाए जावजीवाए । सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जाव-
जीवाए । थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए जावजीवाए ।

पहले हमने ‘अम्बड’ परिव्राजक के पास स्थूल प्राणाति-
पात.. मृषावाद....अदत्तग्रहण....सर्वं मैथुन.. ..स्थूल परिग्रह का त्याग किया था, जीवनभर के लिये ।

इयारिं अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वं
पाणाइवायं पच्चक्खामो जावजीवाए । एवं...जाव सव्वं परि-

गहं पच्चक्खामो जावज्जीवाए । सव्वं कोहं माणं मायं लोहं
 पेज्जं दोसं कलहं अब्भक्खाणं पेसुएणं परपरिवायं अरइरइं
 मायामोसं मिच्छादंसणसल्लं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामो
 जावज्जीवाए । सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं चउव्विहंपि
 आहारं पच्चक्खामो जावज्जीवाए ।

अब हम भ्रमण भगवान् महावीर के समीप सम्पूर्ण प्राणातिपात जाव सम्पूर्ण परिग्रह .सम्पूर्ण क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह. अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, अरतिरति, मायामृषा.. मिथ्यादर्शनशल्य. नही करने योग्य योग (=मन, वचन और काया की क्रिया).. भ्रशन (=भ्रन्नादि), पान (=पानी), खाद्य (=मेवा आदि) और स्वादय (मुख-वासादि)—इन चार प्रकार के आहार का त्याग करते है जीवनभर के लिए ।

जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं मणुएणं मएणामं पेज्जं*
 वेसासियं, संमयं बहुमयं अणुमयं, भएडकरंडगसमाणं मा णं
 सीयं मा णं उएहं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं
 वाला, मा णं चोरा, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं
 वातिय-पित्तियसंनिवाइयं विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा
 फुसंतु—त्तिकड्डु एयं पि णं चरिमेहिं ऊसासणीसासेहिं वोसि-
 रामि ।

‘यह जो शरीर इष्ट (=वल्लभ), कान्त (=सुन्दर), प्रिय, मनोज्ञ (=मन भावन), मणोम (=मनोरम), प्रेय (प्रीति के योग्य) या प्रेज्य (=पूजनीय), विश्वसनीय, सम्मत (=स्वयं को मान्य), बहुमत (=बहुतो का इष्ट) और अनुमत (=विगुण देखने पर भी पुन पुन मान्य) था और जिसे भूषण के करण्डक के समान माना था । कही इसे शीत न लग जाय, गर्मी न लग जाय, कही यह भूखा न रह जाय, कही प्यासा न मर जाय, कही इसे सर्प आदि न सतावे, कही यह चोरो से पीड़ित न हो जाय, डाँस-मच्छर के उपद्रव में न फँस जाय, वात, पित्त और सन्निपातादि विषय रोगों से आतङ्कित न हो जाय और परीषह (क्षुधादि) और उपसर्ग (=देवादि के कष्ट) न सहना पड़े—इस प्रकार सुरक्षा से जिसे रक्खा है, उसे भी अन्तिम श्वास-उच्छ्वास में त्याग दें ।’

—त्ति कट्टु संलेहणाभूसिया • भत्तपाण पडियाइक्खिया पाओवगया कालं अणवकंखमाणा विहरंति । तए शं ते परिव्वायगा बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति । छेदिता आलोइअ पडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा वंभलोए कप्पे देवत्ताए उव्वएणा । तहिं तेसिं गई.....दस सागरोवमाइं ठिई पएणात्ता । परलोगस्स आराहगा । सेसं तं चेव ।

इस प्रकार तपस्या से शरीर को सोत्साह कृश करते हुए, भात-पानी का त्याग करके, वृक्ष-सी स्थिर अवस्था में रहकर, मरने की इच्छा से परे बने हुए, काल व्यतीत करने लगे । तब उन परिव्राजको ने बहुत-से भक्त (=भोजनकाल) को अनशन (=अनाहार) से छेदन किये-बिताए ।.. दोषो को देखकर, उनसे परे हटे । ममावि (=शान्ति=चित्त विशुद्धि) पाई । काल के समय मं काल करके, ब्रह्मलोक कल्प में देव-रूप से उत्पन्न हुए दस सागरोपम क्री स्थिति. परलोक के आराधक . शेष पूर्ववत् ।

अम्बड परिव्राजक

ॐ०—बहुजसो णं भंते ! अणमणस्स एवमाइ-
क्खइ, एवं भामड, एवं पणवेइ एवं परुवेइ--एवं खलु अंमडे
परिवायए कंपिल्लपुरे णयरे घरमए आहारमाहरेइ, घरसए
वसहिं उवेइ । से कहमेयं भंते ! एवं !

‘भगवन् ! बहुत-से मनुष्य परस्पर इस प्रकार कहते हैं बोलते हैं, जतलाते हैं, प्ररूपणा करते हैं कि—‘अम्बड परिव्राजक ‘कपिल्लपुर’ नगर में सौ घरों में आहार करता है—सौ घरों में निवास करता है ।’—तो क्या भन्ते ! यह बात ऐसी ही है ?’

गोयमा ! जएणं से बहुजणो अएणमएणस्स एवमाइक्खइ...
जाव एवं परूवेइ-एवं खलु अम्मडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे...
जाव घरसए वसहिं उवेइ, सच्चे णं एसमडे । अहं पि णं
गोयमा ! एवमाइक्खामि...जाव एवं परूवेमि-एवं खलु
अम्मडे परिव्वायए...जाव वसहिं उवेइ ।

‘गौतम ! जो बहुजन इस प्रकार कहते है . कि अम्बड
परिव्राजक . सौ घरों में निवास करता है ..यह बात सत्य है ।
गौतम ! मैं भी इस प्रकार कहता हूँ...’

से केणङ्के णं भन्ते ! एवं वुच्चइ--अम्मडे परिव्वायए...जाव
वसहिं उवेइ ।

‘भन्ते ! किस कारण से इस प्रकार कहते है कि...?’

गोयमा ! अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स पगइभइयाए...जाव
विणीययाए छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोक्कमेणं ऊड्डं
वाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूरामिमुहस्स आयावणभूमीए
आयावेमाणस्स, सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं
पसत्थाहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं, अण्णया कयाइं तदावर-
णिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहावूहामग्गणगवेसणं करे-
माणस्स वीरियलद्धीए वेउच्चियलद्धीए ओहिणाणलद्धी
समुप्पएणा ।

हे गौतम ! स्वाभाविक भद्रता (परोपकारशीलता)

मे., यावत् विनीतता मे युपन, निरन्तर परलोपयाम (=रो-यो दिन के उपवास) रूप तप कर्म महिन, भुजाएँ जेरी रगदर और मुग्न नूर्यं की ओर करके आतापना भूमि म पातापना लेनेवाले 'अम्बट' परिश्राजक को, नून परिणाम, प्रशस्त धाय-वसाय और विद्युद्ध होनी हुई प्रशस्त लेश्या के द्वारा, किसी समय तदावरणोच (=वीर्यं लक्षि और वैश्विय लक्षि के साधक तथा अविज्ञानावरण) कर्मों का क्षयोपयाम होने पर, जिज्ञासात्मक मति (=ईहा), निर्णयात्मक मति (=इह), वस्तुगत धर्म के आलोचन (=मार्गण) और वस्तु में जा धर्म नहीं है उनके आलोचन (=गवेषण) रूप वृद्धि का व्यापार करते हुए, शौच-लक्षि और वैश्वियलक्षि के माध्य अत्रिज्ञान लक्षि प्राप्त हुई।

टिप्पण—लेश्या=मन, वचन और काया की क्रिया में प्रशस्त पुद्गलद्रव्य और उसके निमित्त से होने वाला धात्मिक धर्म। अप्यवसाय =भावमन का व्यापार। परिणाम=जीव की परिणति। ज्यों-ज्यों मन, वचन और काया की क्रिया शुभ होती जाती है, त्यों-त्यों उनमें गृहीत पुद्गल द्रव्य भी शुभ और शुद्ध होता जाता है। जिनमें अप्यवसाय में शुभता आती है। फिर शुभ अप्यवसायों से जीव की परिणति शुभ होती है और अन्त में शुद्ध दशा में भी स्थिति हो सकती है। प्रायः साधक दशा से साध्य दशा में पहुँचने का यही राजमार्ग प्रतीत होता है। ईहा = 'यह वही है या अन्य?'—इस प्रकार की आलोचनाभिन्ना मति। व्यूह = 'यह वही है'—इस प्रकार का निश्चय। यथा—यह ठंडा है या पुण्य? (ईहा)। यह तो ठंडा ही है—(व्यूह)। क्योंकि चेलें आदि तिपटी हुई दिखाई दे रही हैं—(मार्गण) और पुरुष के समान गिर आदि भी नहीं हिला रहा है—(गवेषण)।

तए णं से अम्मडे परिव्वायए ताए वीरियलद्धीए वेउव्विय-
लद्धीए ओहिणाणलद्धीए समुप्पणाए जणविम्हावणहेउं
कंपिल्लपुरे घरसए...जाव वसहिं उवेइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं
वुच्चइ-अम्मडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे णयरे घरसए...जाव
वसहिं उवेइ ।

तब वह 'श्रम्बड' परिव्राजक वीर्यलब्धि (=विशेष-
शक्ति की प्राप्ति), वैक्रियलब्धि (=अनेक रूप बनाने की
शक्ति) और अवधिज्ञानलब्धि (=रूपी पदार्थों को आत्म
प्रदेशों से जानने की शक्ति) के प्राप्त होने पर, मनुष्यों को
विस्मित करने के लिये, 'कपिल्लपुर' नगर में सौ घरों में आहार
करता है-सौ घरों में निवास करता है । इस कारण हे गौतम !
इस प्रकार कहता हूँ, कि- 'श्रम्बड ...' ।

टिप्पण-टीकाकार सूचित करते हैं कि-'बहुत-सी प्रतियों में 'श्रम्बड'
के साथ जो 'परिव्वायग' विशेषण आता है वह अयुक्त है । क्योंकि स्था-
नांगादि में केवल 'श्रम्बड' ही देखा जाता है । संभव है-टीकाकार को
श्रम्बड' के बारह व्रतवारी होने के कारण 'परिव्वायग' विशेषण अयुक्त
लगा हो । अतः स्थानागादि का प्रमाण दिया । किन्तु परिव्राजक वेश के
रहते हुए, उन्हें परिव्राजक 'विशेषण' लगाना असंगत तो नहीं है । क्योंकि
पीछे के सूत्र में उनके शिष्यों को भी परिव्राजक ही कहा है । 'श्रम्बड'
और 'श्रम्बड' के शिष्यों का वर्णन ही संभवतः यह बताने के लिये हुआ है,
कि-परिव्राजकों में परिव्राजक वेश के रहते हुए श्रावक व्रतों का पालन
करने से वे परलोक के आराधक हो सकते हैं ।

पहू णं भंते ! अम्मडे परिव्वायए देवाणुप्पियाणं अंतिए

मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पच्चइत्तए ?-णो इगण्ठे समइए ।

भन्ते ! अम्बड परिव्राजक देवानुप्रिय के पास में मुडिन होकर गृहवाम मे निकलकर, अनगार अवस्था को प्राप्त करने के लिये समर्थ है ? हे गौतम ! -यह शक्य नहीं है ।

गोयमा ! अम्मडे णं परिच्चायए समणोवासए अभिगय-जीवाजीवे... जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । एवरं ऊसिय-फलिहे अवंगुयदुवारे, चियत्तंतेउग्घर-दार-पवेसी एयं ए वुच्चइ ।

किन्तु गौतम ! अम्बड परिव्राजक अमणोपासक होकर, जीव और अजीव को जानता हुआ . यावत् आत्मा को भावित करता हुआ विचरण करता रहेगा । 'ऊसिय.' आदि तीन विशेषण नहीं कहना चाहिए ।

टिप्पण- 'जाव' करण से 'उवलद्धपुण्णपावे आसव.' आदि विशेषणों का ग्रहण होता है । जिनका अनुवाद २० वे प्रश्न में आयेगा । 'ऊसियफलिहे' आदि तीन विशेषण यहाँ नहीं कहने चाहिए, क्योंकि ये परिव्राजक (सन्यासी) के वेप में श्रावक बने हैं । इसलिए इनके घर आदि नहीं हैं । अतएव ये तीन विशेषण इनके लिए नहीं कहने चाहिए ।

अम्मडस्स एां परिच्चायगस्स थूलए पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए...जाव परिग्गहे, एवरं सच्चे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए ।

‘अम्बड’ के स्थूल प्राणातिपात..मृषावाद...अदत्तादान...
सर्वमैथुन. स्थूल परिग्रह के जीवनभर के लिये प्रत्याख्यान है ।
अम्मडस्स एं णो कप्पइ अक्खसोयप्पमाणमेत्तं पि जलं
सयराहं उत्तरितए । णणत्थ अद्वाण-गमणेणं ।

‘अम्बड’ को मार्ग-गमन के सिवाय, गाड़ी की धुरा
डूबने जितने जल में भी अकस्मात् उतरना नहीं कल्पता है ।

अम्मडस्स एं णो कप्पइ सगडं... एवं चेव भाणियव्वं जाव
णणत्थ एगाए गंगामट्टियाए ।

अम्बड को गाड़ी आदि यानों में बैठना नहीं कल्पता है ।
इसी प्रकार ‘एगाए गगाए मट्टियाए’ तक कहना चाहिए अर्थात्
पहले परिव्राजको के वर्णन में जो ये विशेषण आ चुके हैं वैसे
ही विशेषणों से युक्त ‘अम्बड’ भी थे ।

अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ-आहाकम्मिए वा उद्दे-
सिए वा मीसजाए इ वा अज्झोयरए इ वा पूडकम्मे इ वा कीय-
गडे इ वा पामिच्चे इ वा अणिसिद्धे इ वा अभिहडे इ वा ठइ-
त्तए इ वा * रइए इ वा कंतारभत्ते इ वा दुब्भिक्खभत्ते इ वा
पाहुणगभत्ते इ वा गिलाणभत्ते इ वा वदल्लियाभत्ते इ वा
भोत्तए वा पाइत्तए वा ।

-अपने लिये बनाया हुआ, किसी साधु के लिये बनाया

* रइत्तए-त्ति पा. ।

हुआ, साधु और गृहस्थ दोनों के लिये बनाया हुआ, गृहस्थ के वनते हुए भोजन में साधु के लिये कुछ और बढ़ाकर बनाया हुआ, अपने लिये बनाए हुए भोजन-पान के अंश से मिश्रित बना हुआ, अपने लिये खरीदा हुआ, उधार लिया हुआ, घर के व्यक्ति या मुखिया से बिना पूछे दिया जानेवाला, मामने लाकर दिया जानेवाला, अपने लिये ही अलग रखा हुआ, अपने लिये सस्कारित किया हुआ, अटवी उल्लंघन के लिए घर से लाया हुआ पाथेय (भाता) रूप आहार, अथवा भिक्षुको के निर्वाह के लिये जंगल में सस्कारित किया हुआ, दुर्भिक्ष पीड़ितों के लिये या दुर्भिक्ष के कारण भिक्षुओं के लिये बना हुआ, पाहुने से सम्बन्धित रहा हुआ, रोगी के लिये बना हुआ और दुर्दिन=वादल आदि से आच्छन्न दिन में गरीबों के लिये बना हुआ भोजन-पान, अम्बड को खाना-पीना नहीं कल्पता है ।

अम्मडस्स णं परिच्चायगस्स णो कप्पड-मूलभोयणे इ वा...
जाव वीयभोयणे इ वा भोत्तए वा पाइत्तए वा ।

अम्बड के मूलभोजन. वीजभोजन करने का कल्प नहीं है ।

टिप्पण—‘जाव’ करण से—‘कदमोयणे इ वा’ ‘फलभोयणे इ वा’ और ‘हरियभोयणे इ वा’ आदि पदों का ग्रहण होता है । अर्थ—कद से लेकर वीज तक का सचित्त वस्तु का भोजन अम्बड को नहीं कल्पता है ।

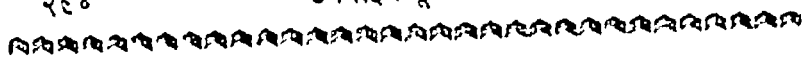
अम्मडस्स णं परिच्चायगस्स चउव्विहे अणत्थदंटे पच्च-
क्खाए जावज्जीवाए । तं जहा--अवज्झाणायरिए पमायायरिए

हिंसप्पयाणे पावकम्मोवएसे ।

अम्बड ..ने जीवनभर के लिये चार प्रकार की निरर्थक हिंसक क्रियाएँ (=अनर्थदण्ड) छोड़ दी है । यथा—बुरे ध्यान का सेवन, प्रमाद-सेवन, हिंसा के साधन अन्य को देना और पाप से होनेवाली क्रियाओं के करने का उद्देश देना ।

अम्मडस्स कप्पइ मागहए अद्दाढए जलस्स पडिग्गाहित्तए ।
से वि य वहमाणे नो चेव णं अवहमाणए... जाव से वि य
पूए, नो चेव णं अपरिपूए । से वि य सावज्जे-त्ति काळं,
णो चेव णं अणवज्जे । से वि य जीवा--^xत्ति कट्टु, णो
चेव णं अजीवा । से वि य दिण्णे, णो चेव णं अदिण्णे । से
वि य दंतहत्थपायचरुचमसपक्खालणट्टयाए पिपित्तए वा,
णो चेव णं सिणाइत्तए ।

बहुता हुआ जल, किंतु बन्धा हुआ नहीं. छना हुआ जल, किन्तु अनछना नहीं . वह सावद्य जल है, किन्तु निरवद्य नहीं है...सजीव है किन्तु अजीव नहीं है...दत्त जल किन्तु अदत्त नहीं—ऐसा मगघ का आधा आढक जल, हाथ-पैर, दाँत, चरु, चमस घोने के लिये और पीने के लिये, किन्तु स्नान के लिये नहीं—अम्मड के लेने का कल्प है । अर्थात् हाथ आदि घोने के लिये और पीने के लिए बहते हुए प्रवाह से, सावद्य और सजीव से छानकर दिया हुआ जल. मगघ के आधे आढक



जितना लेने का, अम्बड के कल्प है ।

टिप्पण—‘यह जो जल का परिमाण करण है वह जल सावद्य है—सजीव है’—ऐसा करके परिमाण करना अथवा छाना हुआ जल किस कारण से ग्रहण करते हैं ?—जल सावद्य है, उसमें प्लूतकादि जीव है—ऐसा सोचकर । यह भाव है ।—टी०

अर्थात् अम्बड ने यह प्रतिज्ञा नहीं की थी, कि—‘मैं सावद्य और सजीव जल ही काम में लूंगा’ । क्योंकि ऐसी प्रतिज्ञा सुप्रत्याख्यान में नहीं गिनी जा सकती । अतः इन प्रतिज्ञागत वाक्यों का यह आशय है, कि—‘जिस जल का मैं उपयोग करता हूँ, वह जल सावद्य और सजीव है, किन्तु निरवद्य और निर्जीव नहीं है’—ऐसा विचार करके, जल की मर्यादा की, अथवा जल को छानकर, उपयोग में लेने का नियम लिया । ‘त्ति फाड’ और ‘त्तिफट्टु’ शब्दों से भी यही ध्वनि निकलती है ।

अम्मडस्स कप्पड् मागहए आढए जलस्म पडिग्गाहित्तए ।
से वि य वहमाणे... जाव दिन्ने, णो चेव एं अदिणणे ।
से वि य सिणाडत्तए, णो चेव एं हत्थपायचरुचमस-
पक्खालणट्टयाए पिवित्तए वा ।

अम्बड के मागत्र एक आढक जल लेने का कल्प है । वह भी बहता हुआ जाव दत्त स्नान के लिये, किन्तु हाथ, पैर, आदि धोने और पीने के लिये नहीं ।

अम्मडस्स णो कप्पड् अणणउत्थिया वा, अणणउत्थियदेव-
याणि वा, अणणउत्थियपरिग्गाहियाणि वा चेइयां वंदित्तए
वा णमंसित्तए वा...जाव पज्जुवासित्तए वा । अणणत्थ

अरिहंते वा, अरिहंतचेइयाइं वा ।

‘अम्बड’को नहीं कल्पता है—अन्य तैथिको, अन्य तैथिक देवो और अन्यतैथिको से परिगृहीत ‘चेइयो’ को वन्दन—नमस्कार करना .यावत् उनकी पर्युपासना करना, केवल अहंन्तो और ‘अरिहन्तचेइयो’ को छोड़कर ।

टिप्पण—‘चेइय’ शब्द के अर्थ में मत-भेद है । इस ‘सूत्र’ में दो बार ‘चेइय’ शब्द आया है । मूर्तिपूजक पक्ष ‘चेइय’ शब्द का अर्थ ‘जिन-प्रतिमा’ करते हैं । उनका कहना है, कि—‘अण्णउत्थिया शब्द से ‘जिनेन्द्र शासन की अपेक्षा दूसरे शाक्य आदि सधों’, ‘अण्णउत्थियदेनयाणि’पद से ‘उन सधों के आराध्यों’ और ‘—अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा चेइयाइ’ पद से ‘इतर मतावलम्बियों से पूरी तरह ग्रहण करली गई जिनप्रतिमाओं’ को वन्दना आदि करने का निषेध है और ‘अरिहते’ पद से ‘अहंन्तों’ और ‘अरिहंतचेइयाइ’ पद से ‘अहंन्तों की प्रतिमाओं’ को वन्दनादि करने का स्वीकार । टीकाकार ने भी—‘चेइयाइ’—ति अहंच्चैत्यानि-जिनप्रतिमा-इत्यर्थः—यह टीका की है । किन्तु अमूर्तिपूजक पक्ष का कहना है, कि—यहाँ ‘चेइय’ पद का अर्थ ‘जिनप्रतिमा’ ही करना असंगत है । ‘अम्बड’ श्रमणोपासक ही थे, श्रमण नहीं । जब कि श्रमणों के लिये भी चारित्र-वृद्ध श्रमणों को वन्दना करना आवश्यक है, तो फिर ‘श्रमणोपासकों’ के लिये वह वर्जनीय कैसे हो सकता है ? यदि ‘अहंन्तचैत्य’ का अर्थ ‘जिन-प्रतिमा’ ही किया जाय तो ‘अरिहन्त’ और उनकी ‘प्रतिमाओं’ के सिवाय अन्य को वन्दनादि करने का निषेध हो जाता है । तो क्या ‘अम्बड’ जैसे श्रमणोपासक ‘निग्रन्थ श्रमणों’ की अवहेलना करते थे ?—ऐसा सभव नहीं है । अतः यहाँ ‘अरिहन्तचेइय’ का ‘निग्रन्थ श्रमण’ अर्थ होना चाहिए और ‘अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि चेइयाइ’ पद का अर्थ ‘दृष्टिभ्रष्ट

श्रीर चारित्र भ्रष्ट' अर्थान्'जिनशासन को छोड़कर इतर सधों में मिले हुए' 'निर्ग्रन्थ श्रमण'—होना चाहिए । चेद्वय शब्द का यह अर्थ हमारा मन-कल्पित नहीं है । कहा है—

बुद्ध ज बोहती, अप्पाण वेइयाइ अण्ण च
पचमहव्वयसुद्ध, णाणमय जाण चेदिहर ॥८॥

—बोधपाटुड

जिसने जानी को जानते हुए, अपने आपको श्रीर अन्यको जाना है, जो पांच महाव्रत से शुद्ध बन गये हैं—ऐसे ज्ञानमय को 'चेत्यगृह' जानो ।

इस प्रकार यहाँ 'अरिहत्तचेद्वय' शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और चेतनावान के लिये ही । जिसमें साधक दशा में रहे हुए अरिहन्तों से लगाकर, वीतराग भाव के लिये सतत् परिश्रमी सभी पूर्ण त्यागियों का समावेश हो जाता है । जिनकी चेतना का प्रवाह, राग-रञ्जित लक्ष्यविन्दुओं से हटकर, रागरहित लक्ष्यविन्दु 'अरिहत्त' की ओर मुड़ गया हो, सचमुच में वे ही 'अरिहत्तचेद्वय' हैं । कभी कभी द्रव्य अरिहन्त साधक दशा में स्थित तीर्थंकरादि से साधारण निर्ग्रन्थ साधकों को भिन्न बताने के लिये, उनका अलग शब्द से भी निर्देश कर दिया जाता है । यथा—'भगवई' अंग में चमरेन्द्र के वर्णन में ।

'अण्णउत्थियपरिग्गहिय चेद्वय' का यह भी अर्थ हो सकता है, कि—'जिसकी चेतना 'निर्ग्रन्थ-शासन' वत् हो चुकी हो, किन्तु अन्यतैयिको का आश्रय छोड़कर, निर्ग्रन्थ प्रवचन से अनुमोदित चारित्र को ग्रहण नहीं किया हो, ऐसा इतर सधीय साधक श्रीर जिसका श्रद्धान और ज्ञान निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुकूल हो, किन्तु तदनुमोदित चारित्र का त्यागकर, इतर-सधियों का आश्रित बन गया हो—ऐसा निर्ग्रन्थ श्रमण ।'

अम्बड के भविष्य के भव

अम्बडे णं भंते ! परिव्वायए कालमासे कालं किच्चा कर्हि गच्छिहिइ ? कर्हि उव्वज्जिहिइ ?--गोयमा ! अम्बडे णं परि-
व्वायए उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोस-
होववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा बहूइं वासाइं समणोवासय-
परियायं पाउणिहिइ । पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए
अप्पाणं भूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता, आलो-
इयपडिकंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा वंभलोए
कप्पे देवत्ताए उव्वज्जिहिइ । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं
दस सागरोवमाइं ठिई पएणत्ता । तत्थ णं अम्बडस्सवि
देवस्स दस सागरोवमाइं ठिई ।

भन्ते ! अम्बड परिव्राजक काल के समय में काल करके
कहाँ जायगा ? कहाँ उत्पन्न होगा ?

हे गौतम ! अम्बड परिव्राजक छोटे बड़े विविध प्रकार
के शीलव्रत (=अणुव्रत), गुणव्रत, विरमण (=रागादि से विरति
के प्रकार), प्रत्याख्यान (=‘णम्मुक्कारसहिय’ आदि पच्च-
क्खाण’) और पौषधोपवास (=अष्टमी आदि पर्व दिनों में
की जानेवाली विशेष प्रकार की आत्मिक साधना) के द्वारा
अपनी आत्मा को भावित करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणो-
पासक अवस्था को पालेगा ।...फिर एक महिने की सलेखना

से आत्मा में लीन होकर (=ग्रह्याण=आत्मा को+त्रूमित्ता=सेवन करके), साठ भक्त (=भोजन के समय) को निराहार अवस्था में काटकर, आत्म-दोषों का स्मरण करके, उनसे पीछे हटता हुआ समाधि (=आत्मशान्ति) की प्राप्ति करता हुआ, काल के समय में काल करके, ब्रह्मलोककल्प में देवरूप से उत्पन्न होगा। वहाँ पर कई देवों की स्थिति दस सागरोपम की होनी है। तो वहाँ पर 'अम्बड' देव की भी स्थिति दस सागरोपम की होगी।

से एं भंते ! अम्बडे देवे ताओ देवल्लोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता । कहिं गच्छि-
हिइ ? कहिं उववज्जिहिइ ?-गोयमा ! महाविदेहे वासे जाइं कुलाइं भवंति-अद्दाइं दित्ताइं वित्ताइं विच्छिण्णविउल्ल-
भरणसयणासणजाणवाहणाइं बहुधणजायरुवरययाइं आओ-
गपओगसंपउत्ताइं विच्छड्ढियपउरभत्तपाणाइं बहुदासीदास-
गोमहिसगवेलगप्पभूयाइं बहुजगस्स अपरिभूयाइं । तहप्प-
गारेसु कुलेसु पुमत्ताए पच्चायाहिइ ।

भन्ते ! 'अम्बड' देव उस देवलोक से आयु . भव (=देव-
गति) और स्थिति के क्षीण होने पर, चव कर कहाँ जायगा ?
कहा उत्पन्न होगा ?

गौतम ! महाविदेह क्षेत्र में जो कुल है, वे समृद्ध, दर्प-

† 'कुले'-त्ति क्वचित् ।

वान् और प्रसिद्ध है। अनेकों भवन, शयनासन, यान और वाहनो से युक्त है। उनके यहाँ धन, सोने, चाँदी की कमी नहीं। वे अर्थलाभ के उपायो का सफलता से प्रयोग करते हैं। कुल मनुष्यो के भोजन के बाद, अन्य बहुत-से मनुष्यो का भी गुजारा हो सके, इतना प्रचुर भोजन-पान उनके यहाँ बनता है। वहाँ दास-दासियो की भी कमी नहीं। वे गायें आदि पशुधन से समृद्ध हैं। ऐसे कुलो में से एक कुल में पुत्र रूप से उत्पन्न होगा।

दिप्पण-आपुक्षय=आयु.कर्म के दलिकों का आत्मा से सम्बन्ध छूटना।

भवक्षय=देवादि भव के निबन्धनभूत कर्मों का क्षय होना।

स्थितिक्षय=आयु.कर्म और दूसरे भी तद्योग्य कर्मों का आत्मा के साथ लगे रहने का काल समाप्त हो जाना-टी०

देव की जो 'अम्बड' संज्ञा कही गई है, वह इस भव की अपेक्षा से। वहाँ अन्य संज्ञा होना संभव है।

तए णं तस्स दारगस्स गब्भत्थस्स चैव समाणस्स अम्मा-
पिईणां धम्मे दढा पइएणा भविस्सइ।

तब उस बालक के गर्भ में आते ही माता-पिता की धर्म में दृढ प्रतिज्ञा होगी।

से णं तत्थ णवएहं मासाणां बहुपडिपुएणाणं अद्धट्टमाणराइं-
दियाणं वीइकंताणं सुकुमालपाणिपाए...जाव ससिसोमाकारे

कंते पियदंसणे सुरूवे दारए पयाहिइ ।

वहां पूर्ण नव महिने और साढे सात रात्रि-दिन वीतने पर, सुकुमार हाथ-पैर वाले....यावत् चन्द्र के समान सीम्या-कार, कान्त और प्रिय दर्शनवाले मुरूप बालक का जन्म होगा । तए एं तस्म दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे टिइवडियं काहिति ।

तब उस बालक के माता-पिता, पहलेदिन कुल क्रम के अनुसार पुत्र जन्म के योग्य क्रिया करेगे ।

विइयदिवसे चंदस्सरदंसणियं काहिति । छडे दिवसे जागरियं काहिति ।

दूसरे दिन 'चन्द्र-सूर्य-दर्शनिका' नामक जन्म उत्सव करेगे । छट्ठे दिन 'जागरिका' नामक जन्मोत्सव करेगे ।

एक्कारसे दिवसे वीइक्कंते णिव्वित्ते असुइजायकम्मकरणे, संपत्ते वारसाहे दिवसे अम्मापियरो इमं एयारुवं गोणं गुण-निप्फणणं नामधेज्जं काहिति--जम्हा एं अम्हं इमंसि दार-गंसि गब्भत्थंसि चेव समाणंसि धम्मे दढपइणणा, तं होउ णं अम्हं दारए दढपइणणे णामेणं । तए णं तस्स दारगस्स अम्मा-पियरो णामधेज्जं करेहिति--दढपइणणे--त्ति ।⁺

* 'अय'—इति पा. ।

+ इहस्थाने पुस्तकान्तरे 'पचवाइपरिग्गहिए' इत्यादि ग्रन्थो दृश्यते ।

ग्यारह दिन बीत जाने पर—जनन-क्रिया सम्बन्धी अशुचि के विधान के निवृत्त होने पर—बारहवें दिन माता-पिता यह इस रूप से गुणों से सम्बन्धित गुणनिष्पन्न (=गुणानुसार बननेवाला) नाम-सस्कार करेंगे—‘क्योकि यह बालक गर्भ में था, उस समय घर्म में हमारी दृढ प्रतिज्ञा हुई थी। अतः हमारा बालक ‘दढपइण्ण’ (=दृढप्रतिज्ञ) नाम से (प्रसिद्ध) हो।’—तब माता-पिता उस बालक का नाम ‘दढपइण्ण’ रखेंगे।

तं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो साइरेगऽट्टुवासजायगं
जाणित्ता सोभणंसि तिहिकरणणकखत्तमुहुत्तंसि कलायरियस्स
उवणेहिंति ।

फिर वे ‘दढपइण्ण’ बालक को आठ वर्ष से अधिक का हुआ जानकर, शुभ तिथि, करण और नक्षत्रवाले मूहूर्त में कलाचार्य के पास ले जायेंगे।

तए णं से कलायरिए तं दढपइण्णं दारगं लेहाइयाओ गणि-
यप्पहाणाओ सउणरूपपज्जवसाणाओ वावत्तरि कलाओ
सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सेहाविहिइ, सिक्खा
विहिइ ।

तब कलाचार्य उस ‘दढपइण्ण’ बालक को लेखादि (=लेखनकला आदि में है जिसके ऐसी), गणितप्रधान ‘शकुन रुत’ पर्यन्त बहोत्तर कलाएँ सूत्र से, अर्थ से और प्रयोग से सधाएंगे—सिखाएंगे।

तं जहा-लेहं, गणियं, रूवं, णट्टं, गीयं, वाइयं, सरगयं, पुक्ख-
 रगयं, समतालं, जूयं, जणवायं, पासकं, अट्टावयं, पोरेकच्चं,
 दगमट्टियं, अणणविहिं, पाणविहिं, वत्थविहिं, विलेवणविहिं,
 सयणविहिं, अज्जं, पहेलियं, मागहियं, गाहं, गीइयं, सिलोयं,
 हिरणणजुत्तिं, सुवणणजुत्तिं, गंधजुत्तिं, चुण्णजुत्तिं, आभरण-
 विहिं, तरुणीपडिकम्मं, इत्थिलक्खणं, पुरिसलक्खणां, हय-
 लक्खणं, गयलक्खणां, गोणलक्खणां, कुक्कुडलक्खणं,
 चक्कलक्खणं, छत्तलक्खणं, चम्मलक्खणं, दंडलक्खणं,
 असिलक्खणं, मणिलक्खणं, काकणिलक्खणं, वत्थुविज्जं,
 खंधारमाणां, नगरमाणं, वत्थुनिवेशणं, वूहं पडिवूहं, चारं
 पडिचारं, चक्कवूहं, गरुलवूहं, सगडवूहं, जुद्धं, निजुद्धं,
 जुद्धाइजुद्धं, मुट्टिजुद्धं, वाहूजुद्धं, लयाजुद्धं, इस्तथं, छरूप-
 वाहं, धणुव्वेयं, हिरण्णपागं, सुवण्णपागं वट्टुखेडं, सुत्तखेडं,
 णालियाखेडं, पत्तच्छेज्जं, कडवच्छेज्जं, मज्जीवं, निज्जीवं, सउ-
 णरुय-मिति वावत्तरिकलाओ सेहावित्ता ।

वे यथा—१ लेख, २ गणित, ३ रूप, ४ नाट्य, ५ गीत,
 ६ वादित, ७ स्वरगत, ८ पुष्करगत, ९ समताल, १० द्यूत,
 ११ जनवाद, १२ पाशक, १३ अष्टापद, १४ पौरस्कृत्य,
 १५ उदक-मिट्टिय, १६ अन्नविधि, १७ पानविधि, १८ वस्त्र-
 विधि, १९ विलेपनविधि, २० शयनविधि, २१ आर्या, २२ प्रहे-
 लिका, २३ मागधिका, २४ गाथा, २५ गीतिका, २६ श्लोक,

२७ हिरण्ययुक्ति, २८ सुवर्णयुक्ति, २९ गन्धयुक्ति, ३० चूर्ण-
युक्ति, ३१ आभरणविधि, ३२ तरुणीप्रतिकर्म, ३३ स्त्रीलक्षण,
३४ पुरुषलक्षण, ३५ हयलक्षण, ३६ गजलक्षण, ३७ गोलक्षण,
३८ कुक्कुटलक्षण, ३९ चक्रलक्षण, ४० छत्रलक्षण, ४१ चर्म-
लक्षण, ४२ दडलक्षण, ४३ असिलक्षण, ४४ मणिलक्षण,
४५ काकणिलक्षण, ४६ वास्तुविद्या, ४७ स्कधारमाण,
४८ नगरमाण, ४९ वास्तुनिवेशन, ५० व्यूह-प्रतिव्यूह,
५१ चार-प्रतिचार, ५२ चक्रव्यूह, ५३ गरुडव्यूह, ५४ शकट-
व्यूह, ५५ युद्ध, ५६ नियुद्ध, ५७ युद्धातियुद्ध, ५८ मुष्टियुद्ध,
५९ बाहुयुद्ध, ६० लतायुद्ध, ६१ 'इसत्थं छरुप्पवाह', ६२ घनु-
वेद, ६३ हिरण्यपाक, ६४ सुवर्णपाक, ६५ वट्टखेड, ६६ मुत्त-
खेडु, ६७ नालियाखेडु, ६८ पत्रच्छेद्य, ६९ कुडवच्छेद्य, ७० सजीव,
७१ निर्जीव और ७२ शकुनरुत्त--ये बहोतर कलाएँ सिखायेंगे।

टिप्पण--तत्कालीन शिक्षा-पद्धति के तीन अंग बताये हैं। स्मृति
के लिये सूत्रात्मक पद्धति से, समझ के विकास के लिये व्याख्यात्मक
पद्धति और दक्षता के लिये प्रयोगात्मक पद्धति से शिक्षा दी जाती थी।

सिखावेत्ता अम्मापिईणं उवणेहिइ । तए णं तस्स दढपइण्ण-
स्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विउल्लेणं असण-
पाणखाइमसाइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेहिंति-सम्मा-
णेहिंति । सक्कारेत्ता संमाणेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं
दलइस्सइ ।.....दलइत्ता पडिविसज्जेहिंति† ।

† 'विभ्रयपरिणयमेत्ते'-त्ति क्वचित् ।

तव कलाचार्य उसे मात-पिता के पास ले जाएंगे । तव उस 'दढपइण्ण' के माता-पिता उन कलाचार्य का विपुल अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, गन्ध, मात्य श्रीर अलकार से सम्मान करेगे-सत्कार करेगे । ..जीविका के योग्य विपुल प्रीतिदान देंगे । फिर विसर्जन करेगे ।

तए णं से दढपइण्णे दारए वावत्तरिकलापंडिए नवंगसुत्त-पडिओहिए अट्टारसदेसीभासाविसारए गीयरई गंधव्वणइ-कुसले हयजोही गयजोही रठजोही वाहुजोही वाहुप्पमदी वियालचारी साहसिए अलं भोगसमत्थे यावि भदिस्सइ ।

तव वह वहोत्तर कला में पण्डित, सुप्त नव अगो को जागृतिवाला, अठारह देश की भाषा में विशारद, संगीत-प्रेमी, गन्धर्व-नाट्य में कुशल, हय, गज, रथ, और वाहुयुद्ध का कुशल योद्धा, वाहुओ से प्रमर्दन करनेवाला, विकालचारी (=रात्रि में भी भ्रमण करने में निर्भय), और साहसिक 'दढपइण्ण' बालक पूर्णत भोगानुभव करने की शक्ति-वाला होगा ।

टिप्पण- 'नवाग सुप्पप्रतिबोधित' अर्यात् दो कान्, दो आँखें, दो घ्राण (=नाक), एक जिह्वा, एक न्वचा और एक मन-ये नव अंग, जो बाल अवस्था के कारण सोये हुए-से (=अव्यक्त चेतनावाले) थे वे जागृत (=व्योवन से व्यक्त चेतनावाले) हुए ।

तए णं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो वावत्तरिकलापंडियं ...जाव अलं भोगसमत्थं वियाणित्ता, विउत्तेहिं अएण-

भोगेहिं पाणभोगेहिं लेणभोगेहिं वत्थभोगेहिं सयणभोगेहिं
उवणिमंतेहिंति ।

तव माता-पिता 'दढपइण्ण' बालक को बहोत्तर कला में पण्डित ..जाव पूर्ण भोग-समर्थ जानकर, विपुल अन्नभोग (=अन्नादि खाने योग्य भोग्य पदार्थ), पानभोग (=पानी आदि पीने योग्य पदार्थ), लयनभोग (=गृह आदि निवास योग्य पदार्थ), वस्त्रभोग (=वस्त्र आदि पहनने योग्य पदार्थ), और शयन-भोग (=शय्या आदि सोने-आराम करने योग्य पदार्थ) में जोड़ेंगे ।

तए णं से दढपइण्णे दारए तेहिं विउल्लेहिं अण्णभोगेहिं
...जाव सयणभोगेहिं णो सज्जिहिइ, णो रज्जिहिइ, णो
गिज्झिहिइ, णो मुज्झिहिइ णो अज्झोववज्जिहिइ ।

वह 'दढपइण्ण' बालक अन्न आदि भोगों में सग (=सम्बन्ध स्थापित) नहीं करेगा, राग-रज्जित नहीं होगा, अप्राप्त भोगों की आकाक्षा नहीं करेगा और अत्यन्त लीन नहीं होगा ।

से जहाणामए उप्पले इ वा, पउमे इ वा, कुसुमे इ वा, नल्लिणे
इ वा, सुभगे इ वा, सुगधे इ वा, पोंडरीए इ वा, महापोंड-
रीए इ वा, सयपत्ते इ वा, सहस्सपत्ते इ वा, सयसहस्सपत्ते
इ वा, पंके जाए, जल्ले संवुड्ढे णोवलिप्पइ पंकरणं, णोवलि-
प्पइ जल्लरणं, एवमेव 'दढपइण्णे' वि दारए कामेहिं जाए,

भोगेहिं संबुद्धे, णोत्रलिप्पिहिइ कामरणं, णोत्रलिप्पिहिइ
भोगरणं, णोत्रलिप्पिहिइ मित्तणाइणियमसयणसंबंधिपरि-
जणेणं ।

जैसे उत्पल (=नीलकमल) पत्र (=नील कमल), कुमुद
(=रक्त कमल), नलिन (=कुद्ध कुद्ध सान-गुनावी कमल),
सुभग (=सभवतः सुनहरा कमल), गुग्घ (=नील कमल=मन्-
वत हरा कमल), पुण्डरीक (=मकंद कमल), महापुण्डरीक,
शतपत्र (=सी पेंखडीवाला कमल), सहस्रपत्र (=हजार पेंख-
डीवाला कमल) और शतमहस्रपत्र (=नास्य पक्षडीवाला)
कीचड में उत्पन्न हुए और जल में वृद्धि पाए, किन्तु लिप्त नहीं
होते हैं पक-रज (=कीचड के सूक्ष्म कणों) से—लिप्त नहीं होते
हैं जलरज (=जल कण) से । वैसे ही वह 'दृढपइष्ण' बालक
भी काम में उत्पन्न हुआ और भोगों में पला, किन्तु लिप्त नहीं
होगा कामरज (=शब्द और रूपरूपी रज)से, लिप्त नहीं होगा
भोगरज (=गंध, रस और स्पर्श रूप रज) से और लिप्त नहीं
होगा मित्र, सजातीय, भाई-बेटे (=णियग), स्वजन (=मामा
आदि), सम्बन्धी (=श्वसुरादि) और परिजन (=दासो-दाम
आदि) में ।

से णं तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झिहिइ ।
बुज्झित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहिइ ।

वह तथात्प (=जिन आज्ञावर्ती) स्वविरो के समीप

विशुद्ध सम्यग्दर्शन (=केवलबोध) का अनुभव करेगा ।....
फिर गृहवास से निकलकर अनगार बनेगा ।

से णं भविस्सइ अणगारे भगवंते इरियासमिए....जाव गुत्त-
चंभयारी । तस्स णं भगवंतस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स
अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए निरावरणे कसियो पडिपुणो
केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जिहिइ ।

वे होंगे अनगार भगवन्त हलन-चलन में यतनावान्....
यावत् ब्रह्मचर्य के रक्षक नियमों से युक्त ब्रह्मचारी (=गुप्त-
ब्रह्मचारी) । ऐसी चर्या से विचरनेवाले उन भगवन्त को
अनन्त पदार्थों को विषय बनानेवाला (=अनन्त), सर्वश्रेष्ठ
(=अनुत्तर), किसी भी प्रकार की रुकावट (=भीत आदि)
या ओट में रहे हुए पदार्थों को भी जानने में समर्थ (=निव्वा-
घाय), आवरण से रहित, सकल अर्थों का ग्राहक (=कसिण)
और अपने समस्त अशो से युक्त (=पडिपुण) श्रेष्ठ केवल
(समस्त निर्मल आत्म-प्रदेशों के द्वारा स्वतः ही होनेवाला)
ज्ञान (=विशेष अवबोध) और केवल दर्शन (=सामान्य अव-
बोध) उत्पन्न होगा ।

तए णं से दढपइएणे केवली बहूइं वासाइं केवलिपरियागं
पाउणिहिइ । पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं
भूसित्ता, सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेएत्ता, जस्सट्ठाए कीरइ
णगभावे मुंडभावे अणहाणाए अदंतवणाए केसलोए बंभचे-

रवासे अच्छत्तगं अणोहवाहणगं भूमिसेजा फलहसेजा कट्ट-
सेजा परघरपवेसो-लद्धावलद्धं परेहिं हीलणाओ खिस-
णाओ णिंदणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ परि-
भवणाओ पच्चहणाओ उच्चावया गामकंटगा वावीसं परीसहो-
वसग्गा अहियासिज्जति; तमट्टमाराहिता चरिमेहिं उस्सासणि-
स्सासेहिं सिज्जिभहिइ, बुज्जिभहिइ, मुच्चिहिइ, परिणिच्चाहिइ,
सव्वदुक्खाणमंतं करेहिइ ॥१४॥

वे 'दढपइण्ण' केवली बहुत वर्षों तक केवली अवस्था में विचरेगे । फिर एक महीने की कर्ममल को क्षीण करनेवाली क्रिया (=सलेखना) के द्वारा अपने में आपको लीन करके अथवा अपने से ही आपको सेवित करके, भोजन के साठ समयों को बिना खाये-पीये ही काटकर, जिस लक्ष्य के लिए स्वीकार किया था—नग्नभाव (=शरीर और शरीर के सस्कारो के प्रति बेदरकारी), मुण्डभाव (=घर, समाज, देश, राष्ट्र आदि के ममत्त्व सम्बन्धो का त्याग), अस्नान, अदन्तवन (=दांत नहीं घोना), केशलोच(=बालो को उखाडना), ब्रह्मचर्यवास (=वाह्य-अभ्यन्तर आत्मसाधना), छत्र धारण नही करना, जोडे नही पहनना, भूमिशय्या, फलकशय्या, काण्ठशय्या और परघर में प्रवेश—जहाँ चाहे आहार मिला या नही मिला अथवा सन्मान सहित मिला या अपमान सहित मिला, हीलना (जन्म और

कर्म के सम्बन्ध में तिरस्कार), निदना (=मन के द्वारा कुत्सा), खिसना (=लोक के समक्ष कुत्सा), गर्हणा (=अपने समक्ष ही बहुत से व्यक्तियों के बीच अपनी कुत्सा होना), तर्जना (=अगुली आदि बताते हुए या चटखाते हुए 'जानता है रे जाल्म!' इत्यादि कहना), ताडना (=चपेटादि से पिटाई), परिभवना (=पराभव), प्रव्यथना (=लोगों के द्वारा उत्पन्न किये गये भय), इन्द्रियों के लिये उत्कृष्टतर दुःखकर बाईस परीषह (=संयम मार्ग में चलते हुए आने वाले कष्ट) और उपसर्गों (=देवादि कृत सङ्कट) को सहन कर, उस लक्ष्य की आराधना करके, अन्तिम उच्छ्वास-निश्वास में सिद्ध होंगे, बृद्ध होंगे, मुक्त होंगे, परिनिर्वृत्त होंगे और सब दुःखों का अन्त करेंगे।

प्रत्यनीक का... उपपात

४१—से जे इमे गामागर...जाव सणिवेसेसु पव्व-इया समणा भवंति । तं जहा-आयरियपडिणीया उवज्झाय-पडिणीया कुलपडिणीया गणपडिणीया, आयरियउवज्झाय-याणं अयसकारगा अवणकारगा अकित्तिकारगा ।

वे जो ग्राम.. में प्रव्रजित श्रमण होते हैं। जैसे-आचार्य के प्रत्यनीक (विरोधी), उपाध्याय के प्रत्यनीक, कुल के प्रत्यनीक और गण के प्रत्यनीक, आचार्य-उपाध्याय का अपयश करने-

वाले और अनादर करनेवाले ।

बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छताभिणिवेसेहि य अप्पाणं
च परं च तदुभयं च बुग्गाहेमाणा बुप्पाएमाणा विहरित्ता,
बहूइं वासाइं सामखणपरियागं पाउणंति ।

वे (=ग्राचार्यादि के विरोधी) असद्भाव के आरोपण
अथवा उत्पादन और मिथ्याभिनिवेश के द्वारा अपने को, दूसरो
को और स्व-पर को बुरी बात की पकड— असत्य हठाग्रह में
लगाते हुए—असद्भाव (=अनहोनी बातों) की आरोपण—
कल्पना में मजबूत बनाते हुए, विचरण करके, बहुत वर्षों तक
श्रमण पर्याय का पालन करते हैं ।

...पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइय—अपटिकंता काल-
मासे कालं विच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिब्बिसिएसु
देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई...तेरस
सागरोवमाइं ठिई...अणाराइगा । सेसं तं चेव ॥१५॥

.. उन दोषों का आलोचन—प्रतिक्रमण किये बिना ही,
काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट लान्तककल्प (छट्ठे
स्वर्ग) में देवकिल्बिषिको (=चाण्डाल तुल्य देवो) में किल्बि-
षिक (=साफ-सफाई करनेवाले) देव रूप से उत्पन्न होते हैं ।

. स्थिति तेरह सागरोपम की... परलोक के आराधक नहीं ।
शेष पूर्ववत् ।

संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च योनिकों का उपपात

से जे इमे सखिणपंचिदियतिरिक्खजोणिया पज्जत्तया भवंति ।
तं जहा—जलयरा खहयरा थलयरा ।

ये जो संज्ञी (=मनवाले) पञ्चेन्द्रिय (=पाँचो इन्द्रियों-वाले) तिर्यञ्च योनिक (=पशु आदि) पर्याप्तक होते हैं । जैसे—जलचर, नभचर और स्थलचर ।

तेसि एां अत्थेगइयाणां सुभेणां परिणामेणां, पसत्थेहिं अज्झ-
वसाणेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणां कम्माणां
खओवसमेणां ईहावूहमग्गाणगवेसणां करेमाणाणं सण्णी-
पुव्वजाइसग्गे समुप्पज्जइ ।

उनमें से कई जीवों को, शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्य-
वसाय और विशुद्ध लेश्या से तदावरणीय (=पूर्वजन्म की
स्मृति के आवारक) कर्मों का क्षयोपशम होने से, पदार्थों को
जानने में प्रवृत्त हुई बुद्धि और पदार्थों का निश्चयात्मक ज्ञान
करानेवाली बुद्धि के द्वारा वस्तु के स्वकीय धर्मों के अस्तित्व
और परकीय धर्मों के नास्तित्व रूप हेतु से, वस्तुतत्त्व का
निर्णय करते हुए, मनवाले जीव के रूप में किये हुए पहले के
भवों की स्मृति रूप जातिस्मरण पैदा होता है ।

तए णं ते समुप्पण्णजाइसरा समाणा सयमेव पंचाणुव्वयाइं

पडिवञ्जति । पडिवञ्जिता बहूहिं सीलव्ययगुणवेरमण-
पच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा बहूइं वासाइं
आउयं पाल्लेति ।

तब जातिस्मरण ज्ञान के पैदा होने पर, स्वयं ही पांच
अणुव्रतो (=पूर्ण साधना की ओर ले जानेवाले या पूर्ण साधना
का अनुगमन करनेवाले व्रत) को स्वीकार करते हैं । ..बहुत-से
गोलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से
आत्मा को भावित करते हुए, बहुत वर्षों की आयुष्य पाते हैं ।
पाल्लिता भत्तं पच्चक्खंति । बहूइं भत्ताइं अणमणाए छेयंति ।
छेइत्ता आलोइय-पडिकंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा,
उक्कोसेणं सहस्मारे कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तर्हि
तेसि गई...अट्टारस मागरोवमाइं ठिई पणत्ता । परलोगस्स
आराहगा । सेसं तं चेव ॥१६॥

भक्त का प्रत्याख्यान करते हैं । बहु-से भोजन के
समयों को बिना खाये-पीये ही काटते हैं । ..दोषों की आलोचना
करके, उनसे परे होते हैं । समाधि को प्राप्त करते हैं और
काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट सहस्रारकल्प (=आठवे
स्वर्ग) में देव रूप से उत्पन्न होते हैं । ..अठारह सागरोपम की
स्थिति । परलोक के आराधक । शेष पूर्ववत् ।

आजीविक--उपपात

से जे इमे गामागर....जाव संनिवेसेसु आजीविया भवंति ।

तं जहा-दुघरंतरिया तिघरंतरिया सत्तघरंतरिया उप्पलवेटिया
घरसमुदाणिया विज्जुअंतरिया उट्टियासमणा ।

ये जो ग्राम. में आजीविक (=नियतिवादी) होते हैं ।
जसे—एक घर से भिक्षा लेकर, बीच में दो घरों को छोड़कर
भिक्षा लेनेवाले, तीन घर के अन्तर से भिक्षा लेनेवाले, सात
घर के अन्तर से भिक्षा लेनेवाले, नियम विशेष से कमलडठल
की भिक्षा लेनेवाले, प्रत्येक घर पर भिक्षाटन करनेवाले,
बिजली चमकने पर भिक्षा-ग्रहण नहीं करनेवाले और मिट्टी के
बड़े भाजन में प्रविष्ट होकर तप करनेवाले ।

टिप्पण—‘दुघरंतरिया’ पद का अर्थ-विकल्प—‘एक घर से भिक्षा
लेकर, बीच में एक घर छोड़कर, दूसरे घर से भिक्षा लेने वाले ।—(टी०)
इसी प्रकार अन्य संख्यावाचक पदों के विषय में भी समझना चाहिए ।

इन पदों की व्याख्या के विषयमें टीकाकार कहते हैं—‘एषां च
पदानामुत्प्रेक्षया व्याख्या कृते ति’—इन पदों की व्याख्या उत्प्रेक्षा के द्वारा
की गई है । अर्थात् इन पदों का वास्तविक अर्थ टीकाकार को भी उप-
लब्ध नहीं था ।

ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं
पाउणित्ता, कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे
देवत्ताए उव्वत्तारो भवन्ति । तहिं तेसिं गई...वावीसं सागरो-
वमाइं ठिई । अणाराहगा । सेसं तं चेव ॥१७॥

वे इस प्रकार की चर्या से बहुत वर्षों की पर्याय (=अव-
स्था) को पालकर, काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट

अच्युत कल्प (=वारहवे स्वर्ग) में देव रूप से उत्पन्न होते हैं ।
.. बावीस सागरोपम की स्थिति । परलोक के अनाराधक ।
शेष पूर्ववत् ।

अत्तक्कोसिय....उपपात

से जे इमे गामागर.....जाव सण्णिवेसेसु पच्चइया समणा
भवंति । तं जहा-अत्तक्कोसिया परपरिवाइया भूइकम्मिया
भुज्जो भुज्जो कोउयकारगा ।

ये जो ग्राम. .. में प्रव्रजित श्रमण होते हैं । जैसे-आत्मो
त्कर्षिक (=अपना ही उत्कर्ष बतलानेवाले), पर-परिवादिक
(दूसरो के निन्दक), भूतिकर्मिक (=ज्वरादि से पीड़ितों
की उपद्रव से रक्षा के लिये भूति=भभूत-भस्म देनेवाले) और
बार बार कौतुक (=सौभाग्यादि के निमित्त की जानेवाली क्रिया
विशेष) करने-करानेवाले ।

ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्ण-
परियागं पाउणंति । पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइय
अपडिक्कंता, कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं अच्चुए
कप्पे आभिओगेसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तर्हि
तेसिं गई...बावीसं सागरोवमाइं ठिई । परलोगस्स अणारा-
हगा । सेसं तं चेव ॥१८॥

वे इस चर्या से विचरते हुए, बहुत वर्षों की श्रमण

अवस्था को पालते है । ..उन दोष-स्थानो की आलोचना-प्रतिक्रमण किये बिना ही, काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट अच्युतकल्प में आभियोगिक (=सेवक जाति) देवो में देव रूप से उत्पन्न होते है । .. बाईस सागरोपम की स्थिति । परलोक के अनाराधक । शेष पूर्ववत् ।

टिप्पण—उन श्रमणों के देवत्व का कारण चारित्र्य है और सेवकता का कारण आत्मोत्कर्ष आदि है ।—(टी०)

निहनव-उपपात

से जे इमे गामागर...जाव सण्णवेसेसु णिण्हगा भवंति ।
तं जहा-बहुरया, जीवणसिया, अव्वत्तिया, सामुच्छेइया,
दोकिरिया, तेरासिया, अव्वद्धिया ।

ये जो ग्राम.. में निहनव (=जिनोक्त अर्थ के अप-लापक) होते है । जैसे-१ बहुरत (=अनेक समयो के द्वारा ही कार्य की निष्पत्ति माननेवाले), २ जीवप्रादेशिक (=एक प्रदेश भी न्यून हो वह जीव नहीं होता है, अतः जिस एक-प्रदेश की पूर्णता से जीव, जीव रूप से माना जाता है, वही एक-प्रदेश जीव है ऐसा माननेवाले), ३ अव्यक्तिक (=समस्त जगत् अव्यक्त है—ऐसा मत माननेवाले), ४ सामुच्छेदिक (=नरकादि भावो का प्रतिक्षण क्षय होता है—ऐसे मत को माननेवाले), ५ द्वैक्रिया (=एक समय में दो क्रिया का अनुभव होना माननेवाले), ६ त्रैराशिक (=जीव, अजीव और नो जीव रूप तीन

राशियो के माननेवाले) और ७ अवद्विक (=जीव कर्म से अहिकचक्रिवत् स्पृष्ट है, क्षीर-नीरवत् बद्ध नहीं-ऐसे मत के माननेवाले)।

इच्चेते सत्त पवयणणिण्हगा केवल (लं)-चरियालिंग-सामण्णा मिच्छदिट्ठी बहूहि असब्भावुब्भावणाहि मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं य अप्पाणं च परं च तदुभयं च बुग्गाहेमाणा बुप्पाएमाणा विहरित्ता, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति

ये सात प्रवचन के अपलापक, चर्या और लिंग की अपेक्षा से साधुके तुल्य—किन्तु मिथ्यादृष्टि बहुत—से असद्भाव के उत्पादन और मिथ्यात्व के अभिनिवेश के द्वारा स्वयं को, दूसरो को और स्व-पर को झूठे आग्रह में लगाते हुए—असत् आशय में दृढ बनाते हुए, बहुत वर्षों तक साधु अवस्था में रहते हैं।

पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं उवरिमेसु गेवे-
जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई...एक्कतीसं
सागरोवमाइं ठिई । परलोगस्स अणाराहगा । सेसं तं चेव ।

.फिर काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट ऊपरी प्रवेयक में देव रूप से उत्पन्न होते हैं । . एकतीस सागरोपम की स्थिति । परलोक के अनाराधक । शेष पूर्ववत् ।

टिप्पण—ये निह् नववाद क्रमशः जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढाचार्य के शिष्य, अश्वमित्र, गंगाचार्य, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल से उत्पन्न हुए थे । जमालि को छोड़कर, शेष निह् नवों का आविर्भाव भगवान् महावीर

देव के निर्वाण के पश्चात् हुआ था । निहृत्तवों की क्रिया आदि जिनशासन के अनुसार ही होती है । किन्तु सिद्धान्त के किसी एकदेश को लेकर वे हठाप्राही-मिथ्याभिनवेशी बन जाते हैं ।

प्रतिविरत-अप्रतिविरत अल्पआरंभी...का उपपात

से जे इमे गामागर....जाव सण्णवेसेसु मणुया भवंति ।
तं जहा-अप्पारंभा अप्परिग्गहा धम्मिया धम्माणुया
धम्मिद्धा धम्मक्खाई धम्मप्पलोइया धम्मपलज्जणा धम्म-
समुदायारा धम्मेशं चैव वित्तिं कप्पेमाणा, सुसीला सुव्वया
सुप्पडियाणांदा ।

ये जो ग्राम में मनुष्य होते हैं । जैसे-अल्प हिंसक, अल्प परिग्रही, धार्मिक (=श्रुत-चारित्र रूप धर्म के धारक), धर्मानुराग (=धर्म का अनुसरण करनेवाले), धर्मोष्ट (धर्म को ही इष्ट माननेवाले), धर्मख्यायी (=भव्यो के लिये धर्म का कथन करनेवाले), धर्मप्रलोकी (=धर्म को ही उपादेय माननेवाले), धर्मप्ररञ्जन (=धर्म के रंग में रंगे हुए), धर्मसमुदाचार (=धर्म रूप सदाचारवाले), श्रुत या चाग्रि धर्म से अविरोध भाव के द्वारा आजीविका का उपार्जन करनेवाले, सुशील, सुव्रत (=सद्ब्रती) और सुप्रत्यानन्द (=शुभभाव के सेवन में सदा प्रसन्न चित्त रहनेवाले) ।

साहूहिं एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए,
एगच्चाओ अपडिविरया। एवं जाव परिग्गहाओ । एगच्चाओ

कोहाओ माणाओ मायाओ लोहाओ पेजाओ दोसाओ
कलहाओ अम्भखाणाओ पेसुएणाओ परपरिवायाओ
अरतिरतीओ मायामोमाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया
जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया ।

वे साधुओं के पास में अशत प्राणातिपात से क्रिया हटाते हैं, जीवनभर के लिये—अशत नहीं हटाते हैं । इसी प्रकार. यावत् परिग्रह से । अशत क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशून्य, परपरिवाद अरतिरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य से मन, वचन और काया की क्रिया हटाते (=प्रतिविरत=योगनिवृत्त) हैं, जीवनभर के लिए और अशत नहीं हटाते हैं ।

टिप्पण—‘साहृहि’ पदकी सयोजना पूर्ववर्ती ‘सुप्पडियाणदा’ पद से भी हो सकती है और उत्तरवर्ती ‘एगच्चाओ . ’ आदि पदों से भी । पूर्ववर्ती पद से सयोजित होने पर यह अर्थ होगा—‘साधुओं के प्रति अत्युत्तम चित्ताह्लाद रखनेवाले ।’—(टी०)

मिथ्यादर्शन से जन्य अन्ययूथिकों के प्रति वन्दनादि की क्रिया । उससे भाव से तो विरत हैं । किन्तु राजाभियोगादि के कारण अविरत हैं ।—(टी०) । धस्तुतः देखा जाय तो श्रमणोपासक त्याग की दृष्टि से तो सभी सावद्यादि क्रियाओं को त्याज्य ही समझता है । किन्तु निवृत्त होने में शक्त्यनुसार ही प्रवृत्त होता है । अपनी अशत अनिवृत्ति में, वह स्वकीय आत्मिक दुर्बलता का ही दर्शन करता है । अर्थात् दृष्टि में तो पूर्णतः विशुद्धि है, किन्तु प्रवृत्ति में नहीं । अशतः क्रिया-निवृत्ति में भी वही दृष्टि-विशुद्धि कार्य कर रही है । जो सूत्रकार ने ‘विरया’ शब्द के

स्थान पर 'पडिविरया' शब्द का प्रयोग किया है, इसमें यही रहस्य प्रतीत होता है।

एगच्चाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एग-
च्चाओ अपडिविरया । एगच्चाओ करणकारावणाओ पडि-
विरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया । एगच्चाओ
पयणपयावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ पय-
णपयावणाओ अपडिविरया ।

अंशत आरभ-समारभ से जीवनभर के लिये क्रिया-
निवृत्त होते हैं और अशत अनिवृत्त । अंशत करने-कराने से
.. पचन-पचावन से निवृत्त होते हैं—जीवनभर के लिए और
अशत अनिवृत्त ।

एगच्चाओ कोट्टणपिट्टणतज्जणतालणवहबंधपरिकिलेसाओ
पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया । एगच्चाओ
ण्हाणमद्दणवण्णगविलेवणसद्दफरिसरसरुवगंधमल्लालंकाराओ
पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया ।

अशत कुट्टन (= खदिरादि के समान छेद विशेष
करना), पिट्टन (= मुद्गरादि से पीटना), तर्जन (= उपालभ
देना), ताडन (चपेटादि से मारना), वध (= मारना), बन्ध
(= रस्सी आदि से बाधना) और परिकलेश (= बाधाउत्पादन)
से जीवनभर के लिये . और स्नान, मर्दन. वर्णक, विलेपन,
शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध, माल्य और अलङ्कार से जीवनभर

के लिये निवृत्त और अशत अनिवृत्त है ।

जेयावणो तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता⁺ पर-
पाणपरियावणकरा कज्जंति, तत्रो वि जाव एगच्चाओ
अपडिविरया । तं जहा^०—समणोवासगा भवंति ।

और भी इसी प्रकार निन्द्य-पापात्मक क्रिया से युक्त
(=भावद्योग) और कूड-कपट के प्रयोजन से युक्त (=औप-
धिक) कर्मांश व्यापार—जो दूसरो के प्राणो को कष्टकर हो-
करते हैं, उनसे. यावत् अशत. अनिवृत्त है । जैसे कि-श्रमणो-
पासक होते हैं ।

अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरनिज्जर-
किरियाअहिगरणबंधमोक्खकुसला ।

वे जीव और अजीव के स्वरूप को अनेक दृष्टियों से
समझे हुए, पुण्य और पाप के अन्तर्-रहस्य को पूर्णत पाये
हुए और आश्रव (=आत्मा में कर्म-आगमन के मार्ग), सवर
(=कर्म-प्रवाह को रोकने के उपाय), निज्जरा (=देशत. कर्म-
क्षय), क्रिया (=शरीरादि की प्रवृत्ति या प्रवृत्ति से अनिवृत्ति)
अधिकरण (=ससार के आघार या खड्गादि का निर्वर्तन-
सयोजन), बन्ध (=जड़-चेतन के मिश्रण की प्रक्रिया) और
मोक्ष (=चेतन से जड़ का वियोग समस्त कर्मों का क्षय) में
कुशल होते हैं ।

+ सावज्जा अबोहिया कम्मंता-त्ति पा. ।

● से जहानामए-त्तिक्व० ।

असहेजाओ देवासुराणागसुवर्णजकखरकखस्मकिएणरकिंपु-
रिसगरुल- * गंधव्वमहोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ
पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा ।

वे देव (= वैमानिक देव), असुर-नागकुमार (= भवनपति
जाति के देव), सुवर्ण (ज्योतिष्क देव), यक्ष-राक्षस-किन्नर-
किंपुरुष (= व्यन्तर जाति के देव), गरुड (= सुवर्णकुमार),
गन्धर्व-महोरग (= व्यन्तर देव विशेष) आदि देवगणों के द्वारा
निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विचलित नहीं होते हैं ।

णिग्गंथे पावयणे णिस्संक्रिया णिककंखिया णिव्वितिगिच्छा,
लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा अभिगयट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठि-
मिज्जपेम्माणुरागरत्ता- + 'अयमाउसो ! णिग्गंथे पावयणे
अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' ।

वे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में नि शङ्कित, अन्य दर्शन के पक्षपात
से मुक्त और फल के प्रति सदेह रहित होते हैं । वे लब्धार्थ
(= अर्थ को पाये हुए), गृहीतार्थ (= अर्थ को धारे हुए), पृष्टार्थ
(= प्रश्न पूछकर अर्थ को जाने हुए), अभिगतार्थ (= अर्थ को
अनेक दृष्टियों से जाने हुए) और विनिश्चितार्थ (= अर्थ में
पूर्णत निश्चयात्मक बृद्धि रखनेवाले) होते हैं । उनकी अस्थि-
मज्जा तक निर्ग्रन्थ-प्रवचन के प्रेमानुराग से रगी हुई होती है ।

* गरुडे-त्तिक्वचिन्नास्ति ।

+ इणमो निग्गंथे-त्तिक्व० ।

(यह उनका अन्तर्घोष है, कि-) 'आयुष्यमान्' । यह जड-चेतन की ग्रन्थियों को खोलनेवाला प्रवचन ही अर्थ (= सार, जीवन-लक्ष्य का साधक) है, यही परमार्थ (= चरम सत्य, उपकार-परायण) है और शेष (= मुखकर लगनेवाले पदार्थ, उनको पाने की साधना, कुप्रावचन आदि) अनर्थ (= व्यर्थ या हानिकर) है ।'

टिप्पण-मार्ग की सत्यता का सन्देह, अन्य मार्ग का आकर्षण और कार्य की सफलता में डगमगाता हुआ विश्वास साधना के नाशक और अवरोधक है । मार्ग की सत्यता की प्रतीति, अन्यत्र आकर्षण का अभाव और उसकी सफलता का दृढ निर्णय साधना के उत्पादक, प्रेरक और पोषक है ।

लब्धादि पदों के द्वारा बुद्धि के विविध रूपों का निर्देश किया गया है । बुद्धि के सप्राहात्मक, धारणात्मक, जिज्ञासात्मक, प्रदेशात्मक और व्यवसायात्मक कार्य का वर्णन है । बुद्धि के इन विविध रूपों से क्रियाशील होने पर ही साधना में सच्ची प्रीति और मुस्तदी की प्राप्ति हो सकती है ।

'निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ है, परमार्थ है, शेष अनर्थ है'-यह अन्तर्जल्प ही साधना की रीढ़ का कार्य करता है । वे अन्य को प्रेरित करने के लिये भी यही उद्घोष करते हैं ।

ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा * चियत्ततेउर-घरदारप्पवेसा
चउदसट्टमुद्धिपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणु-

× चियत्तघरतेउरपवेसा-त्ति क्व० । 'चिय . पर घरदारप्पवेसा'-
इत्यपि क्व० ।

पालेमाणा, * समणे शिग्गंथे फासुएसणिजेणं असणपाण-
खाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंवलपायपुंछणेणं ओसह-
भेसजेणं पडिहारणं य पीढफलगसेज्जासंथाग्णं पडिला-
भेमाणा विहरंति ।

वे उन्नत स्फटिक के समान निर्मल चित्तवाले श्रीर
कपाट से द्वार को बन्द नही रखनेवाले (अर्थात् सदृशन के लाभ
के कारण कही भी पाषण्डियो से नही डरनेवाले—शोभनमार्ग के
परिग्रहण के कारण निर्भय) होते है । लोगों के अन्त.पुर, गृह
या द्वार में उनका प्रवेश प्रीतिकर होता है अर्थात् अति-धार्मिकता
के कारण सर्वत्र अनाशङ्कनीय होते है । वे चतुदर्शी, अष्टमी,
अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषध (=आत्माकी,
पुष्टि के लिए आहार, अब्रह्म आदि चार तरह के त्याग की
एक दिन-रात की साधना) का विशेष शुद्धिपूर्वक पुनः पुनः
पालन करते हुए, श्रमण-निर्ग्रन्थ के लिए निर्दोष और ग्रहण
करने योग्य अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल
रजोहरण, औषध (=एक द्रव्याश्रित वस्तु अथवा त्रिफलादि
दवा), भैषज्य (=अनेक द्रव्यो की समुदाय रूप वस्तु अथवा
पथ्य), काम हो जाने पर पुनः लौटा दिये जाने योग्य (=पडि-
हारिय) आसन, पाट, निवास स्थान और सस्तारक को प्रति-
लाभित करते (=देते) हुए विचरण करते है ।

टिप्पण—‘ऊसिय... पवेसी’ इन तीन पदों का उपर्युक्त अर्थ वृद्ध-

व्याख्या के अनुसार है। अन्य 'व्याख्या—'ऊसिय'...=अगला से रहित गृहद्वार वाले अर्थात् अतिशय दानी होने के कारण भिक्षुओं के प्रवेश में कोई रुकावट नहीं थी। 'अवंगुय...'=अप्रीति के कारण उनके घर के द्वार सदा खुले थे। 'चियत्त' =अन्त पुर या गृह में मुख्य द्वार से शिष्टजनों का प्रवेश उन्हें अप्रीतिकर नहीं था अर्थात् उनमें इर्ष्या का अभाव था।—(टी०)

विहरित्ता भत्तं पच्चक्खंति । ते वहूइं भत्ताइं अणसणाए
छेदिंति । छेदित्ता आलोइय पडिक्कंता समाहिपत्ता, काल-
मासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उवव-
त्तारो भवंति । तहिं तेसिं गई,...वावीसं सागरोवमाइं ठिई ।
आराहया । सेसं तहेव ॥२०॥

... फिर आहारादि का त्याग करते हैं। बहुत से भोजन के समयों को बिना खाये-पीये काटते हैं। आलोचना प्रतिक्रमण करके, समाधि को प्राप्त होते हैं। काल के समय में काल करके, उत्कृष्ट अच्युत कल्प (=चारहवे स्वर्ग) में देवरूप उत्पन्न होते हैं। बाइस सागरोपम की स्थिति। आराधक। शेष पूर्ववत्।

अनारम्भी....का उपपात

से जे इमे गामागर...जाव सण्णिवेसेसु मणुया भवति । त
जहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया.....जाव कप्पेमाणा
सुसीला सुव्वया सुपडियागंदा साहू सव्वाओ पाणाइवायाओ
पडिविरया.....जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया ।

सव्वाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ...जात्र
मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया ।

ये जो ग्राम-नगर...में मनुष्य होते हैं । जैसे—अहिंसक, अपरिग्रही, श्रुतचारित्र धर्म के धारक...यावत् धर्मानुसार ही वृत्ति करनेवाले, सुन्दर शीलवाले, सद्ब्रती, शुभभाव के सेवन में सदा प्रसन्न—उत्साह युक्त, साधु (=आत्मभाव की साधना में तल्लीन)—जो सम्पूर्णतः प्राणातिपात से अपनी क्रिया निवृत्त कर चुके हैं.. यावत् सम्पूर्णतः परिग्रह . सर्वत क्रोध, मान, माया लोभ . मिथ्यादर्शनशल्य से मन, वचन और काया की क्रिया को हटा चुके हैं ।

सव्वाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया । सव्वाओ करण-
कारावणाओ पडिविरया । सव्वाओ पयणपयावणाओ पडि-
विरया । सव्वाओ कुट्टणपिट्ठणतज्जणतालणवहबंधपरिकिले-
साओ पडिविरया । सव्वाओ एहाणमदणवणगविलेवण
सदफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ पडिविरया । जेयावणो
तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता परपाण परियावणकरा
क्कंति, तओ वि पडिविरया जावजीवाए ।

सर्वत हिंसा से—दूसरो को पीडित करने से.. करने-
कराने से.. पचन-पचावन (=पकाने-पकवाने) से...कूटने-पीटने,
तिरस्कार करने, मार मारने, वध करने, बाँधने और दु खित्त
करने या बाधा-उत्पन्न करने से .सर्वत. स्नान, मर्दन, वर्णक

(=उवटन), विलेपन, गव्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, माल्य और अलङ्कार से निवृत्त हो चुके हैं। और भी जो प्राप्त होनेवाले इसी प्रकार के दूसरों के प्राणों को परितप्त करनेवाली पाप क्रिया से युक्त और कूड-कपटादि आवेश से जन्य कर्माशों को करते हैं—उनसे भी वे जीवन भर के लिए निवृत्त होते हैं।

से जहाणामए अणगारा भवंति—इरियासमिया भासासमिया जाव इणमेव शिगंथं पावयणं पुरओ काउं विहरंति । तेसि णं भगवंताणं एणं विहारेणं विहरमाणाणं अत्थेगइयाणं अणंते....जावकेवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जइ ।

जैसे कि कोई (=यथानामक) अनगार होते हैं—चलने फिरने में, भाषा में यत्नावान, यावत् निर्ग्रन्थ-प्रवचन को ही सन्मुख रखते हुए या दृष्टि के आगे रखकर, विचरण करते हैं। इस प्रकार की चर्या से विचरण करते हुए उन भगवन्तो में से कुछ को अनन्त श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवल दर्शन उत्पन्न होता है।

ते बहूइं वासाइं केवलिपरियागं पाउणंति । पाउणित्ता भत्तं पच्चक्खंति ।...पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदेन्ति । छेदित्ता जस्सइाए कीरइ णग्गभावे... अंतं करंति ।

वे बहुत वर्षों तक केवली अवस्था में विचरण करते हैं।.. फिर मात-पानी का त्याग करते हैं।.. बहुत से भोजन के समयों को निराहार रहकर काट देते हैं।....फिर वे जिस

अर्थ के लिये देह के साज-सँवार से विरक्त बने थे . यावत् उस अर्थ को पाकर...सब दु खो को नष्ट कर देते है ।

जेसिं पि य णं एगइयाणं णो केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जइ;
ते बहूइं वासाइं छउमत्थपरियागं पाउणंति । पाउणित्ता
आवाहे उप्पणणे वा अणुप्पणणे वा भत्तं पच्चक्खंति । ते बहूइं
भत्ताइं अणसणाए छेदंति । छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरइ णग्ग-
भावे...जाव तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं ऊसासणीसासेहिं
अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्यं केवल-
वरणाणदंसणं उप्पाडिंति । तत्रो पच्छा सिज्झिंति •
...जाव अन्तं करेहिंति ।

और कह्यो को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न नहीं होता है । वे बहुत वर्षों तक छद्मस्थ (=कर्मावरण से युक्त) अवस्था में विचरण करते है । ..फिर किसी रोगादि बाधा के उत्पन्न होने या नहीं होने पर भात-पानी को त्याग देते है ।... बहुत से भोजन के समयो को निराहार.. बिताकर, जिस ध्येय से धारण किया था—नग्न भाव .उस ध्येय की आराधना करके, अन्तिम श्वास—नि श्वास में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न और प्रतिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन को

● यहाँ 'सिज्झति.. जाव अंतंकरेति' होना चाहिए । किन्तु प्रति में उपर्युक्त पाठ ही है । शायद अनागत काल को ग्रहण करने के लिये भविष्यकालीन क्रियापद का प्रयोग हुआ हो ?

प्राप्त करते हैं । उसके बाद सिद्ध होंगे . यावत् दु खो का नाश करेगे ।

एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं
किच्चा, उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववत्तारो
भवंति । तहिं तेसिं गई...तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई । आरा-
हगा । सेसं तं चेव ॥२१॥

पुन कोई एक (भविष्य) में एक ही मनुष्य देह को वारण करनेवाले, अनृष्ठान विशेष का सेवन करनेवाले या भय से बचाने वाले, क्षीण होते हुए कर्मों में से शेष रहे हुए कर्मों के कारण, उत्कृष्ट सर्वार्थमिद्ध महाविमान में देवरूप से उत्पन्न होते हैं । वहाँ उनकी तैत्तीस सागरोपम की स्थिति है ।...वे आराधक हैं । शेष पूर्ववत् ।

सर्वकामविरत....का उपपात

से जे इमे गामागर...जाव सण्णवेसेसु मणुया भवंति । तं जहा-सव्वकामविरया सव्वरागविरया सव्वसंगातीता सव्व-सिणोहाइक्कंता अक्कोहा णिकोहा खीणक्कोहा...एवं माणमाया-लोइा, अणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपयडीओ खवेत्ता उप्पि लोयग्ग-पड्डाणा हवंति ॥२२॥

ये जो ग्राम में मनुष्य होते हैं । जैसे-समस्त शब्दादि विषयो से निवृत्त या उनमें उत्सुकता से रहित, विषयाभिमुखता

के कारणरूप समस्त आत्म-परिणाम विशेष से निवृत्त, सभी जगत्-सम्बन्धो से परे रहे हुए, सम्बन्धो के हेतुरूप समस्त स्नेह के त्यागी, क्रोध को विफल करनेवाले क्रोध का उदय ही नहीं होने देनेवाले, क्रोध को क्षीण कर देनेवाले .इसी प्रकार मानादि को भी इसी अवस्था में पहुँचा देनेवाले, क्रमशः आठ कर्म प्रकृतियों को क्षय कर के ऊपर लोकाग्र पर स्थित होते हैं ।

क्रोधोदय के निमित्त कारण के मिलने पर क्रोध का उदय हो चुका है, किन्तु किन्हीं उपायों से उसे बाहर प्रकट होने से रोक दिया जाता है, वह अक्रोध है । निमित्त कारणों के मिलने पर, उनसे परे हटकर या अन्यमनस्कना-प्रसन्नतादि के भाव या ऐसे ही किसी उपाय के द्वारा क्रोध का उदय ही नहीं होने देना-निष्क्रोध है । अनुप्रेक्षादि के समय, अन्तर-समरांगण में क्रोध निःशेष कर देना-क्रोधक्षय है । चारित्रमोहनीय कर्म के अन्य प्रकारों का भी इसी प्रकार क्षय होता है ।

केवलिसमुद्घात के पुद्गल

४२—अणगारे एां भन्ते ! भाविअप्पा केवलि-समुग्घाएणं + समोहए केवलकप्पं लोयं फुसित्ता णं चिड्डइ ? —हंता चिड्डइ ।

भन्ते ! शुद्धात्मा अणगार केवलिसमुद्घात (=मुक्ति के निकट अधिकारी आत्मा के कर्मों की साम्यावस्था के लिये होनेवाली एक विशिष्ट प्रकार की स्वाभाविक आत्मिक

प्रक्रिया) से विस्तृत (=समवहत) होकर, सम्पूर्ण लोक को स्पर्श करके, स्थित रहते हैं ?—हाँ ! स्थित रहते हैं ।

टिप्पण—जीव-परिणति या अर्घ्यवसाय विशेष से आत्म-प्रदेश संकुचित विस्तृत होकर कर्म-प्रदेशों को झाड़ देते हैं—उसे समुद्घात कहते हैं । जैसे कि—पक्षी अपने पखो पर लगी हुई धूलि या जलकी बूँदें, उन्हें फँलाकर सिकोड़कर झाड़ देते हैं ।

से रूपां भंते ! केवलकप्पे लोए तेहिं णिज्जरा पोग्गलेहिं फुडे ?—हंता फुडे ।

भन्ते ! क्या उन खिरे हुए पुद्गलों से सम्पूर्ण लोक व्याप्त होता है ?—हाँ, होता है ।

छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से तेसिं णिज्जरा पोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं, गंधेणं गंधं, रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ ? पासइ ?—गोयमा ! णो इण्णडे समट्ठे ।

भन्ते ! विशिष्ट ज्ञान से रहित मनुष्य क्या उन खिरे हुए पुद्गलो के किञ्चित् वर्णरूप से वर्ण को, गन्धरूप से गन्ध को, रसरूप से रसको, स्पर्शरूप से स्पर्श को जानते हैं—देखते हैं ?

—हे गौतम ! यह आशय सगत नहीं है ।

से केण्णडेणं भंते ! एवं बुच्चइ—छउमत्थे णं मणुस्से तेसिं णिज्जरा पोग्गलाणं णो किंचि वण्णेणं वण्णं...जाव जाणइ-पासइ ?

भन्ते ! आप यह किस आशय से कहते हैं, कि—छद्म-स्थ मनुष्य.. ?

गोयमा ! अयं एां जंबुद्वीवे दीवे सव्वदीवसमुद्घाणं सव्वब्भं-
तरए सव्वखुड्ढाए, वड्ढे तेल्लपूयसंठाणसंठिए, वड्ढे रह
चक्कंवालसंठाणसंठिए, वड्ढे पुक्खरकणियासंठाणसंठिए,
वड्ढे पहिपुण्णचंदसंठाणसंठिए, एकं जोयणसयसहस्सं,
आयामविकखंभेणं, तिण्ण जोयणसयसहस्साइं सोलस-
सहस्साइं, दोण्ण य सत्तावीसे जोयणसए, तिण्ण य कोसे
अट्ठावीसं च धणुसयं, तेरस य अंगुलाइं, अट्ठंगुलियं च
किंचि विसेसाहिए । परिकखेवेणं पण्णत्ते ।

गौतम ! यह जम्बूद्वीप, सभी द्वीप समुद्रों के विलकुल
बीचोबीच सबसे छोटा जम्बूद्वीप, तेलपुत्रे के समान गोल, रथ
के पहिये के समान गोल, कमल के बीजकोश के समान गोल,
पूर्णचन्द्राकार के समान गोल आकारवाला, एक लाख योजन
का लम्बा-चौडा, तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्तावीस
योजन, तीन कोश, एक सौ अट्ठाईस धनुष्य, साढे तेरह अंगूल
और कुछ अधिक पारविवाला है ।

देवे एां महिड्ढीए महजुड्ढए महव्वले महाजसे महासुक्खे
महाणुभावे सविल्लेवणं गंघसमुग्गयं गिण्हइ । गिरिहत्ता
तं अव्वदाल्लेइ । अव्वदाल्लित्ता....जाव इणामेवत्तिकड्डु केवल-
कप्पं जंबुद्वीवं तिहिं अच्चराणिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरि-
अट्ठित्ता एां हव्वमागज्जेज्जा, से णूएां गोयमा ! से केवल-
कप्पे जंबुद्वीवे दीवे तेहिं घाणपोग्गलेहिं फुडे ?-हंता फुडे ।

महा ऋद्धिवान् महाद्युतिवाले, महाबली महायशस्वी महासौख्य के धारक और महानुभाव देव, विलेपन के सुगन्धित द्रव्य से भरे हुए डिब्बे को लेकर खोलता है । ... यावत् उस सुगन्धित द्रव्य को, तीन बार चूटकी बजाने जितने काल में इक्कीस बार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की परिक्रमा करके जल्दी आवे तो हे गौतम ! क्या सम्पूर्ण जम्बूद्वीप उस सुगन्धित द्रव्य से व्याप्त हो जाता है ?—हाँ हो जाता है ।

छउमत्थे णं गोयमा ! मणुस्से तेसिं घाणपोग्गलाणं किंचि वणोणां वण्णं....जाव जाणइ ? पासइ ? भगवं ! णो इणट्ठे समट्ठे । से तेणट्ठेणां गोयमा ! एवं वुच्चइ-छउमत्थे णं मणुस्से तेसिं णिज्जरापोग्गलाणां णो किंचि वणोणां वण्णं.... जाव जाणइ-पासइ । एए सुहुमाणां ते पोग्गला पणत्ता ।

गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य उस सुगन्धित द्रव्य को क्या जानता है ? देखता है ?—भगवन् ! यह संभव नहीं है ।—गौतम ! इसी आशय से कहा कि—छद्मस्थ मनुष्य उन खिरे हुए पुद्गलो के वर्णादि को नहीं जानता है, नहीं देखता है । क्योंकि वे पुद्गल सूक्ष्म होते हैं ।

समणाउसो ! सव्वलोयं पि य णं ते फुसित्ता णं चिट्ठंति ।

और हे आयुष्मान् श्रमण ! वे सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करके स्थिर रहते हैं ।

केवलिसमुद्घात का कारण

कम्हा एं भंते ! केवली समोहणांति ? कम्हा एं केवली समुग्घायं गच्छंति ?

भगवन् ! केवली किस कारण से आत्म-प्रदेशो को फैलाते हैं ?— किस कारण से फैले हुए आत्म-प्रदेशो की स्थिति को प्राप्त होते हैं ?

टिप्पण—टीकाकार की दृष्टि में प्रश्नगत दूसरा वाक्य—'सुख से प्रतिपत्ति के लिए'—कहा गया है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि—पहला वाक्य, केवलिसमुद्घात के कथञ्चित् कर्तृत्व का और दूसरा वाक्य, स्वाभाविक होने का सूचक है ।

गोयमा ! केवलीणं चत्तारि कम्मंसा अपल्लिकखीणां भवंति । तं जहा-वेयण्णिज्जं आउयं णामं गोत्तं । सव्ववहुए से वेयण्णिज्जे कम्ममे भवइ । सव्वत्थोवे से आउए कम्ममे भवइ । विसमं समं करेइ बंधणेहिं ठिईहि य । विसमसमकरणयाए बंधणेहिं ठिईहि य एवं खलु केवली समोहणांति । एवं खलु केवली समुग्घायं गच्छंति ।

गीतम ! केवलियो के चार कर्मणि सम्पूर्णत क्षीण नहीं होते हैं । जैसे—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र । सबसे अधिक वेदनीय कर्म होता है और सबसे कम आयुष्य कर्म होता है । बन्धन (=प्रदेश बन्ध और अनुभाग बन्ध) और स्थिति से

विषम (उन कर्मों) को सम करते हैं। इस प्रकार केवली विषम कर्मों को सम करने के लिए समुद्घात करते हैं—समुद्घात को प्राप्त होते हैं।

सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ?—णो इण्ढे समद्धे ।

अकित्ता णं समुग्घायं, अणंता केवली जिणा ।

जरामरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ॥१॥

भन्ते ! क्या सभी केवली समुद्घात को प्राप्त होते हैं ?

—यह बात नहीं है। क्योंकि—

बिना किये समुद्घात, अनन्ता केवली जिन ।

हो जन्म-मृत्यु से मुक्त, सिद्धि सुगति को गये ॥

केवलि समुद्घात का स्वरूप

कइसमइए णं भंते ! आवज्जीकरणं⁺ पण्णत्ते ? —गोयमा !

असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पण्णत्ते

भन्ते ! आवर्जीकरण कितने समय का होता है ?

—गौतम ! असह्यात समय के अन्तर्मुहूर्त का होता है ।

टिप्पण—उदीरणावतिका में कर्म के प्रक्षेप की क्रिया को आवर्जीकरण कहते हैं। —टी०

केवलीसमुग्घाए णं भंते ! कइसमइए पण्णत्ते ? गोयमा !

अट्ठसमइए पण्णत्ते ।

भन्ते ! केवलिसमुद्घात कितने समय की होती है ?

—गौतम ! आठ समय की होती है ।

तं जहा-पठमे समए दंडं करेइ । विइए समए क्वाडं करेइ ।
तईए समए मंथं करेइ । चउत्थे समए लोयं पूरेइ । पंचमे
समए लोयं पडिसाहरइ । छडे समए मंथं पडिसाहरइ । सत्तमे
समए क्वाडं पडिसाहरइ । अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरइ ।
तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ ।

पहले समय में ऊँचे और नीचे लोकान्तगामी अपने जीवप्रदेशों को, ज्ञानाभोग (=ज्ञान द्वारा होनेवाली जानकारी) से अपने शरीर जितने मोटे, दण्डाकार बनाते हैं । दूसरे समय में दण्डवत् बने हुए आत्मप्रदेशों को किवाड़ की तरह आज्ञु बाजु पूर्वापर दिशा में फैलाते हैं । तीसरे समय में कपाटवत् बने हुए आत्म-प्रदेशों को दक्षिण-उत्तर दिशा में फैलाते हैं—जिससे मथानी जैसा आकार हो जाता है । चौथे समय में लोक-शिखर सहित मन्थान के आंतरों को पूरते हैं । पाँचवे समय में मन्थान के आंतरों के पूरक लोक (=आत्म-प्रदेशों) को सहृत करते हैं । अर्थात् मन्थानवत् हो जाते हैं । छट्ठे समय में मन्थानवत् (=दक्षिणोत्तर दिशावर्ती) आत्म प्रदेशों को सहृत करके, कपाटवत् स्थित हो जाते हैं । सातवे समय में कपाटवत् (=पूर्व-पश्चिमवर्ती) आत्म-प्रदेशों को सहृत करके, दण्डस्थ करते हैं और आठवे समय में दण्डवत् (=ऊपर-नीचे-

वर्ती) आत्म-प्रदेशो को महत् करते हैं । इसके बाद शरीरस्थ होते हैं ।

से णं भन्ते ! तहा समुग्घायं गए किं मणजोगं जुंजइ ? वय-
जोगं जुंजइ ? कायजोगं जुंजइ ? गोयमा ! णो मणजोगं
जुंजइ । णो वयजोगं जुंजइ । कायजोगं जुंजइ ।

भन्ते ! समुद्घात को प्राप्त केवली क्या मानसिक क्रिया करते हैं ? या वाचिक क्रिया करते हैं ? या कायिक क्रिया करते हैं ? हे गौतम ! मानसिक क्रिया नहीं करते हैं । किन्तु कायिक क्रिया करते हैं ।

कायजोगं जुंजमाणे किं ओगलियसरीरकायजोगं जुंजइ ?
ओरालियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ? वेउव्विय सरीरकाय-
जोगं जुंजइ ? वेउव्वियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ? आहारग-
सरीरकायजोगं जुंजइ आहारगमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ?
कम्मग + सरीरकायजोगं जुंजइ ?

हे भगवन् ! कायिक क्रिया करते हुए, क्या औदारिक शरीर (=शेष पुद्गलो की अपेक्षा स्थूल पुद्गलो से बने हुए शरीर) से कायिक क्रिया करते हैं ? या औदारिक मिश्र शरीर (=कामण और औदारिक दोनों शरीरो से एकसाथ) से या वैक्रिय शरीर (=विशिष्ट कार्य करने में सक्षम सूक्ष्म पुद्-

‡ मोस त्ति पा०

+ 'कम्मा.' त्ति पा०

गलो से बने हुए शरीर) से या वैक्रियमिश्र (=कर्मण या औदारिक से मिश्रित वैक्रिय) शरीर से या आहारक (विशिष्ट तर पुद्गलो से निष्पन्न)शरीर से या आहारकमिश्र (=औदारिक से मिश्रित आहारक) शरीर से या कर्मण-शरीर से कायिक क्रिया करते हैं ?

गोयमा ! ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ । ओरालियमिस्स-
सरीरकायजोगंपि जुंजइ । णो वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ ।
णो वेउव्वियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ । णो आहारगसरीर
कायजोगं जुंजइ । णो आहारगमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ।
कम्मगसरीरकायजोगं पि जुंजइ ।

हे गौतम ! औदारिक शरीर से कायिक क्रिया करते हैं और औदारिक मिश्र शरीर से भी कायिक क्रिया करते हैं । वैक्रिय शरीर से वैक्रियमिश्र शरीर से आहारक शरीर से और आहारकमिश्र शरीर से कायिक क्रिया नहीं करते हैं । कर्मण शरीर से भी कायिक क्रिया करते हैं ।

पढमट्टमेसु समएसु ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ । विइय-
छट्टमत्तमेसु समएसु ओरालियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ।
तईयचउत्थपंचमेहिं कम्मासरीरकायजोगं जुंजइ ।

पहले और आठवें समय में औदारिक शरीर से कायिक क्रिया करते हैं । दूसरे, छट्ठे और सातवें समय में औदारिक मिश्र शरीर से कायिक क्रिया करते हैं, और तीसरे, चौथे और



पाँचवें समय में कामण शरीर से कार्या क्रिया करते हैं ।

समुद्घात के बाद की योग प्रवृत्ति

से णं भंते ! तहा समुग्वायगाण् लिज्झड ? वुज्झड ? मृच्चड ?
परिनिव्वाड ? सच्चदुक्खाणमंतं करेड ?—णो इणट्टे ममट्टे ।

भन्ते ! क्या कोई समुद्घातगन (=समुद्घात में स्थित रहते हुए ही) सिद्ध होते हैं ? बुद्ध होते हैं ? मृत्यु होते हैं ? परिनिर्वृत्त होते हैं ? सब दुःखों का ग्रन्थ करते हैं ? हेर्गातम ! यह बात नहीं है ।

से णं तत्रो पडिनियत्तड् । पडिनियत्तित्ता इहमागच्छड् ।
आगच्छित्ता तत्रो पच्छा मणजोगं पि जुंजड् । वयजोगं पि
जुंजड् । कायजोगं पि जुंजड् ।

उससे (=समुद्घात से) प्रतिनिर्वृत्त होते हैं । यहाँ अर्थात् इस मनुष्यलोकगत शरीर में स्थित होते हैं । फिर मन की क्रिया भी करते हैं, वचन की क्रिया भी करते हैं और काया की क्रिया भी करते हैं ।

मणजोगं जुंजमाणे किं सच्चमणजोगं जुंजड् ? मोसमणजोगं
जुंजड् ? सच्चामोसमणजोगं जुंजड् ? असच्चामोसमणजोगं
जुंजड् ?—गोयमा ! सच्चमणजोगं जुंजड् । णो मोसमणजोगं
जुंजड् । णो सच्चामोसमणजोगं जुंजड् । असच्चामोसमणजोगं
पि जुंजड् ।

मन की क्रिया में सलग्न होते हुए, क्या सत्य मन की क्रिया में या असत्य मन की क्रिया में या सत्यमृषा (=सच-भूठ =मिश्र) मन की क्रिया में या असत्य-अमृषा (=न सच न भूठ =व्यवहार) मन की क्रिया में सलग्न होते हैं ? हे गौतम ! सत्य मन की क्रिया करते हैं । असत्य मन की और सत्यमृषा मन की क्रिया नहीं करते हैं । असत्य-अमृषा मन की क्रिया भी करते हैं ।

वयजोगं जुंजमाणे किं सच्चन्द्रजोगं जुंजइ ? मोमवइजोगं जुंजइ । सचामोमवइजोगं जुंजइ ? असचामोसवइजोगं जुंजइ । गोयमा ! सच्चन्द्रजोगं जुंजइ । णो मोसवइजोगं जुंजइ । णो सचामोसवइजोगं जुंजइ । असचामोसवइजोगं पि जुंजइ ।

वचन की क्रिया में प्रवृत्त होते हुए, क्या सत्य वचन या मृषा वचन, या सत्यमृषा वचन या असत्य-अमृषा वचन योग की प्रवृत्ति करते हैं ?

हे गौतम ! सत्य वचन योग की प्रवृत्ति करते हैं । मृषा वचनयोग की और सत्य-मृषा वचनयोग की प्रवृत्ति नहीं करते हैं । असत्य-अमृषा वचनयोग की भी प्रवृत्ति करते हैं ।

टिप्पण—मन.पर्यव ज्ञानी या अनुत्तर विमानवासी वेदों के द्वारा मन से पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देने के लिये केवली भगवान् मनोयोग की प्रवृत्ति करते हैं और जीवादि पदार्थों की प्ररूपणा करते हुए सत्यवचन-योग की प्रवृत्ति करते हैं और आमन्त्रणादि में असत्य-अमृषा वचनयोग की प्रवृत्ति करते हैं । —(टी०)

कायंजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा चिद्धेज्ज वा णिसीएज्ज वा तुयद्धेज्ज वा उल्लंघेज्ज वा पल्लंघेज्ज वा, उक्खेवणां वा पक्खेवणां वा तिरियक्खेवणां वा करेज्जा, पाडिहारियं वा पीढ-फलह(ग)सेज्जासंथारगं पच्चप्पिणोज्जा ।

काययोग की प्रवृत्ति करते हुए, आते हैं, ठहरते हैं, बैठते हैं, सोते हैं, लांघते हैं, विशेष लांघते हैं, उत्क्षेपण (=उछालना), अवक्षेपण (=नीचे डालना) और तिर्यक्क्षेपण (=आजू-बाजू या आगे-पीछे रखना) । अथवा ऊँची, नीची और तिरछी गति करते हैं और लोटाने योग्य आसन, पटिये, शय्या और सस्तारक लौटाते हैं ।

टिप्पण-केवलिसमुद्घात के पश्चात् अन्तर्भूत में योगनिरोध होता है ।-(टी०)

पावटिप्पण-केवलिसमुद्घात नियमत. फिसे करना पडती है ?- इस विषय में मतभेद है । यथा-

यां षाण्मासाधिकायुष्को, लभते केवलोद्गमम् ।

करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥

-छहमास और छहमास से अधिक आयुष्यवाले को केवलज्ञान होने पर, वे अवश्य समुद्घात करते हैं और छह माहिने से न्यून आयुष्यवाले को केवलज्ञान होने पर, वे समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते ।

-गुणस्थान क्रमारोह ।

आवश्यक निर्युक्ति से भी इसी कथन की पुष्टि होती है । यथा-
'छम्मासाउ-सेसे, उप्पण जेसि केवलंणाण ।

ते णियमा समुग्घाया, सेसा समुग्घाय भइयव्वा ॥

किन्तु आवश्यक-चूर्णकार का मन्तव्य, इससे विलकुल विरुद्ध है। यथा—'येऽन्तर्मुहूर्तमार्दि, कृत्वोत्कर्षेण आमासेभ्यः षड्भ्यः आयुषोऽवशिष्टेभ्यः अभ्यन्तराविर्भूत केवलज्ञान पर्यायास्ते नियमात् समुद्घातं कुर्वन्ति। ये तु षड्मासेभ्यः उपरिष्टादाविर्भूतकेवलज्ञाना. शेषास्ते समुद्घातबाह्याः। ते समुद्घातं न कुर्वन्ति—इत्यर्थः। अथवा अयमर्थ—शेषा. समुद्घातं प्रतिभाज्याः।

—जो मनुष्य अन्तर्मुहूर्त से लगाकर, छह महीने जितना आयुष्य शेष रहने पर केवलज्ञान प्राप्त करें, तो अवश्य समुद्घात करते हैं। किन्तु जिन मनुष्यों का आयुष्य छह महीने से अधिक हो, वे केवलज्ञान प्राप्त करें तो समुद्घात से बाह्य है। अर्थात् वे समुद्घात नहीं करते हैं। अथवा शेष (=छह महीने से अधिक आयुष्यवाले) समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं।

यद्यपि नियुक्ति की—'छम्मासाउ सेसे ..'इस गाथा का अर्थ चूर्णकार के मतानुकूल भी हो सकता है। फिर भी दोनों पक्ष खड़े रहते ही हैं। अतः तत्त्व कैवलिगम्य।

—प्रश्नोत्तर मोहनमाला प्रश्न ३७ का उत्तर पृ १०५-१०८

योग-निरोध और सिद्धि

४३—से णं भंते ! सजोगी सिञ्भइ....जाव अंतं करेइ ?—णो इण्डे समडे ।

भन्ते ! क्या सयोगी (=मन, वचन और काया से सक्रिय) सिद्ध होते हैं ? ...यावत् सब दुःखो का अन्त करते हैं ?—हे गौतम ! ऐसा आशय ठीक नहीं है।

से एां पुव्वामेव सखिणस्स पचिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहणण-
जोगस्स : हेड्ढा असंखेज्जगुणपरिहीणां पढमं मणजोगं निरुं-
भइ ।

(हि गीनम ।) वे सबसे पहले पर्याप्तक सजी पञ्चेन्द्रिय के जघन्य मनोयोग के नीचले स्तर से असख्यात गुण हीन मनोयोग का निरोध करते हैं । अर्थात् योग-निरोध का आरभ करनेवाले केवली सब से पहले पर्याप्त सजी पञ्चेन्द्रिय के अल्पतम मान-सिक व्यापार के अमख्यातवे भाग जितने मनोव्यापार रहता है, शेष सब का निरोध कर देते हैं ।

तयाणांतरं च णं विंदियस्स पज्जत्तगस्स जहणणजोगस्स हेड्ढा
असंखेज्जगुणपरिहीणां विडयं वयजोगं निरुंभइ ।

इसके बाद पर्याप्तक द्वीन्द्रिय जीव के जघन्य वचनयोग के नीचले स्तर से भी असख्यात गुण हीन दूमरे वचनयोग का निरोध करते हैं । अर्थात् उम जीव की निम्नतम स्तरीय वाचिक प्रवृत्ति की अमख्यातवें भाग जितनी वाचिक प्रवृत्ति रहती है, शेष सब का निरोध कर देते हैं ।

तयाणांतरं च एां सुहुमस्स पणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहणण-
जोगस्स हेड्ढा असंखेज्जगुणपरिहीणां तईयं कायजोग निरुंभइ ।

इसके पश्चात् अपर्याप्त सूक्ष्म पनक (=फूलन) जीव

के जघन्य योग के नीचले स्तर से असख्यातगुण हीन तीसरे काययोग का निरोध करते हैं ।

से णं एणं उवाएणं पढमं मणजोगं निरुंभइ निरुंभित्ता, वय-
जोगं निरुंभइ । वयजोगं निरुंभित्ता कायजोगं निरुंभइ ।
कायजोगं निरुंभित्ता जोगनिरोहं करेइ ।

इस उपाय से पहले मन की क्रिया को रोक करके वचन की क्रिया को रोकते हैं । वचन की क्रिया को रोककर काया की क्रिया का निरोध करते हैं और काया की क्रिया को रोककर, योग-निरोध (=मन वचन और काया से सवधित होनेवाली आत्मा की प्रवृत्ति की रोक) करते हैं ।

टिप्पण—‘एण उवाएणं’ शब्दों से यह अर्थ झलकता है, कि—केवली तथा कथित (=पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय द्वीन्द्रिय और अपर्याप्त पनक) जीवों की निम्नस्तरीय योग प्रवृत्ति के असख्यातवे भाग जितनी रही हुई योग प्रवृत्ति को समय-समय में क्रमशः रोकते हुए, पूर्णतः योग-निरोध करते हैं । यथा—

पज्जत्तमेत्त सन्निस्स, जत्तियाइं जहम्म जोगिस्स ।

होति मणोदव्वाइ, तव्वावारो य जम्मत्तो ॥

तदसंखगुण विहीण, समए समए निरुंभमाणो सो ।

मणसो सव्वनिरोह, करे असखेज्ज समएहि ॥

एवमन्यदपि सूत्रद्वय नेयम् । .. (टीकाया उद्धृतगाथे)।

—अर्थात् जघन्य योगी पर्याप्त संज्ञी की जितनी मनोद्रव्य की और मनोव्यापार की मात्रा होती है, उससे भी असख्यात गुण हीन मात्रा में मन का समय समय पर निरोध करते हुए, केवली असख्यात समय में

मन का पूर्णत निरोध कर देते हैं ।

इसी प्रकार शेष दो सूत्रों के विषय में भी यही समझना चाहिए ।

काययोग के निरोध के बाद तो योग निरोध हो ही जाता है, फिर अलग से योग-निरोध का कथन क्यों किया गया है ?—वीर्य के द्वारा योगों की प्रवृत्ति होती है। उस योग-प्रवृत्ति के मूल करणवीर्य का निरोध जहाँ तक नहीं होता है वहाँ तक पूर्णत. योग-निरोध नहीं माना जाता । उस करणवीर्य का निरोध भी अकरणवीर्य से हो जाता है । अर्थात् काय-योग के निरोध के बाद केवली करणवीर्य से हटकर, अकरणवीर्य में पूर्णत. स्थित हो जाते हैं । संभवत यही दशनि के लिए योग-निरोध और अयोगता का कथन अलग से हुआ है ।

जोगनिरोहं करेत्ता * अजोगत्तं पाउणंति । अजोगत्तं पाउ-
णित्ता ङसिंहस्मपंचक्खरउच्चारणद्वाए असंखेज्जसमइयं अंतो-
मुहुत्तियं सेलेसिं पडिधज्जइ ।

योग निरोध करके अयोगी अवस्था को प्राप्त होते हैं । अयोगी अवस्था (=मन, वचन और काया की क्रिया से रहित अवस्था) को प्राप्त करके, ईषत्स्पृष्ट पांच ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण जितने काल की—असख्यात समय के अन्तर्मुहूर्त के काल की—शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं ।

टिप्पण—अयोगी अवस्था के अलग-से कथन में यह भी रहस्य हो सकता है, कि—जो आत्मपरिणति योग-निरोध के लिये प्रवृत्त हुई थी उसका भी, कार्य पूरा हो जाने के कारण शमन हो गया ।

अ, इ, उ, ऋ और लृ ये पांच ह्रस्व अक्षर हैं । इनका न व्रत न

* अजोगयं—इति पा. ।

विलम्बित, किन्तु मध्यम उच्चारण ग्रहण किया गया है—(टी.)।

कहा है—

ह्रस्वखराराड मज्ज्जेण जेण कालेण पंच भण्णति ।

अच्छइ सेलेसिगओ, तत्तिय मेत्त तओ कालं ॥

आशय स्पष्ट है।

—टीकोद्धृत गया

शैलेश=मेरु, मेरु-सी स्थिर-अडोल अवस्था=शैलेशी । अथवा शीलेश=सर्व संवर रूप चारित्र के प्रभु । शीलेश की योगनिरोध रूप अवस्था=शैलेशी । (टी.)

पुत्ररइयगुणसेटीयं च एां कम्मं तीसे सेलेसिमद्वाए असंखे-
जाहिं गुणसेटीहिं अणंते कम्मंसे खवेइ । वेयणिजाउयणाम-
गुत्ते इच्चेते चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ ।

उस शैलेशी काल में पूर्व रचित (=शैलेशी अवस्था से पहले रचा गई) गुण श्रेणी रूप में रहे हुए कर्मों को—असंख्यात गुण श्रेणियों में रहे हुए अनन्त कर्मांशों को क्षीण करते हैं । वेदनीय, आयुष्य नाम और गोत्र इन चारों कर्मांशों का एक साथ क्षय करते हैं ।

टिप्पण—सामान्यतः कर्म, बहु, अल्प, अल्पतर और अल्पतम रूप से निर्जरा के लिये रचे जाते हैं, किन्तु जब परिणाम विशेष से, वे ही कालान्तर में वेद्य कर्म, अल्प, बहु, बहुतर और बहुतम रूप से, शीघ्रतर क्षय करने के लिये, रचे जाते हैं, तब वह रचना—प्रकार 'गुणश्रेणी' नाम से कहे जाते हैं । (टी) अर्थात् जहाँ गुण की वृद्धि से, असंख्यात गुणी निर्जरा, समय—समय पर अधिक होती है, वह गुणश्रेणी है ।

खवित्ता ओरालियतेयाकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं
विप्पजहइ । विप्पजहित्ता उज्जूसेटीपडिवन्ने अफुसमाणगई
उडुं एककसमएणं अविग्गहेणं गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ ।

. एक साथ क्षय करके, श्रौदारिक, तैजस् और कार्मण
को, अग्रेष विविध त्यागो के द्वारा. त्याग देते है । . फिर
ऋजुश्रेणी (=प्राकाश प्रदेशो की अवक्र-सीधी पक्ति) के
आश्रित होकर, अपृश्यमानगति (=अस्पृश्यद्गति) वाले सीधे
एक समय में ऊँचे जाकर, साकारोपयोग (=ज्ञानोपयोग) में
सिद्ध होते है ।

तत्रस्थित सिद्ध का स्वरूप

ते णं तत्थ सिद्धा हवंति-सादीया अपज्जवसिया अगरीरा
जीवघणा दंसणनाणोवउत्ता निट्ठियट्ठा निरेयणा नीरया
णिम्मला वितिमिरा विसुद्धा सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति ।

वहाँ (=लोकाग्रपर) वे सिद्ध होते है । आदि सहित,
अन्त रहित, शरीर रहित, जीवघन, ज्ञान और दर्शन रूप
(साकार और अनाकार) उपयोग से युक्त, सब प्रयोजनो से
निवृत्त, कम्पन से रहित=निश्चल, बद्धचमान (=रजरूप आते
हुए) कर्मों से रहित, पूर्वबद्ध कर्मों से मुक्त, अज्ञान से रहित
और विशुद्ध (=अमिश्रित शुद्ध जीव स्वरूपवाले) होकर,
अनागत अद्धाकाल भविष्य काल में शाश्वत (=अविनश्वर)
रहते है ।

टिप्पण—कई अन्य मतावलम्बियों की सिद्ध स्थान विषयक मान्यता इस प्रकार है—

‘रागादि वासना से मुक्त सिद्धों की स्थिति का कोई नियत स्थान नहीं है’ । या ‘मुक्त व्योमवत् सर्वत्र स्थित रहते हैं’ । यथा—

रागादि वासना मुक्तं, चित्तमेव निरामयम् ।
सदाऽनियत देशस्थं, सिद्ध इत्यभिधीयते ॥

अथवा—गुणसत्त्वान्तरज्ञानाभिवृत्त प्रकृति क्रियाः ।

मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापवर्जिता ॥

—टीका में उद्धृत श्लोक

सिद्धि-स्थान विषयक इन मान्यताओं का निरसन करने के लिये ‘तत्त्व’ (=तत्र=लोकाप्रपर) शब्द का प्रयोग हुआ है ।

कई शरीरधारियों को भी सिद्ध मानते हैं । यथा—
अणिमाद्यष्टविध प्राप्यैश्वर्यं कृतिनः सदा ।

मोदन्ते निर्वृतात्मानस्तोर्णाः परम दुस्तरम् ॥ (—टीकागत उ. श्लोक)

इस प्रकार के मत का निरसन असरीरा विशेषण से होता है (—टी.) जो जीव की सिद्धि नहीं मानते हैं और जो जीव की मुक्तावस्था मानकर भी पुन लौटनेवाला मानते हैं, उनके मतों का निषेध क्रमशः ‘सादिया’ और ‘अपज्जवसिया’ विशेषण से हो जाता है । जो मुक्त अवस्था में चेतना और ज्ञानादि नहीं मानते हैं, उनके मत का निषेध ‘जीव घणा वंसणणाणोवउत्ता’ विशेषणों से होता है । जो सिद्ध आत्माओं का अनुकपादि कारणों से पुनरवतार मानते हैं, उनका मत ‘निट्टियट्टा’ विशेषण पद से निर्मूल हो जाता है । सिद्धों के परभाव के कर्तृत्व का निषेध ‘निरेयणा’ (=निरेजना) शब्द से, पर से प्रभावित होने का निषेध ‘नीरया’ शब्द से, पर से आवद्ध होने का निषेध ‘णिम्मला’ पद से, किसी से छले जाने

का निषेध 'वित्तिमिरा' शब्द से और आत्मभाव में स्थिति का प्रतिपादन 'विसुद्धा' शब्द से होता है। यहवचनान्त विशेषण इसलिए है कि-सिद्ध अनन्त है और स्वरूपत एक-से होते हुए भी व्यक्तित मय भिन्न है।

से केणट्टेणं भंते ! एवं चुच्चइ-ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया अपज्जवसिया....जाव चिट्ठंति ?-गोयमा ! से जहा-णामए वीयाणं अग्गिट्ठ्ठाणं पुणरवि अंकुरुप्पत्ती ण भवइ । एवामेव सिद्धाणं कम्मवीए दट्ठे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवइ । से तेणट्टेणं गोयमा ! एवं चुच्चइ-ते णं तत्थ सिद्धा भवंति सादीया अपज्जवसिया....जाव चिट्ठंति ।

भन्ते ! किस आशय से इस प्रकार कहते हैं, कि-वहाँ वे सिद्ध होते हैं, सादि अनन्त रहित यावत् शाश्वत रहते हैं ?

गीतम ! जैसे अग्नि से जले हुए बीजों की पुनः अकुर रूप उत्पत्ति नहीं होती है। उसी प्रकार कर्म-बीजों के जल जाने पर सिद्धों की भी पुनः जन्मरूप उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए गीतम ! इस प्रकार कहता हूँ, कि-‘वे वहाँ सिद्ध होते हैं . अनागत काल में शाश्वत रहते हैं।’

टिप्पण—जन्म=कर्मकृत प्रसूति। कर्म के निमित्त से होनेवाली उत्पत्ति का अभाव बताने के लिये ‘जम्मुप्पत्ती’ शब्द कहा गया है। क्योंकि प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और द्रौव्य युक्त ही सद्भाव होता है। अतः वहाँ परिणामान्तर रूप उत्पत्ति होती है।—(टी)

सिद्धयमान के संहननादि

जीवा णं भंते ! सिज्जमाणा कयरंमि संघयणे सिज्जंति ?

-गोयमा ! वङ्गरोसभणारायसंघयणे सिज्भंति ।

भन्ते ! सिद्धचमान (=सिद्ध होने वाला) जीव कौन से सहनन (=हड्डियों के बन्धन) में सिद्ध होते हैं ?

-गौतम ! वज्रऋषभनाराच सहनन (=कीलिका और पट्टी सहित मर्कट बन्धमय सन्धियों वाला हड्डियों का बन्धन) में सिद्ध होते हैं ।

जीवा एं भंते ! सिज्भमाणा कयरंमि संठाणे सिज्भंति ?

-गोयमा ! छण्हं संठाणाणं अण्णयरे संठाणे सिज्भंती ।

भन्ते ! सिद्धचमान जीव कौन-से आकार में सिद्ध होते हैं ?

-गौतम ! छह सस्थान (=आकार) में से किसी भी सस्थान में सिद्ध होते हैं ।

टिप्पण—सहनन भी छह हैं और संस्थान भी छह हैं । वज्रऋषभ-नाराच, ऋषभ नाराच (=मर्कट बन्ध और पट्टी से युक्त सन्धियों वाला) नाराच (=मर्कट बन्ध युक्त सन्धियों वाला), अर्द्ध नाराच (=एक तरफ मर्कट बन्ध और एक तरफ कीलिका युक्त सन्धियों वाला), कीलिका (=कीलिका युक्त सन्धियों वाला) और सेवार्त (=कमजोर सन्धियों वाला) —ये छह सहनन हैं और समचतुरस्र (=सुडोल, योग्य माप से युक्त), व्यग्रोधपरिमंडल (=बटवृक्ष के समान नाभि के ऊपर के अवयव सुन्दराकार और नीचे के अवयव बेडोल), सादि (=नीचे का अंग सुडोल और ऊपर का अंग बेडोल), वामन (=ठिगना कद) कुब्ज (=कुचडा) और हुड (=कुत्तिसत—बेडोल)—ये छह प्रकार के संस्थान हैं ।

जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरंमि उच्चे सिज्झंति ?
-गोयमा ! जहण्णेणं सत्तरयणीओ, उक्कोसेणं पंचधणुस्सए
सिज्झंति ।

भन्ते ! सिद्धचमान जीव कितनी ऊँचाई में सिद्ध होते हैं ?

-गीतम ! जघन्य सात हाथ और उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष की ऊँचाई में सिद्ध होते हैं ।

टिप्पण-सात हाथ की ऊँचाई में सिद्ध होते हैं-महावीर स्वामी-वत् और पाँच सौ धनुष में सिद्ध होते हैं-ऋषभस्वामीवत् । यह ऊँचाई का प्रमाण तीर्थङ्करों की अपेक्षा से कहा गया है । अतः दो हाथ की ऊँचाईवाले कूर्मपुत्र और पाँच सौ धनुष से कुछ अधिक ऊँचाईवाली मरुदेवी के सिद्ध होने से कोई द्वेषण नहीं आता ।-(टी०)

टीकाकार का उपर्युक्त कथन जघन्य के लिए सगत प्रतीत होता है । क्योंकि सिद्धों की जघन्य श्रवणाहना, दो हाथ की ऊँचाईवाले व्यक्ति के सिद्ध होने पर ही, संभव हो सकती है । जो कि आगे सातवीं गाथा से स्पष्ट है । उत्कृष्ट श्रवणाहना पाँच सौ धनुष से अधिक बतलाई है वह सगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इसी सूत्र में आगे पाचवीं गाथा में सिद्धों की उत्कृष्ट श्रवणाहना ३३३३ धनुष बताई है । अतः पाँच सौ धनुष से अधिक बताना मूलपाठ से विरुद्ध है ।

जीवा णं भंते ! सिज्झमाणा कयरंमि आउए सिज्झंति ?
-गोयमा ! जहण्णेणं साइरेगड्ढासाउए, उक्कोसेणं पुच्च-
कोडियाउए • सिज्झंति ।

भन्ते ! सिद्धयमान जीव कितने आयुष्य मे सिद्ध होते है ?

-गीतम ! जघन्य आठ वर्ष से अधिक आयुष्य में श्रीर उत्कृष्ट कोटिपूर्व की आयुष्य मे सिद्ध होते है । अर्थात् आठ वर्ष से ऊपर की आयुष्य से लगाकर क्रोडपूर्व तक की आयुष्य तक सिद्ध हो सकते है । इससे कम या ज्यादा आयुष्यवाले मनुष्य सिद्ध नहीं हो सकते हैं ।

टिप्पण-सित्तर लाख, छप्पन हजार क्रोड वर्ष का एक पूर्व होता है ।

सिद्धों का निवासस्थान

अत्थि शं भन्ते ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसन्ति ?-णो इण्णहे समद्धे । एवं जाव अहेसत्तमाए ।

भन्ते ! क्या इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे सिद्ध निवास करते है ?-नही, यह आशय ठीक नहीं है । इसी प्रकार सातो पृथ्वियो के विषय में समझना चाहिए ।

टिप्पण-यद्यपि पहले 'तत्थ सिद्धा भवन्ति'-इस सूत्र के द्वारा सिद्धों के निवास स्थान का सङ्केत किया जा चुका है । तथापि मुग्घ शिष्य के कल्पित विविध लोकाग्र भागो का निषेध करते हुए वास्तविक लोकाग्र के स्वरूप का विशेष बोध देने के लिये प्रश्न-उत्तर किये गये है ।-(टी.)

शिष्य की कल्पना है, कि-'रत्नप्रभा पृथ्वी का अधोभाग भी किसी अपेक्षा से लोकाग्र ही है ।' इसी प्रकार शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, घून्नप्रभा, तम प्रभा और तमस्तम प्रभा इन पृथ्वियों के अधो-भाग के विषय में भी इसी प्रकार की कल्पना है । 'यह आशय ठीक नहीं है'-भगवान् यह उत्तर देकर, उन कल्पनाओं का निषेध करते है ।

अत्थि णं भंते ! सोहमस्स कप्पस्म अहे सिद्धा परिवसंति ?
 --णो इण्डे समडे । एवं सव्वेसि पुच्छा--ईसाणस्स सण-
 कुमारस्स.....जाव अच्चुयस्स गेविज्जविमाणाणां अनुत्तर-
 विमाणाणां ।

भन्ते ! क्या सिद्ध, सीवर्मकल्प के नीचे निवास करते हैं ?
 --यह आशय ठीक नहीं है ।

इसी प्रकार ईशान, सनत्कुमार . अच्युत, ग्रैवेयकविमान
 और अनुत्तरविमान--सबकी पृच्छा समझना चाहिए

अत्थि णं भंते ! ईसीपव्वभाराए पुठवीए अहे सिद्धा परिवसंति ?
 --णो इण्डे समडे ।

तो क्या भन्ते ! सिद्ध, ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे
 निवास करते हैं ? यह आशय ठीक नहीं है ।

से कहिं खाड णं भंते ! सिद्धापरिवसंति ?

गोयमा ! इमीवे रयणप्पहाए पुठवीए बहुसमरमणिज्जाओ
 भूमिभागाओ उड्डं चंदिमस्सरियग्गहगणणक्खत्तताराभवणाओ
 वहुइं जोयणाइं वहुइं जोयणसयाइं, वहुइं जोयणसहस्साइं,
 वहुइं जोयणमयमहस्साइं, वहुओ जोयणकोडिओ, वहुओ
 जोयण-कोडाकोडीओ उड्डतरं उप्पइत्ता सोहम्मीसाणसां-
 कुमारमाहिंदवंभलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणयआरण-
 च्चुय तिण्णिण य अट्टारे गेविज्जविमाणावाससाए वीइवइत्ता,

विजयवेजयंतजयंतअपराजियसव्वट्टसिद्धस्स य महाविमाणस्स
सव्व उपरिल्लाओ धूमियग्गाओ दुवालसजोयणाइं अवाहाए
एत्थ एं ईसीपम्भारा णाम पुढवी पणत्ता ।

भते ! फिर सिद्ध कहाँ रहते हैं ?

गौतम ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बहुसम रमणीय भूमि-
भाग से ऊपर चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और ताराओ के भवनों
से, बहुत-से योजन, बहुतसे सैकड़ो योजनो, बहुत-से हजार
योजनो, बहुत-से सौ-हजार योजनो, बहुत-से क्रोड योजनो और
बहुत-से क्रोडाक्रोड योजनो से ऊर्ध्वतर जानेपर सौधर्म, ईशान
सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आणत,
प्राणत, आरण और अच्युत कल्प, ३१८ ग्रैवेयक विमान-आवास
को पार कर, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थ-
सिद्ध महाविमान के शिखर के अग्रभाग से वारह योजन के
अन्तर (=ग्रवाहा) से इस स्थल पर ईषत्प्राग्भारा नाम की
पृथ्वी है ।

पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणां, एगा
जोयणकोडी, वायालीसं सयसहस्साइं, तीसं च सहस्साइं,
दोएण य अउणापएणे जोयणसए, किंचि विसेसाहिए
परिरएणां ।

वह पृथ्वी पैंतालीस लाख योजन की लम्बी-चौड़ी है
और एक क्रोड, बयालीस लाख, तीस हजार, दो सौ गुणपचास
योजन से कुछ अधिक उसकी परिधि है ।

ईसिपवभारा य णं पुठवीए बहुमज्झदेसभाए अट्टजोयणिए
खेत्ते, अट्टजोयणाइ वाहल्लेणं । तथाऽणंतरं मायाए मायाए
पडिहायमाणी पडिहायमाणी सव्वेसु चरिमपेरंतेसु मच्छिय-
पत्ताओ तणुयतरा, अगुलस्स असंखेज्जइभागं * वाहल्लेणं
पणत्ता ।

वह ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी बहुमध्य देशभाग में, आठ
योजन जितने क्षेत्र में, आठ योजन मोटी है। इसके बाद थोड़ी-
थोड़ी कम होती हुई, सबसे अन्तिम छोरो पर मक्खी की पाँख
से भी पतली है। उस छोरे की मोटाई अगुल के असख्येय भाग
जितनी है।

ईसीपवभाराए णं पुठवीए दुवालस णामधेज्जा पणत्ता । तं
जहा-ईसी इ वा, इसीपवभारा इ वा, तरणु इ वा, तणुतरणु
इ वा, सिद्धी इ वा, सिद्धालए इ वा, मुत्ती इ वा, मुत्तालए
इ वा, लोयग्गे इ वा, लोयग्गथूमिया इ वा, लोयग्गपडि-
वुज्झणा इ वा, सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहा इ वा ।

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के बारह नाम हैं। जैसे-१ ईषत्
(=अल्प, हलकी या छोटी), २ ईषत्प्राग्भारा (=अल्प बड़ी),
३ तनु (=पतली), ४ तनुतनु (=विशेष पतली), ५ सिद्धि, ६
सिद्धालय (=सिद्धो का घर) ७ मुक्ति, ८ मुक्तालय, ९ लोकाग्र,
१० लोकाग्रस्तूपिका (=लोकाग्र का शिवर), ११ लोकाग्रप्रति-

बोधना (=जिसके द्वारा लोकाग्र जाना जाता हो ऐसी) और १२ सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को सुखावह ।

टिप्पण—सिद्धों और मुक्तों के समीप में होने के कारण इस पृथ्वी को सिद्धि आदि नाम से पुकारा गया है ।—टी०

प्राण (=द्वीन्द्रियादि), भूत (=वनस्पति), जीव (=पञ्चेन्द्रिय) और सत्त्व (=पृथ्वी आदि चार स्यावर) । शीतादि दुःख-हेतुओं का अभाव होने के कारण, वहाँ पृथ्वी आदि रूप से उत्पन्न जीवों के लिए, वह पृथ्वी सुखावह है ।—(टी०)

ईसीपवभारा णं पुढवी सेया आयंस[†]तलविमलसोल्लियमुणा-
लदगरयतुप्पारगोक्खीरहारवण्णा उत्ताणयच्छत्तसंठाणसंठिया
सव्वज्जुणसुवण्णमई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया
खिम्मला खिप्पंका णिककंऊडच्छाया समरीचिया सुप्पभा
पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ।

ईषत्प्रारभारा पृथ्वी, दर्पण के तल-सी विमल, सौल्लिय (=एक प्रकार का फूल सभवतः मुचकुन्द), कमलनाल (=मृणाल =मृणाल), जलकण, तुषार, गाय के दूध और हार के समान वर्णवाली—श्वेत है । उलटे छत्र के आकार के समान आकार में रही हुई है और अर्जुनस्वर्ण—(=सफेद सोना) मयी है । वह आकाश या स्फटिक-सी स्वच्छ कोमल परमाणुओं के स्कन्ध से निष्पन्न, घुण्टित (=घोटकर चिकनी की हुई-सी), वस्तु के समान तेज शान-से घिसी हुई-सी, सुकुमार शान-से सँवारी हुई-

सी या प्रमार्जनिका से शोधी हुई-सी, रज से रहित, मल से रहित, आर्द्रमल से रहित, अकलङ्क, अनावरण, छाया या अकलङ्क शोभावाली, किरणों से युक्त, सुन्दर प्रभावाली, मन के लिये प्रमोदकारक (=प्रासादीय), दर्शनीय (=जिसे देखते हुए मनन अघाते न हो ऐसी), अभिरूप (=कमनीय) और प्रतिरूप (=देखने के बाद जिसका दृश्य आँखों के सामने धूमता ही रहे ऐसी) है ।

ईसीपब्भाराए णं पुढवीए सीयाए जोयणंमि लोणंते । तस्स जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए, तस्स णं गाउयस्स जे से उवरिल्ले छ्भागे तत्थ णं सिद्धा भगवंतो सादीया अपञ्जवसिया + अणोगजाइजरामरणजोणिवेयणं संसारकलंकलीभावपुण्णभवगम्भवासवसहीपवंचमइक्कंता सासयमणागयमद्धं चिद्धंति ॥

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के तले से उत्सेधागुल से एक योजन पर लोकान्त है । उस योजन का जो ऊपर का कोस है, उस कोस का जो ऊपर का छट्ठा भाग है, वहाँ सिद्ध भगवन्त, जन्म, जरा, और मरण प्रधान अनेक योनियों की वेदना और सत्सार में पर्यटन (=कलङ्कलीभाव=दुःख की घबराहट) से बार बार उत्पत्ति-गर्भवास में निवास के प्रपञ्च (=विस्तार) से परे बनकर, शाश्वत अनागत काल में सादि-अनन्त रूप से स्थित रहते हैं ।

+अणोग.. जोणि सत्सार कलं.. पवच समइक्कंता-इति पा ।

सिद्ध-स्तवना

कहिं पडिहया सिद्धा ? कहिं सिद्धा पडिड्डिया ? +
कहिं वोदिं चड्त्ताणं ? कत्थ गंतूण सिज्भई ॥१॥

सिद्ध कहाँ रुकते हैं ? सिद्ध कहाँ स्थित होते हैं ?
और कहाँ देह को त्यागकर, कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ?

टिप्पण—जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है। अतः यह शङ्का उठना सहज है, कि-सिद्ध हमेशा भ्रमणशील ही रहते हैं या कहीं रुकते हैं ?—यदि रुकते हैं तो रुकने का क्या कारण है ? जिसका निमित्त मिलने पर, रुकते हैं, तो क्या उससे टकराकर वापिस लौटते हैं या कहीं स्थित रहते हैं ? वे जहा स्थित होते हैं—वहीं शरीर छोड़ते हैं या अन्यत्र ? अर्थात् उनका जो स्थान है, वहा जाकर देह छोड़ते हैं या अन्यत्र ? जहा देह त्यागते हैं, वहीं कृतकृत्य हो जाते हैं या अन्यत्र ? प्रायः ऐसी जिज्ञासाएँ इन प्रश्नों के मूल में रही हुई है।

अल्लोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पडिड्डिया ।

इहं वोदिं चड्त्ताणं, तत्थ गंतूण सिज्भई ॥२॥

सिद्ध अलोक से रुकते हैं। लोकाग्र पर स्थित होते हैं और मनुष्य लोक में देह को छोड़कर, वहाँ (=लोकाग्र) पर जाकर, कृतकृत्य होते हैं।

टिप्पण—प्रतिहत अर्थात् आनन्तर्यवृत्ति मात्र का स्थलन। (-टी.) सिद्धों को अलोक में गति बन्द हो जाने के कारण—१ गतिसहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय का अभाव, २ शरीर-त्याग के प्रयोग से इतनी ही गति

+ पडिड्डिया—इति अन्यत्र ।

होना, ३ सिद्ध जीवों का लौकिक द्रव्य होना-आदि । तिरछे या नीचे गति नहीं करने का कारण-जीवद्रव्य का मुक्तता के कारण ऊर्ध्वगमन स्वभाव । देहादि से मुक्ति तो मनुष्य लोक में ही होजाती है । पूर्णतः मुक्ति और सिद्धि में एक समय का भी अन्तर नहीं होता है । किन्तु निश्चयदृष्टि लोकाग्र पर प्रतिष्ठित हो जाने के बाद ही उन्हें सिद्ध मानती है ।

जं संठाणं तु इहं, भवं चयं तस्स चरिमसमयंमि ।
आसी य पएसघणां, तं संठाणां तहिं तस्स ॥३॥

मनुष्यलोक के भव के देह में जो प्रदेशघन आकार, अन्तिम समय में बना था, वही आकार उनका वहा पर होता है ।

दीहं वा हस्सं वा, जं चरिमंभवे हवेज्ज संठाणां ।
तत्तो तिभागहीणं, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥४॥

छोटा या बड़ा, जैसा भी अन्तिमभव में आकार होता है, उससे तीसरे भाग जितने कम स्थान में सिद्धो की व्याप्ति -जिनेश्वर देव के द्वारा कही गई है ।

तिरिण सया तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ बोधव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥५॥

तीन सौ तेत्तीस धनुष और धनुष का तीसरा भाग (अर्थात् ३२ अगुल), यह सर्वज्ञ कथित सिद्धो की उत्कृष्ट श्रवणाहना जानना चाहिए ।

चत्तारि य रयणीओ, रयणित्तिभागूणिया य बोधव्वा ।

एसा खलु सिद्धाणां, मज्झिमओगाहणा भणिया ॥६॥

चार हाथ और तीसरा भाग कम एक हाथ (=सोलह अंगुल) —यह सर्वज्ञकथित सिद्धों की मध्यम अवगाहना जानना चाहिए ।

एक्का य होइ रयणी, साहीया अंगुलाइं अट्ठ भवे ।

एसा खलु सिद्धाणां, जहरणओगाहणा भणिया ॥७॥

एक हाथ और आठ अंगुल अधिक—यह सर्वज्ञकथित सिद्धों की जघन्य अवगाहना है ।

टिप्पण—सिद्धों की यह उत्कृष्टादि अवगाहना ५०० धनुष मानादि जितने ऊँचे मनुष्यों की, खड़े रहकर मुक्त होने की अपेक्षा से कही गई है । क्योंकि वैठी हुई अवस्था में सिद्ध होनेवालों की अवगाहना अन्यथा भी होती है । —(टी०)

नाभिकुलकर की अवगाहना सवापाँचसौ धनुष की थी । 'उच्चत्तं चेव कुलगरेहिं सम'— इस वचन से मरुदेवी की इतनी ही ऊँचाई थी । तो उत्कृष्ट अवगाहना से अधिक अवगाहना में उनके सिद्ध होने से, क्या विरोध नहीं आता है ?— यद्यपि कुलकरतुल्य उनकी पत्नी की ऊँचाई कही गई है । तथापि वह प्रायिक है । स्त्रियाँ प्रायः पुरुषों की अपेक्षा लघु होती हैं । अतः उनकी ऊँचाई पाँच सौ धनुष की हुई । अथवा वृद्ध-काल में देहसङ्कोच के कारण इतनी ऊँचाई हुई । अथवा वे वैठी हुई सिद्ध हुईं, अतः विरोध नहीं है । या यह अवगाहना बहुलता की अपेक्षा से कही गई है और मरुदेवी की सिद्धि आश्चर्यकल्प है । अतः विरोध नहीं है ।

—(टी०)

पहले जघन्य सात हाथ की ऊँचाईवालों की ही सिद्धि कही गई है तो फिर सिद्धों की जघन्य अवगाहना एक हाथ घ्राठ अगुल की कर्मे हो सकती है ?—यह सात हाथ ऊँचे व्यक्ति की सिद्धि तीर्थंशुओं की अपेक्षा से है। दो हाथ के ऊँचे कूर्मापुत्रादि सिद्ध हुए हैं। घत सिद्धों की जघन्य अवगाहना उनकी अपेक्षा से ममज्ञना चाहिए। अन्य हम प्रकार कहते हैं—सिद्धों हुए अगोपांगवाले मात हाथ के ऊँचे व्यक्ति के सिद्ध होने की अपेक्षा से, सिद्धों की जघन्य अवगाहना कही गई है।—(टी०)

ओगाहृणाए सिद्धा, भवत्तिभागेण होइ परिहीणा ।
संठाणमणित्थं, जरामरणविप्पमुक्काणं ॥२॥

सिद्ध अन्तिम भव की अवगाहना से तीसरे भाग जितनी कम अवगाहनावाले होते हैं। जरा और मरण से त्रिलकुल मुक्तों का आकार किसी भी लौकिक आकार से नहीं मिलता है (=इत्थ=इस प्रकार+थ=स्थित, अणित्थय=इस प्रकार के आकारों में नहीं रहा हुआ हो ऐसा) ।

जत्थ य एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवक्खयविमुक्का ।
अणोणममवगाढा, पुट्ठा सव्वे य लोगंते ॥६॥

जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ भव के क्षय से विमुक्त, (वर्मि-स्तिकायादिवत्) अचिन्त्य परिणामत्व से परस्पर अवगाह अन्त सिद्ध है और सब लोकान्त का स्पर्श कर रहे हैं।

फुसइ अणंते सिद्धे, मव्व पएसेहिं णियमसो सिद्धा ।
ते वि असंखेज्जगुणा, देसपएसेहिं जे पुट्ठा ॥१०॥

सिद्ध, निश्चय ही सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशो से अनन्त सिद्धों का स्पर्श करते हैं और उन सर्वात्म प्रदेशो से स्पृष्ट सिद्धो से असख्येय गुण वे सिद्ध हैं -जो देशप्रदेशो से स्पृष्ट हैं ।

असरीरा जीवघणा, उत्रउत्ता दंसणे य णाणे य ।
सागारमणागारं, लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥११॥

वे सिद्ध अशरीरी, जीवघन और दर्शन और ज्ञान—इन दोनो उपयोगो में क्रमश स्थित हैं । साकार (=विशेष उपयोग =ज्ञान) और अनाकार (=सामान्य उपयोग=दर्शन) चेतना—सिद्धो का लक्षण है ।

टिप्पण—वस्तु के भेदयुक्त ज्ञान को साकार उपयोग कहते हैं और वस्तु के अभेदज्ञान को अनाकार उपयोग । सिद्धान्तपक्ष इन दोनों उपयोगों की प्रवृत्ति सिद्धों में भी क्रमशः मानता है । इस पक्ष के पोषक जिनभद्रगणि आदि आचार्य हैं । कुछ आचार्य दोनो उपयोगों को युगपद् मानते हैं और सिद्धसेन दिवाकर तर्कबल से इस मत की स्थापना करते हैं कि—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग में, केवली अवस्था में किसी प्रकार का भेद नहीं है । दिगम्बर सम्प्रदाय में युगपद् उपयोग का ही प्रतिपादन है । स्थानकवासी सम्प्रदाय सिद्धान्तपक्ष को ही मान्यता देता है । सिद्धांतिकों की दृष्टि में—‘जानने में प्रवृत्त होना’ और ‘देखने में प्रवृत्त होना’ अर्थात् ‘विशेष ज्ञानोपयोग की स्थिति’ और ‘सामान्य ज्ञानोपयोग की स्थिति’—ये आत्मा के एक ही गुण की दो पर्यायें हैं । पर्यायें क्रमवर्ती ही हो सकती हैं । अतः सिद्धों को भी विशेषज्ञान और सामान्य-ज्ञान क्रमशः ही होते हैं । साकार और अनाकार उपयोग ही सिद्धों का लक्षण है ।

केवलणाणुवउत्ता, जाणंति सव्वभावगुणभावे ।

पासंति सव्वओ खलु, केवलदिट्ठी अणंताहिं ॥१२॥

केवलज्ञानोपयोग से सभी वस्तुओं के गुण और पर्यायों को जानते हैं और अनन्त केवलदृष्टि से सर्वत (=चारों ओर से) देखते हैं ।

टिप्पण—(अ) इस गाथा के द्वारा केवलज्ञान और केवलदर्शन का भेद स्पष्ट किया गया है । जब पदार्थों को सर्वत देखा जाता है, तब वे पदार्थ सावयव होते हुए भी अभिन्न रूप से दिखाई देते हैं और जब उनके गुणादि की ओर दृष्टि रहती है, तब उनमें भेद ही भेद दिखाई देता है ।

(आ) द्रव्य=गुण और पर्याय का आश्रय ।

गुण=पदार्थव्यापी अज्ञ अर्थात् पदार्थव्यापी ऐसा अज्ञ, जो वैसे ही अन्य अज्ञों के साथ पदार्थ में अविरोधी रूप से रहता हो ।

पर्याय=पदार्थ की क्रमवर्ती अवस्था ।

(इ) सिद्ध अन्तर्मुख ही होते हैं—बहिर्मुख नहीं । यह जो सर्व-द्रव्यादि का ज्ञान होता है, वह उनकी अन्तर्मुखता के कारण ही होता है । आत्मा तो स्व-उपयोग का ही स्वामी है । अर्थात् स्व-उपयोग की लीनता में ही यह विशेषता है कि—उसमें सभी द्रव्यादि का ज्ञान स्वत होता है । आगम काल के पश्चात् जो ये भेद हुए हैं कि केवली व्यवहार दृष्टि से ही सर्व द्रव्यादि को जानता है और निश्चयदृष्टि से तो अपनी आत्मा को ही जानता है—वे मात्र समझने के लिये ही हैं । वस्तुतः स्व-उपयोग में व्यवहार-निश्चय रूप भिन्न दृष्टियों से कोई विशेष अन्तर नहीं है ।

एषि श्रुत्वि माणुसाणं, तं सोक्खं ए वि य सव्वदेवाणं ।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वावाहं उवगयाणं ॥ १३ ॥

न तो मनुष्यों को ही वह सुखानुभव है और न सभी देवों को ही, जो सौख्य अव्यावाध (=बाधा-पीड़ा रहित) अवस्था को प्राप्त सिद्धों को है ।

जं देवाणं सोक्खं, सव्वद्धापिंडियं अणंतगुणं ।

ए य पावइ मुत्तिसुहं, एंताहिं वग्गवग्गूहिं ॥ १४ ॥

तीनों काल से गुणित जो देवों का सौख्य है, उसे अनन्त बार वर्गवर्गित किया जाय, ऐसा वह अनन्तगुण सौख्य भूक्तिसौख्य के बराबर नहीं हो सकता है ।

टिप्पण— जितनी सख्या हो, उतनी संख्या से गुणित करने पर जो गुणनफल आता है, उसे वर्ग कहा जाता है । जैसे—दो से दो को गुणित करने पर, 'चार' वर्ग हुआ । जो उस वर्ग का भी वर्ग हो, उसे वर्गवर्ग कहते हैं । जैसे—दो का वर्ग चार और चार का वर्ग सोलह । ऐसे अनन्त बार वर्गवर्गित देवों का सुख, सिद्धों के सौख्य के तुल्य नहीं हो सकता । टी.

चूणिकार ने—'णन्ताहि...' पद का सम्बन्ध 'भुत्तिसुह' के साथ जोड़कर यह अर्थ किया है—'अनन्त खण्ड खण्डों से खण्डित सिद्धसुख'—अर्थात् सिद्धों के सुख के अनन्तानन्ततम खण्ड की समता भी, देवों का सार्वकालिक सुख, नहीं कर सकता है । —(टी०) क्योंकि देवों का सुख पौद्गलिक सुख से मिश्रित है । जबकि सिद्धों का सुख विशुद्ध आत्मिक है ।

सिद्धस्स सुहो रासी, सव्वद्धापिंडियो जइ हवेज्जा ।

सोऽणंतवग्गभइओ, सव्वागासे ए माएज्जा ॥ १५ ॥

एक सिद्ध के सुख को तीनो काल से गुणित करने पर जो सुख की राशि हो, उमे अनन्तवर्ग से भाजित करने पर जो सुख की राशि उपलब्ध होती है, वह मुखराशि भी सम्पूर्ण आकाश में नहीं समा सकती ।

टिप्पण—यहाँ विशिष्ट आह्लाद रूप सुख ग्रहण किया है । शिष्ट-जनों की सुख शब्द की प्रवृत्ति जिसके लिये होती है, उस आह्लाद की श्रवधि करके, वहाँ से आरम्भ करके, एक-एक गुण की वृद्धि के तारतम्य के द्वारा, उस आह्लाद की यहाँ तक वृद्धि करे कि वह अनन्तगुण वृद्धि के द्वारा निरतिशय निष्ठा को प्राप्त होजाय अर्थात् कल्पनातीत राशि हो जाय । ऐसा वह अत्यन्त, उपमा से रहित और एकान्तिक श्रीत्सुक्य निवृत्तिरूप, निश्चलतम महोदधि के समान चरम आह्लाद ही सिद्धो के सदा होता है । उस प्रथम चार से (=भवत. सुखानुभव के पहले स्तर से) ऊपर तक के अन्तरालवर्ती आह्लाद के तारतम्य के द्वारा जो विशेष-विशेष रूप से स्तर बनते हैं, वे समस्त आकाशप्रदेशों से भी अधिक होते हैं । अत. कहा—'सव्वागाते ण माएज्जा' । यदि अन्यथा हो तो उनकी प्रतिनियत देश में श्रवस्थिति किस प्रकार हो सकती है—यो आचार्य कहते हैं ।—(टी०) ।

इस गाथा का वृद्धोक्त विवरण का यह आशय है—'यह जो सुख-भेद है, वे सिद्धसुख के पर्यायरूप से कहे गये हैं । उस अपेक्षा से क्रम से उत्कृष्ट करते हुए उस सुख के भेद को उपचार से अनन्ततम स्थानवर्तिता की प्राप्ति होती है । असद्भाव स्थापना से उस सुखराशि को हजार मान लिया जाय और समयराशि को सौ । हजार को सौ से गुणित किया तो लाख हुए । यह गुणन किया गया—सर्व समय संबन्धी सुख पर्यायों की उपलब्धि के लिये । तथा अनन्त राशि को 'दश' रूप से मान लिया । उसका वर्ग हुआ

सौ। वर्ग से प्राप्त संख्या सौ के द्वारा लक्ष को अपवर्तित किया तो हजार ही हुए। अतः पूज्यों ने कहा—'समीभूत (=तुल्यरूप) ही है—यह आशय है।' यहाँ जो यह सुखराशि का गुणन और अपवर्तन हुआ है, उसकी हम इस प्रकार सभावना करते हैं, कि— यहाँ अनन्त राशि से गुणित होने पर भी— अनन्तवर्ग अर्थात् अनन्तानन्त रूप अतीव महास्वरूप से अपवर्तित होने पर, किञ्चिद् अवशेष रहता है; वह राशि भी अति महान् है। उससे भी सिद्धों की सुखराशि महान् है—ऐसी बुद्धि शिष्य में उत्पन्न करने के लिये अथवा गणितमार्ग से व्युत्पत्ति करने के लिये—(यह प्रयास है)।—(टी०)

अन्य इस गायत्री की व्याख्या इस प्रकार करते हैं— सिद्ध के सुखों की पर्यायराशि $\times \times \times$ जो सर्वसमयों से सम्बन्धित है, उसे सङ्कलित की—उस सङ्कलित राशि को अनन्तवार वर्गमूल से अपवर्तित की अर्थात् अत्यन्त लघु बनाई। जैसे—सर्वसमय सम्बन्धी सिद्धों की सुखराशि ६५५३६ है। इसे वर्ग से अपवर्तित करने पर २६६ हुई। वह स्ववर्ग से अपवर्गित होने पर १६, सोलह से चार और चार से दो—यह अतिलघु राशि प्राप्त हुई। वह भी सम्पूर्ण आकाश प्रदेशों में भी नहीं समा सकती है। —(टी०)

जह गाम कोड मिच्छो, नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो ।
न चएइ परिकहेउं, उवमाए तहि असंतीए ॥१६॥

जैसे कोई म्लेच्छ (=जगली मनुष्य) बहुत तरह के नगर के गुणों को जानते हुए भी, वहाँ (=जगल में) नगर के तुल्य कोई पदार्थ नहीं होने से, नगर के गुणों को कहने में समर्थ नहीं हो सकता है।

इय सिद्धाणां सोऽखं, अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं ।

किंचि दिसेसेणेत्तो, ओवम्ममिणां सुणह वोच्छं ॥१७॥

वैसे ही सिद्धों का सुख अनुपम है । यहा उसकी बरा-बरी का कोई पदार्थ नहीं है । फिर भी कुछ विशेष रूप से उसकी उपमा कहता हूँ—सो सुनो ।

टिप्पण—

म्लेच्छ कोऽपि महारण्ये, वसति स्म निराकुल ।

अन्यदा तत्र भूपालो, दुष्टाश्वेन प्रवेशितः ॥१॥

म्लेच्छेनासौ नृपो दृष्टः, सत्कृतश्च यथोचितम् ।

प्रापितश्च निज देश, सोऽपि राज्ञा निज पुरम् ॥२॥

ममायमुपकारीति, कृतो राज्ञाऽतिगौरवात् ।

विशिष्टभोगभूतीना, भाजन जनपूजितः ॥३॥

ततः प्रासादशृंगेषु, रम्येषु, काननेषु च ।

वृत्तो विलासिनीसार्थैर्भुङ्क्ते भोगसुखान्यसौ ॥४॥

अन्यदा प्रावृषः, प्राप्तौ, मेघाडम्बरमण्डितम् ।

व्योम दृष्ट्वा ध्वनिं श्रुत्वा, मेघानां स मनोहरम् ॥५॥

जातोत्कण्ठो दृढ जातो—ऽरण्यवासगमं प्रति ।

विसर्जितश्च राज्ञाऽपि, प्राप्तोऽरण्यमसौ ततः ॥६॥

पृच्छन्त्यरण्यवासास्त, नगरं तातः । कीदृशम् ? ।

स स्वभावान् पुरं सर्वान्, जानात्येव हि केवलम् ॥७॥

न शब्दात् तका (तरा) तेषां, गदितुं स कृतोद्यमः ।

वने वनेचराणां हि, नास्ति सिद्धोपमा यतः (तथा) ॥८॥

भावार्थ— एक स्लेच्छ किसी महारण्य में रहता था । राजा वृष्ट अश्व के द्वारा वहाँ पहुँच गया ॥१॥ उस स्लेच्छ ने राजा को देखा और उसका यथोचित सत्कार किया । जब वह स्वदेश को लौटा तो उसे भी साथ ले गया ॥२॥ राजा ने अपना उपकारी जानकर, उसे विशिष्ट भोग-साधन दिये और उसे जन-पूजित बनाया ॥३॥ उसने प्रासाद-शिखरों पर और रम्य वगीचों में विलासिनियों से घिरे रहकर, भोगसुखों को भोगा ॥४॥ वर्षा ऋतु आई । वादलो से गगन मण्डित हो गया । वह आकाश को देखकर और मनोहर मेघध्वनि को सुनकर, अरण्य में जाने के लिये उत्सुक हुआ । राजा ने भी उसे विसर्जित किया और वह जंगल में गया ॥५॥६॥ जंगलनिवासी उसे पूछते हैं—'तात ! नगर कैसा है ?' वह पुर के सभी स्वभावों को जानता है ही । किन्तु उद्यम करने पर भी, वह वन में वनचरो को कहने में समर्थ नहीं हो सका । ऐसे ही सिद्ध की उपमा भी नहीं है ॥७॥८॥ —टीकोद्धृत श्लोक और उनका आशय ।

जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तण भोयणं कोइ ।

तएहा-छुहा-विमुक्को, अन्हेज्ज जहा अमियत्तित्तो ॥१८॥

जैसे कि—कोई पुरुष सभी इच्छित गुणों से युक्त भोजन को करके, भूख-प्यास से रहित होकर, जैसे अमित तृप्त (=विषयो की प्राप्ति हो जाने से, उत्सुकता की निवृत्ति से उत्पन्न प्रसन्नता से युक्त) हो जाता है ।

इय सव्वकालत्तित्ता, अतुलं निव्वाणमुवगया सिद्धा ।

सासय मव्वावाहं, चिट्ठति सुही सुहं पत्ता ॥१९॥

वैसे ही सर्वकाल तृप्त, अतुल शान्ति को प्राप्त सिद्ध

शाश्वत और अव्याबाध सुख को प्राप्त होकर—मुखी होकर स्थित रहते हैं ।

टिप्पण—वहाँ केवल दुःख की निवृत्ति मात्र ही है—ऐसी बात नहीं है । किन्तु वहाँ सुखानुभव भी है । यही इस गायी में प्रतिपादित हुआ है ।

सिद्धति य, बुद्धति य, पारगयति य परंपरगयति ।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य ॥२०॥

वे सिद्ध (=कृतकृत्य) हैं । बुद्ध (=केवलज्ञान से सम्पूर्ण विश्व को जाननेवाले) हैं । पारगत (=भव-सागर से पार पहुँचे हुए) हैं । परम्परागत (=क्रम मे प्राप्त मुक्ति के उपायो के द्वारा पार पहुँचे हुए) हैं । उन्मुक्त कर्म कवच (=समस्त कर्मों से मुक्त) हैं । अजर (=बृढापे से रहित) हैं । अमर (मरण से रहित) हैं और असंग (सभी क्लेशो से रहित) हैं ।

गिच्छिण्ण-सव्व-दुक्खा, जाइजरा मरणवंधणविमुक्का ।
अव्वावाहं सुखं, अणुहोति सासयं सिद्धा ॥२१॥

सिद्ध, सभी दुःखो से परे होकर, जन्म, जग, मरण और बन्धन से मुक्त होकर, अव्याबाध शाश्वत् सुख का अनुभव करते हैं ।

अतुलसुहसागरगया, अव्वावाहं अणोवमं पत्ता ।
सव्वमणागयमद्धं, चिद्धंती सुही सुहं पत्ता ॥२२॥

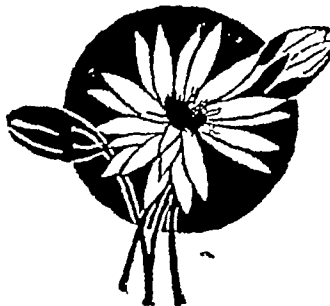
बाधा-पीडा से रहित अनूपम अवस्था को प्राप्त होकर

समस्त अनागत काल मन्त्रन्धी मुख को पाकर और अतुल सुख-सागर में लीन बनकर वे मुखी आत्मा स्थित रहते हैं । अर्थात् विभाव-वेदन (=बाधा) का आत्यन्तिक अभाव हुआ, अतः स्व-द्रव्य के सिवाय अन्यत्र दुर्लभ है ऐसी अवस्था (=अनुपम) प्राप्त हुई । किन्तु विभाव-वेदन का अभाव होने पर, वेदनमात्र का अभाव नहीं होता है—स्वभाव-वेदन का अस्तित्व (=मुहूर्ति) रहता है । वह स्वभाव-वेदन क्षणिक नहीं, किन्तु समस्त अनागत काल में स्थित रहता है । अतः वहाँ आत्मा आनन्द-घन हो जाता है ।

इइ उववाइयसुत्तं समत्तं ।

शुभं भूयात्

भाद्रपद कृष्णा ५ सं. २०१६ रविवार, वर्षावास-सैलाना



परिशेष :---

(१)

‘उववाइय’ सुक्त के विषय का अन्यत्र वर्णनः--

तपोवर्णन-

विवाहपण्णत्ती स २५, उ ७। स १३, उ. ८ आदि।

उत्तरज्जयण सुक्त अ० ३०

ठाणग सुक्त-विभिन्न ‘ठाणो’ में, यथा-ध्यान वर्णन

ठा. ४ उ १

‘मणविणय’ आदि तपो का वर्णन ठा ७ आदि।

समवायग-सम. १२।

चारगति के कारणो का वर्णन-

ठाणग ठा. ४, उ ४।

अम्बड और अम्बड के शिष्य-

विवाहपण्णत्ती स. १४, उ. ८

निहन्व-

ठाणंग ठा. ७ ।

परलोक के आराधक-विगधक-

विवाहपण्णत्ती स. १, उ. २ ।

योग-निरोध और 'अफुममाणगई'

-उत्तरज्झयण सुत्त २६ अ० ।

सिद्ध-स्तवना

-उत्तरज्झयणसुत्त अ० ३६

(२)

वर्णन भेद

विवाहपण्णत्ती स. १३, उ. ८ में 'पंडियमरण' के भेद बताते हुए, 'आवकहिय' अनशन के 'पाओवगमण' और 'भत्त-पच्चक्खाण'-इन दो भेदों के 'णोहारिमे य अणीहारिमे य'-ये दो भेद किये गये हैं,

उत्तरज्झयण ३० वें अ० में 'सवियार' और 'अवियार' ये दो भेद किये गये हैं और 'नीहारि' और 'अनीहारि'-ये भेद भी गिनाये गये हैं ।-गा. १२।१३ 'अवमोदरिया' तप के वर्णन में भी भेद है ।-उ० ३०। १४ से २४ गा० ।

'मणविणय' तप का वर्णन ठाणगसुत्त ठा. ७ में इस प्रकार हुआ है-

पसत्थ मणविणए सत्तविहे प० त.-अपावए, असावज्जे,
अकिरिए, निरुवक्केसे, अण्हयकरे, अच्छविकरे, अभूया-
भिसकणे । अपसत्थमणविणए सत्तविहे प० त-पावए, सावज्जे,
किरिए, उवक्केसे, अण्हयकरे, छविकरे, भूयाभिसकणे ।

‘विवाहपण्णत्ती’ स २५, उ. ७ में वर्णन भेद-

‘मन योगप्रतिसंलीनता’ में इतना विशेष है-‘मणस्स
एगत्तीभावकरण’ । इसी प्रकार वचन यो० में भी-‘वईए वि.. ।
काययोग प्रति० में भी कुछ शाब्दिक अन्तर है ।

‘मणविणय’-

से कि त मणविणए ?-पसत्थमणविणए य अपसत्थ
मणविणए य । से कि त पसत्थमण.. ?-सत्तविहे प. त.-अपावए,
असावज्जे, अकिरिए, णिरुवक्कमे, अ ..

अपसत्थ म० सत्तविहे प० त -पावए, सावज्जे, सकिरिए,
सउवक्कोसे, अण्हयकरे, छविकरे, भूताभिसकणे । से त अ.. ।

ध्यानवर्णन में ‘ठाणग’ गत भेद-

आर्तध्यान के लक्षण में ‘विलवणया’ की जगह ‘परिदे-
वणया’ ।

धर्मध्यान के लक्षण में क्रमभेद और ‘उवएसरुई’ के
स्थान पर ‘ओगाढरुई’ ।

धर्मध्यान के आलम्बन में ‘घम्मकहा’ के स्थान पर
‘अणुप्पेहा’ ।

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षा में क्रमभेद ।

शुक्लध्यान के भेदों में—'सुदृढमकिरिए अप्पडिवाई' के स्थान पर 'सुदृढमकिरिते अणियट्टी' और 'सुमुच्छिन्नकिरिए अणियट्टी' के स्थान पर 'ममकिरिय अप्पडिवाती' ।

शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षा में क्रमभेद ।

—ठाणग । ४ । १

तिर्यञ्चगति के बन्ध के कारणों में 'उक्कंचणयाए वचणयाए' के स्थान पर 'कूडतोलकूडमाणेण' ।—ठा ४ । ४ ।

(३)

‘उत्रवाह्य’ के विषय में विभिन्न दृष्टियाँ

बाह्य दृष्टियाँ—

(१) भाषा-गत

(२) शैली-गत

(३) इतिहास गत

(अ) तत्कालीन नागरिक सभ्यता

(आ) ,, शासक की स्थिति

(इ) ,, शासन की स्थिति

(ई) ,, धार्मिक स्थिति

(उ) ,, व्यायाम-अभ्यंगनादि शरीर

शास्त्र से सम्बन्धित पद्धतियाँ

- (ऊ) तत्कालीन वस्त्र-अलङ्कार
 (ए) ,, शिक्षण-पद्धति
 (ऐ) ,, विद्या-वैभव
 (ओ) ,, सामाजिक दृष्टि
 (औ) ,, उद्यान, वास्तु आदि से सत्रवित
 कलाएँ ।
 (अ) ,, दार्शनिक मत-भेद आदि ।

आभ्यन्तर दृष्टियाँ-

- (१) ध्यान-पद्धति का प्रयोगात्मक शास्त्र
 (२) देव, गुरु और धर्म की व्याख्या
 (३) अन्तर-वृत्तियों का विश्लेषण आदि ।



सं० रक्षक संघ के प्रकाशन—

१. श्री स्यगडांग सूत्र मूल पाठ भावार्थ सहित, मू० १) रु०
अप्राप्य
२. श्री दशवैकालिक सूत्र मूल्य ०-५० "
३. श्री उत्तराध्ययन सूत्र मूल और हिन्दी भावार्थ युक्त
मूल्य २-००
४. श्री सुखविपाक " " " ०-२०
५. श्री नन्दी सूत्र " " " १-००
६. श्री मोक्ष मार्ग " " " ५-००
७. स्त्री प्रधान धर्म " " " ०-२५
८. सामायिक सूत्र " " " ०-०६
९. प्रतिक्रमण सूत्र " " " ०-१७
१०. आत्म साधना संग्रह " " " १-२५
११. अंतगड सूत्र द्वितीय आवृत्ति छप रही है ।

—: सम्यग्दर्शन :—

अ भारतीय श्रीसाधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ के मुख-पत्र 'सम्यग्दर्शन' के ग्राहक बने । निर्ग्रन्थ सस्कृति के प्रचारक, जैन तत्व ज्ञान के प्रकाशक और विकृति के अवरोधक, इस पत्र को अवश्य पढें । आपके सम्यग्ज्ञान मे वृद्धि होगी । आप सस्कार और विकार का भेद जान सकेगे । वार्षिक मूल्य केवल ६)

संघ

के

आगामी **सूत्र** प्रकाशन

उववाइय सूत्र छपने के बाद अंतगढ़ सूत्र की दूसरी आवृत्ति छप रही है। इसके बाद भगवती सूत्र का मुद्रण प्रारंभ किया जायगा।



